।। नमो राघवाय।।

श्रीः

पुरोवाक्

राधामुखाम्भोरुहचंचरीको राधाधरोत्सेधुविमत्तचित्तः।
राधाकुचप्रार्पितचारुहस्तो राधाधवो मावतु माधवो मे।।

जीवन के कुछ ऐसे क्षण होते हैं जो कभी भुलाये नहीं जा पाते। उनकी स्मृतियाँ ही प्रेरणा की अमृत पाथेय बन जाती हैं और उन्हीं से संभावनात्मक सर्जना के दिव्य द्वार स्वयं उद्घाटित हो जाते हैं। मेरे जीवन में भी बीच पच्चीस क्षण ऐसे ही आए जिनके सुफलरूप में प्रस्तुत हो रहा है ''रासपंचाध्यायी विमर्श'' नाम का मेरा यह प्रबन्ध ग्रन्थ। 3 अक्टूबर 1984 की शरद् पूर्णिमा को मैं श्रीविहारीजी के दर्शनार्थ श्रीवृन्दावन गया, वहाँ रात्रि में रासलीला के दर्शन करके 10 अक्टूबर की प्रातः बीसवीं शताब्दी के भागवत के अप्रतिम विद्वान परमभावुक परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रद्धेय श्री अखण्डानन्द सरस्वती के दर्शन करने मैं आनन्द वृन्दावन आश्रम गया। वहीं मैंने अपना संकल्प व्यक्त करते हुए स्वामी जी के चरणों में संस्कृत भाषा में निवेदन किया, ''अहं रासपंचाध्यायीं अधिकृत्य किमपि पुस्तकं लेखितुमिच्छामि'' स्वामी जी ने अनुमोदन करते हुए अपने स्वाभाविक चीर परिचित शैली में कहा, ''साधु! लेखन्तु यदि भविष्यामस्तदा अभिनन्दयिष्यामः''। यद्यपि आज स्वामी जी पार्थिव शरीर से हमारे बीच नहीं हैं, पर अपने चिन्मय शरीर से तो वे हमारे बीच हैं ही। और मेरे इस ग्रन्थ का अभिनन्दन भी कर रहे हैं।

इसके पूर्व मैं अध्ययनार्थ जब से वाराणसी आया तभी से अभिनव शंकराचार्य धर्मसम्राट अदूष्य वैदुष्य संपन्न यतिचक्रचूड़ामणि श्री श्री 1008 श्री हरिहरानन्द सरस्वती श्री करपात्री जी के सम्पर्क में आ गया था। मैंने 1972 से 1980 पर्यन्त स्वामी करपात्री जी के प्रत्येक चातुर्मास में उनके सत्संगावृत का लाभ लिया। रासपंचाध्यायी स्वामी करपात्री जी का बहुत प्रिय वक्तव्य था। प्रत्येक चातुर्मास में घूम–फिरकर स्वामी जी वहीं रम जाते थे। उनके वक्तव्य में पूर्वाचार्यों की संस्कृत टीकाओं का बहुत समन्वयात्मक आनन्द मिलता था। इस प्रकार नौ चातुर्मास पर्यन्त श्रीरासपंचाध्यायी पर श्री करपात्री जी महाराज को श्रवण करके मेरे मन में भी श्रीरासपंचाध्यायी के प्रति अगाध श्रद्धा और भावनात्मक अनुरक्त उत्पन्न हो गई और इधर श्री अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज की प्रेरणा। इन दोनों ने मिलकर अन्ततोगत्वा मुझसे इस ग्रन्थ की रचना करा ही दी। मैं इन युगल भगवद् विभूतियों के प्रति सश्रद्ध नमन करता हूँ।

रासपंचाध्यायी का विमर्श करते समय मैंने पूर्व टीकाओं की सहायता अवश्य ली है, पर दाल में नमक जैसी। इसमें श्रीहरिगुरु वैष्णवों की सत् प्रेरणा से अपनी ही प्रतिभा कुसुमांजली से मैंने शास्त्रीय भगवत् समर्चन प्रस्तुत किया है। प्रयास यही किया है कि एक सुपरिचित सिद्धान्त जनता जनार्दन के समक्ष उपस्थित हो और इस रासलीला को इक्कीसवीं शताब्दी के लोग राष्ट्रलीला के रूप में देखें। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है इसका मूल्यांकन तो इक्कीसवीं शती के जनता जनार्दन ही करेंगे। पर इतना तो मैं विश्वासपूर्वक कह रहा हूँ कि इस प्रबन्ध में मैंने एक भी वाक्य शास्त्र से विरुद्ध नहीं लिखा है। यहाँ ''सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते'' की सारणी अपनाई है। जैसे चीरहरण प्रसंग में मैंनें यह सिद्ध किया है कि गोपियाँ निर्वस्त्र होकर यमुना जी में स्नान नहीं कर रही थीं। इसी प्रकार ''अनंगवर्धनम्'' ''पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य'' ''उत्तंभयन् रतिपतिं'' आदि संवेदनशील

शब्दों को मैंने अश्रुतपूर्व नवीन किन्तु शास्त्रसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है। मेरे इस नवीन किन्तु शास्त्र सम्मत प्रयास से यदि किसी को ठेस पहुँचती हो तो मैं क्षमा नहीं माँगूगा। क्योंकि मैंने कोई अपराध नहीं किया है। मेरा यह मानना है कि प्राचीन टीकाकार ही सब कुछ अच्छा कहते हैं, नये लोग अपलाप ही करते हैं यह धारणा वास्तविकता से बहुत दूर है। ''बालादपि सुभाषितं ग्राह्यं'' कभी–कभी बालक भी अच्छा कहते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि सुधिजन मेरी इस पुस्तक में निहित नवीन विचारों को गंभीरतापूर्वक पढ़ेंगे और चिन्तन करेंगे।

इस पुस्तक के प्रणयन में मेरी अग्रजा आप सबकी बुआ जी डॉ0 कुमारी गीतादेवी मिश्रा, ''सचिव'' कुलाधिपति जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश का अनर्घ्य योगदान कभी भी भुलाये नहीं जा सकेगा। आपने मेरे सभी प्रशासनिक, सामाजिक, साहित्यिक उत्तरदायित्वों का अपने स्कन्ध पर निर्वहण करते हुए मुझे ऐकान्तिक चिन्तन का पूर्ण समय उपलब्ध कराया। मैं उनका आजीवन आधमर्ण्य स्वीकारता हूँ। मैं अपने सुयोग्य और विनम्र अन्तेवासी आयुष्मान् चन्द्रदत्त सुवेदी को अनेक आशीर्वाद दे रहा हूँ जिन्होंने बड़े परिश्रम और निष्ठा से इस लेख में लिपि संशोधन की भूमिका निभाई। मैं अपने सुयोग्य शिष्य अशोक अग्रवाल 'अध्यक्ष' प्रभात प्रिन्टिंग प्रेस मथुरा को मंगलाशासन देता हूँ, जिन्होंने मेरी इच्छा का पालन करते हुए इस पुस्तक को अपने प्रेस में अपने ही धन से मुद्रित कराया। व्रज की गाथा व्रज में छपे मेरी इस इच्छा का पालन अशोक जी और उनके भ्राताओं सुरेश जी, उमेश जी, राजेश जी, राकेश जी ने किया है। भगवान् श्रीराधागोविन्द जी पाँचों अग्रावाल बन्धुओं को सपरिवार प्रसन्न रखें।

अन्त में मैं यह पुस्तक मैं अपनी भाभी माँ महारासेश्वरी श्रीराधारानी जू के चरणकमलों में समर्पित कर देता हूँ।

रासलीला विमर्शोऽयं महारासरसांकितः।
श्रीरामभद्राचार्येण राधा देव्यै समर्प्यते।।

रासपंचाध्यायी विमर्शः

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय श्रीसीतायाः पतये नमः।।१।।

कृष्णाय कृष्णचन्द्राय कृष्णदेवाय शात्वते।
यदुनाथाय नाथाय श्रीराधायाः पतये नमः।।२।।

नमस्याम शुकाचार्यं वासिष्ठं व्याससम्भवम्।
पिबामो यन्मुखाम्भोजच्युतं भागवतामृतम्।।३।।

श्रीसीतानाथ समारम्भां श्रीरामानन्दार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे श्रीगुरुपरम्पराम्।।४।।

वांछाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिंधुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।५।।

शुकाचार्य के पदकमल बार बार शिर नाय।
कहउँ रास लीला मुदित सरस रहस्य सुहाय।।६।।

परिपूर्णतम परात्पर परब्रह्म भगवान श्रीसीताराम जी की कृपा तथा परम परमेश्वर, सर्व सर्वेश्वर योगेश्वर रासबिहारी श्रीराधाकृष्ण भगवान की अनुकम्पा से आज हम एक ऐसे चरित्र की चर्चा करने जा रहे हैं जिस पर प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि शतसः संदेह बने रहे हैं। कहते सभी हैं पर निःसंदिग्ध कोई नहीं कहना चाहता और न कोई कहने का साहस करता है। सनातन धर्म की एक विडम्बना भी यही है कि लोग वास्तविकता के लिए न तो साहस जुटा पाते हैं और न ही वास्तविकता की जिज्ञासा कर पाते हैं। इसलिए बहुत से सिद्धान्त पुस्तकों में तिरोहित ही रह जाते हैं। पहले की अपेक्षा आज की परिस्थिति बहुत ही विचित्र परिवेश में परिवर्तित हो गई है। पहले प्रायशः अन्धविश्वास से काम चला लिया जाता था और यह कह दिया जाता था कि **''हेतु प्रस्टातु नास्तिकः''** हेतु पूछनेवाला नास्तिक होता है, पर शास्त्रों में हेतु नहीं पूछना चाहिए वहाँ क्यों? कैसे? क्या? कब? कहाँ से? किसलिए इत्यादि प्रश्नों की न तो कोई उपयोगिता है और न ही कोई आवश्यकता। इस भय के कारण सामान्य व्यक्ति या तो दब जाता था या अपनी भावनाओं को दबाकर उन्हें समाप्त कर देता था। तर्क की शक्ति समाप्त हो गई और लगता यही है कि इन्हीं कारणों से इस पवित्र अजेय भारत देश को लगभग दो हजार वर्षों पर्यन्त दासता देखनी पड़ी। दो हजार वर्षपर्यन्त परतंत्रता की श्रृंखला में रहना पड़ा किन्तु अब युग बदल चुका है, परिस्थितियाँ भिन्न हो गई हैं, चिन्तन भिन्न हो गया है। एक ओर भौतिकता का बोलबाला है तो दूसरी ओर कम्प्यूटरीकरण का एक अभूतपूर्व प्रभाव। आज का बालक भी तो जन्म लेते ही कम्प्यूटराइज्ड हो जाता है, कम्प्यूटरीकृत हो जाता है। इसलिए अब **''हेतु प्रस्टातु नास्तिकः''** की बहुत उपयोगिता नहीं रह गई है। यद्यपि यह उपयोगिता पहले भी बहुत नहीं थी। वहाँ **''हेतु प्रस्टातु नास्तिकः''** का इतना ही तात्पर्य था कि वेदमंत्रों में बहुत कुतर्क नहीं करना चाहिए। पर इसका यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि सुतर्कों से भी मुख मोड़ लिया जाए, क्योंकि इस सिद्धान्त के समाधान के लिए मनु ने दोनों बातें कही है। पहले

कह दिया यह **"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः"** अर्थात् जो तर्कों अर्थात् जिज्ञासाओं के साथ धर्म का अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है दूसरे नहीं, परन्तु उस तर्क में भी उनको बहुत स्वतंत्रता उच्छृंखलता अभीष्ट नहीं है। हमारी भारतीय मानसिकता की एक सबसे बड़ी विशेषता रही है कि हम स्वतंत्रता चाहते हैं पर स्वच्छन्दता नहीं, क्योंकि स्वतंत्रता मनुष्य का अधिकार है और स्वच्छन्दता पशु का धर्म है। स्वच्छन्द तो वही हो सकता है जो शरीरधर्म से उठ जाये, जैसे मुनिगण, जैसे परमेश्वर भगवान्। हम न तो ऋषि हैं और न ही भगवान्, हम मनुष्य हैं एक मध्यमवर्गीय प्राणी हैं। अतः हमारी परिस्थिति में स्वतन्त्रता ही उपयोगी होगी स्वच्छन्दता नहीं। स्वतन्त्रता का अर्थ होता है अपने तन्त्र के अनुसार कार्यपद्धति का निर्धारण। 'स्व' का अर्थ है आत्मीय और हमारे आत्मीय हैं भगवान्। उनका तन्त्र है वेद और वेदानुमोदित स्मृतियाँ तथा पुराण और अन्य वैदिक साहित्य। इसलिए हम स्वतन्त्रता से विचार करने जा रहे हैं स्वच्छन्दता से नहीं और न ही हम किसी को भी स्वच्छन्दता से विचार करने की अनुमति देंगे। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि यह एक आधिकारिक वक्तव्य है। यह कोई ऐसा–वैसा वक्तव्य नहीं है। किसी अनुत्तरदायी वक्ता का वक्तव्य नहीं है। यह जगद्‌गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य का वक्तव्य है। जिसमें निष्पक्ष वैज्ञानिकपद्धति और एक प्रातिभ परिवेश में सनातन धर्म की व्याख्या की जायेगी और यह व्याख्या एक उत्तरदायी व्यक्ति के द्वारा की जायेगी और इसका एक–एक शब्द शास्त्र–सम्मत होगा और प्रत्येक सिद्धान्त पर मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा, इसलिए इस वक्तव्य को निःस्संदेह और निर्भ्रान्त रूप से सुनना चाहिए। यह कहा जा चुका है कि सनातन धर्म का जो मूल सिद्धान्त है उसके स्रोत हैं भगवान् वेद और वेदों को सनातनधर्मी मानस अपौरुषेय मानता है। इन्हें किसी पुरुष ने नहीं बनाया। ये परमात्मा भगवान् श्रीसीताराम जी के और श्रीसीतारामाभिन्न भगवान् श्रीराधाकृष्ण जी के निश्वासभूत हैं, उनके स्वाभाविक श्वास हैं वेद। इसलिए श्रीरामचरितमानस में श्रीहुलसीहर्षवर्धन गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी यह सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर लिया कि वेद भगवान के निश्वास हैं।

जाकी सहज श्वास श्रुति चारी।
सोइ हरि पढ़ यह कौतुक भारी।। मानस १/२०४/५

और यह बात उपनिषदों में भी कही गई है। **यस्य निःश्वसितमेतत् ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदश्च।** वेद भगवान् के निश्वास हैं। निश्वास का तात्पर्य यह है कि जैसे किसी की भी सत्ता का अनुमान उसके श्वास के आधार पर होता है। सामान्य भाषा में कहा जाता है कि जब तक श्वास चलता है तब तक व्यक्ति जीता है। श्वास बन्द होने पर व्यक्ति को मरा हुआ समझ लेना चाहिए, इसी प्रकार श्वासरूप वेद ही परमात्मा की सत्ता की प्रमाण में परम प्रमाण हैं। क्या प्रमाण है परमात्मा हैं? उत्तर हुआ वेद। जैसे श्वास से हम किसी व्यक्ति की सत्ता का निश्चय करते हैं, वैसे ही भगवान् वेद परमात्मा की सार्वकालिक सत्ता का निश्चय करते हैं। अतएव यदि वेद ही हमारे परम प्रमाणिक हैं और गोस्वामी जी ने तो डिम–डिम घोष करते हुये कहा कि वेद की महिमा अतुलनीय है औरों की बात को छोड़ो यदि भगवान भी वेद के विरूद्ध कुछ कहना चाहते हों तो सनातनधर्मी उन्हें नहीं स्वीकारेगा, जैसे बुद्धावतार को हमने माना पर बुद्ध की बात हमें इसलिए मान्य नहीं हुई क्योंकि वह वेद के विरूद्ध थी। आज भगवान बुद्ध की पूर्णिमा है और आज ही हम इस वक्तव्य का प्रारम्भ कर रहे हैं। हम भगवान बुद्ध को प्रणाम करते हैं, भगावन् बुद्ध को मानते हैं, पर भगवान बुद्ध की बात मानने में हमें इसलिए संकोच होता है कि वे कहीं–कहीं

वेद के विरूद्ध कुछ कहना चाहते हैं। यहाँ यह बात सुगमता से समझ लेनी चाहिए कि वैदिक भारतीय मानस मातृपक्षीय है। हम पिता की अपेक्षा माता को श्रेष्ठ मानते हैं और पिता की सत्ता में हम माता को ही परम प्रमाण मानते हैं और माता की सत्ता की प्रमाणिकता की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि **'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'** अर्थात् प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए श्रुति की सत्ता में हमें कोई सन्देह नहीं है। परमात्मा की सत्ता का परम प्रमाणभूत सिद्धान्त समझाती है हमारी श्रुति माता। प्रायशः पिता माता पर अत्याचार करता है तो पुत्र माता का पक्ष लेता है, पिता का नहीं ठीक यही बात यहाँ भी है कि जब भगवान् किसी भी कारण से यदि श्रुति की बात नहीं मानना चाहेंगे तो हम भगवान् का पक्ष न लेकर भगवती श्रुति, अपनी माता का पक्ष लेंगे और लिया भी। बुद्ध से कह दिया कि ठीक है आप यदि हमारी माँ की निन्दा कर रहें हैं तो हम आपको यहाँ से विदा देना चाहते हैं, जाइये जहाँ जाते बने। भिन्न–भिन्न स्थान पर करिये प्रचार। हम आपकी दयालुता को मानते हैं, परन्तु वेद विरूद्ध वक्तव्य को कदापि हम नहीं मानेंगे। इसीलिए दोहावलि में गोस्वामी जी ने कहा–

अतुलित महिमा वेद की तुलसी कीन्ह विचार।
जो निंदत निंदित भए विदित बुद्ध अवतार।।

अतएव उन्हीं वेद को समझाने के लिए प्रकट हुये हैं साक्षात् वेद कल्पवृक्ष के फलरूप में श्रीमद्वेदव्यास एवं शुकाचार्य जी को माध्यम बनाकर श्रीमद्भागवत भगवान्। इसलिए भागवत् जी के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के तृतीय श्लोक में आशीर्वादात्मक मंगलाचरण करते हुये वेदव्यास जी भगवान् ने हम सनातन धर्मावलम्बीजनों को आज्ञा दी कि, अरे भावुक रसिकों! अपना सौभाग्य तो देखो एक सुन्दर आम का फल तुम सबके सामने आकर उपस्थित हो गया है। वह किसका फल है, कल्पवृक्ष का। कौन सा कल्पवृक्ष? वेदरूप कल्पवृक्ष। उसमें बहुत मधुर स्वाद है। उसका स्वाद तो अमृत को भी फिका कर देता है क्योंकि वह शुकाचार्य रूप तोते की मुखारविन्द के निश्यन्दभूत परमानन्द श्रीकृष्ण प्रेमरस से सम्पूर्ण है। इसको पियो, क्योंकि पृथ्वी पर गिर करके भी यह फल विकृत नहीं हुआ, फूटा नहीं, इसमें पृथ्वी की धूल नहीं लगी। ये फल भी है और रस भी। फल इसलिए कि इसका एक आकार है और रस इसलिए है कि इसमें अन्य फलों की भाँति गुठली नहीं है। अन्य फलों की भाँति इसमें छिलका नहीं है। इसीलिए पीते जाओ–पीते जाओ, तब तक पियो जब तक भगवान् श्रीराधाकृष्ण के चरणों में विलीन न हो जाओ। बारम्बार पियो तुम्हें कोई मना नहीं करेगा। यहाँ 'पिबत' का प्रयोग कर रहे हैं और 'पिबत' पाणिनीय व्याकरण के अनुसार लोट् लकार के मध्यम पुरुष के बहुवचन का रूप है। ''यूयं पिबत'' तुम सब पीते जाओ–पीते जाओ, कितनी बार? 'मुहुः' बारम्बार पियो कोई आपत्ति नहीं है। 'आलयं' अपनी लय के पर्यन्त पियो, लय को व्याप्त करके पियो, लय की मर्यादा के साथ पियो, पीते जाओ, कोई नहीं रोकेगा। हम सबकी भाग्य की प्रशंसा करते हुये वेदव्यास जी 'अहो' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अहो! यह सौभाग्य और कहीं नहीं है। यह स्वर्ग में भी सौभाग्य नहीं है।

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुंचत कर्हिचित्।।

भा. मा. ६/८३

यह सत्यलोक में सौभाग्य नहीं है। वैकुण्ठ में यह सौभाग्य नहीं प्राप्त है। यह सौभाग्य तो इस भूतल पर, इसमें भी भगवती भारत माता की गोद में प्राप्त है। इससे इस

सौभाग्य को मत जाने दो। उन्होंने द्रुत विलम्बित छन्द में आशीर्वाद देते हुये कहा, **"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भूविभावुका।"** यह भागवत है आम का फल पर आम ही तो राम है। 'राम' शब्द के ही अक्षर आम में आते हैं। 'राम' शब्द अपने में बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य रूप से राम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की व्याख्या कर देता है। 'र' में र–अ, 'म' और अ ये चार अक्षर दिखते हैं। 'र' का अर्थ है ऋग्वेद, 'आ' का अर्थ है आहुतिप्रधान यजुर्वेद, 'म' का अर्थ है मधुरता प्रधान सामवेद और पुनः आ का अर्थ है अथर्ववेद। 'राम' सम्पूर्ण वेदमय हैं। 'राम' ब्रह्मा, विष्णु और शिवमय हैं और भारत के तो दो ही इतिहास हैं रामायण और महाभारत। 'रा' का अर्थ है रामायण और 'म' का अर्थ है महाभारत। भारत की संस्कृति गंगा–यमुनी संस्कृति है। एक संस्कृति के नायक हैं भगवान् श्रीराम और दूसरी संस्कृति के नायक हैं भगवान् श्रीकृष्ण। अतः 'रा' का अर्थ है राघव और 'म' का अर्थ है माधव। इसलिए हम श्रीरामकृष्णात्मक सनातन धर्म को प्रणाम करते हैं। भारतीय सिद्धान्त में श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों में ही कोई भेद नहीं स्वीकारा गया है। जो श्रीराम और श्रीकृष्ण में भेद स्वीकारते हैं वे निश्चित ही भारतीय संस्कृति का अपमान कर रहे हैं और भारतीय संस्कृति की हानि भी कर रहे हैं। इससे यहाँ यह बात कहनी मुझे बहुत आवश्यक प्रतीत होती है कि हम किसी भी मूल्य पर श्रीराम से श्रीकृष्ण को भिन्न नहीं मानते। इन दोनों में किसी को बड़ा–छोटा नहीं मानते। गोस्वामी जी ने कह दिया, **"को बड़ छोट कहत अपराधु।"** भगवान् श्रीराम ही श्रीकृष्ण हैं, भगवती श्रीसीता ही श्रीराधा हैं। एक ओर उनकी हाथ में धनुष–बाण है तो दूसरी ओर मुरली और सुदर्शन चक्र। एक ओर भगवती श्रीसीता जी विराज रही हैं, तो दूसरी और भगवती श्रीराधा। हाँ, इस अवतार में बहुत–सी स्त्रियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के साथ प्रेम करती हुयी दिखती हैं। भगवान् श्रीराम एक नारीव्रत मर्यादा के पालक हैं। वहाँ तो उनके साथ केवल भगवती श्रीसीता जी ही दिखेंगी, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के साथ ऐसा नहीं है, वे बहुपत्नीव्रत सिद्धान्त के पोषक हैं। अतएव, वहाँ पर यह आग्रह नहीं है, वस्तुतस्तु भगवती श्रीसीता जी की कायव्यूहभूत जो परछाइयाँ हैं वे ही यहाँ श्रीगोपियों के रूप में परिलक्षित होती हैं, क्योंकि भगवती श्रीसीता जी ही कृष्णावतार की राधा जी हैं। मिथिला में श्रीविवाह मण्डप में श्रीसीताराम जी की जो परछाइयाँ मणियों के खम्भों में विराज रही हैं वे ही श्रीकृष्णावतार में रासलीला में बहुत सी गोपियों और बहुत से श्रीकृष्णों के रूप में परिलक्षित होती हैं अर्थात् मूलरूप में श्रीकृष्ण एक हैं जो राधा जी के साथ हैं। परन्तु उन्होंने ही अपने प्रतिबिम्बों को गोपियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया। और यह बात स्वयं भागवतकार कहते हैं। श्रीरासपंचाध्यायी के विश्राम में भगवान् शुकाचार्य जी ने महाराज परीक्षित जी को आज्ञा देते हुये कहा–

"एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।।"

१०/३३/१७

अर्थात् हे महाराज परीक्षित! जिस प्रकार से छोटा–सा बालक अपने प्रतिबिम्बों अर्थात् अपनी परछाइयों के साथ विभ्रम अर्थात् भिन्न–भिन्न विलास करता है, जैसे वह अपनी परछाइयों को देखकर उनसे हँसता है, खेलता है, उन्हें पकड़ता है, उन्हें चूमता है, उसी प्रकार रमेश, रमा अर्थात् कृष्णरस की शक्ति भगवती श्रीराधा के ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्र अपने आलिंगनों, विलासों, हासों, स्नेहभरी चितवनों और स्वतन्त्र भिन्न–भिन्न भावों के साथ व्रजसुन्दरियों के साथ खेल रहे हैं। हमारी समस्या यह है कि हम भारतीय कभी–कभी वैदिक वाङ्मय के

साथ न्याय नहीं कर पाते। कुछ सोच नहीं पाते और न ही कुछ सोचने का मन में अभिलाष रखते हैं। हम अपने ही परिवेश के आधार पर भगवान् का आकलन कर लेते हैं यही हमारी भूल हो जाती है, जबकि ऐसा नहीं करना चाहिए। मनुष्य को अपनी मान्यता के आधार पर भगवान् का कभी आकलन नहीं करना चाहिए। भगवान् मनुष्य के परिवेश से ऊपर हैं। मनुष्य अथवा जीव इन्द्रियों के परतन्त्र है परन्तु भगवान इन्द्रियों के परतंत्र नहीं हैं। प्रत्युत् इन्द्रियाँ भगवान् के परतन्त्र हैं। मनुष्य इन्द्रियों के अधीन हैं पर भगवान् इन्द्रियों के अधीन नहीं हैं प्रत्युत् इन्द्रियाँ भगवान के अधीन हैं। इसीलिए भगवान को गोविन्द कहा जाता है। "**गाः विन्दति**" जो इन्द्रियों को सेविकाओं के रूप में स्वीकार करते हैं उन्हें गोविन्द कहते हैं। इन्द्रियाँ हमारी सेविका नहीं है जीव इन्द्रियों के सेवक हैं, परन्तु इन्द्रियाँ भगवान् की सेविका हैं। इसलिए श्रीरामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड में विभीषण कहते हैं कि भगवान् गौओं अर्थात् इन्द्रियों, ब्राह्मणों, धेनु अर्थात् गौओं और देवताओं का हित करने के लिए मनुष्य शरीर स्वीकार करते हैं–

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी।।

इसलिए हमको अपनी परिस्थितियों के आधार पर भगवान् का आकलन कभी नहीं करना चाहिए। भगवान् सबके ऊपर हैं, भगवान् शरीर नहीं हैं, भगवान् मन नहीं हैं, भगवान् बुद्धि नहीं हैं, भगवान् आत्मा भी नहीं हैं, भगवान् आत्मा से ऊपर हैं।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुर्द्धियोबुद्धे परतस्तु सः।।

गीता ३/४२

बुद्धि से परे है जीवात्मा और उससे भी यहाँ परतः लिखा और उससे भी परे हैं परमात्मा, इसलिए भगवान् सबसे ऊपर हैं। अतः भगवान के सम्बन्ध में उसी दृष्टिकोण से विचार करना पड़ेगा। हम यह कह रहे थे कि ये इन्द्रियाँ भगवान् की दासियाँ हैं, भगवान इनके वश में नहीं हो सकते और न ही इनके आधार पर भगवान् का कोई सिद्धान्त निर्मित होता है। भगवान् तो वही करते हैं जिससे उनके भक्त का अनुरन्जन होता है। भगवान् की लीलाएँ केवल हम जैसे प्राणियों के कल्याण के लिए होती है। इसलिए रासपंचाध्यायी की चर्चा करते हुए शुकाचार्य जी ने परीक्षित जी को सावधान किया, महाराज!

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।।

भा. १०/२९/१४

अर्थात् हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्ण में छहों ऐश्वर्य विराजते हैं। उनमें सम्पूर्ण ईश्वरता, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् लक्ष्मी और शोभा, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य ये छहों भगपदवाच्य गुण निरन्तर विराजमान रहते हैं। किसी भी समय किसी भी परिस्थिति में भगवान् की ईश्वरता समाप्त नहीं होती। किसी भी समय में भगवान् धर्म के विरूद्ध नहीं करते। किसी भी समय में भगवान् को यश नहीं छोड़ता। उन्हें मनुष्य जैसा अपयश कभी नहीं मिलता, किसी भी समय भगवान् शोभा से दूर नहीं होते और किसी भी समय भगवान् में अज्ञान नहीं आता और कभी भी भगवान् वैराग्य से विमुख नहीं होते। इसीलिए रासपंचाध्यायी का प्रारम्भ और रासपंचाध्यायी का विश्राम ये दोनों ही भगवान् शब्द से सम्पुटित हुये। प्रारम्भ और विश्राम में भगवान् शब्द का सम्पुट लगाकर ही रासपंचाध्यायी प्रस्तुत की गई अर्थात् उपक्रम और उपसंहार दोनों में ही भगवान् हैं और जैसे सम्पुट के दो

पल्लों के बीच शालिग्राम विराजते हैं, उसी प्रकार प्रारम्भ और विश्राम इन दोनों में भगवान् का सम्पुट लगाकर गोपियों के यश को शालिग्राम की भाँति वेदव्यास जी ने प्रस्तुत किया है। यदि श्रीकृष्ण भगवान् हैं तो यहाँ व्यर्थ की शंका उठाना ही बहुत बड़ा अपराध है और व्यर्थ का प्रलाप करना ये केवल अपने समय को नष्ट कर देना है। तर्क होना चाहिए परन्तु कुतर्क नहीं। इसलिए मनु ने कहा कि तर्क से धर्म का अनुसन्धान करो, परन्तु उसमें कुतर्क का कोई अवकाश नहीं है कोई अवसर नहीं है **''यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः''** परन्तु आगे कह दिया कि तर्क को स्वच्छन्द नहीं होना चाहिए **''वेदशास्त्राविरोधीयस्तर्कश्चक्षुपरस्यताम् यः तर्क वेदशास्त्राविरोधी स एव अपस्यताम चक्षु''** जो तर्क वेद और शास्त्र का अविरोधी हो जो वेद और शास्त्र के विरूद्ध न हो वही तर्क न देखनेवालों का नेत्र है। सामान्य सा सिद्धान्त है कि हरिद्वार में हरि की पैड़ी पर गंगा जी में स्नान करने की सभी को छूट है, करना चाहिए, परन्तु सिकरी पकड़कर। यदि सिकरी छूटी तो व्यक्ति गंगाजी में स्नान नहीं कर सकता वह तो बह जायेगा, समाप्त हो जायेगा। उसकी जीवनसरणी नष्ट हो जायेगी। वह कहीं का भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार भारतीय संस्कृतिरूप गंगा में स्नान करते समय वेदरूप सिकड़ी को पकड़कर रखना चाहिए इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए इससे बहने का खतरा नहीं रह जायेगा बहने की समस्या नहीं रहेगी, आशंका नहीं रहेगी। अतएव हम जो कुछ भी सनातन धर्म के सम्बन्ध में विचार करेंगे वहाँ वेद की प्रामाणिकता को पहले स्वीकार करना पड़ेगा। वेद के विरूद्ध हम न तो कुछ कह सकते हैं और न सुन सकते हैं। हमें कुछ भी अभीष्ट नहीं होगा वेद के विरूद्ध। अतएव रासपंचाध्यायी का प्रारम्भ ही भगवान् से हुआ है **''भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः''** और इस रासपंचाध्यायी का विश्राम भी भगवान् शब्द से हो रहा है **''भक्तिं हरौ भगवति प्रतिलभ्य कामं''** अर्थात् रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ में भगवान् शब्द प्रथमा के एकवचन में आया है और इस रासपंचाध्यायी के विश्राम में भगवान् शब्द सप्तमी के एकवचन में आया है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन के भगवान् कर्ता भी हैं और हमारे जीवन के भगवान् आधार भी हैं। **''आधारोऽधिकरणं''** पा. अ.१/४/४५. आधार को अधिकरण कहा जाता है व्याकरण में अधिकरण तीन प्रकार का होता है ''वैषयिक, अभिव्यापक और औपश्लेषिक''। इसका यही तात्पर्य है कि भगवान् हमारे जीवन में तीनों प्रकार के आधार हैं। भगवान् हमारे वैषयिक आधार भी हैं, भगावन् हमारे अभिव्यापक आधार भी हैं और भगवान् हमारे औपश्लेषिक आधार भी हैं। हम जहाँ भी रह रहे हैं भगवान् के आधार पर रह रहे हैं। वैषयिक, भगवान् के विषय में ही हम रह रहे हैं। भगवान् के समीप रह रहे हैं। भगवान् हमारे अभिव्यापक हैं जैसे तिल में तेल, जैसे दूध में घी उसी प्रकार हमारे कण–कण में भगवान् हैं। वो अभिव्यापक हैं जीव व्याप्य है भगवान् व्यापक हैं। भगवान् औपश्लेषिक आधार भी हैं अर्थात् औपश्लेषिक का तात्पर्य चिपके रहना। भगवान् हमसे चिपके हुये हैं, हमसे सटे हुये हैं, हमसे जुड़े हुये हैं, भगवान् हमसे दूर कहाँ हैं। हम भगवान् में हैं और भगवान् हममें हैं। इसीलिए रासपंचाध्यायी के प्रथम श्लोक में भगवान् शब्द कर्त्तारूप में प्रकट हुआ। और प्रस्तुत हुआ विश्राम में सप्तमी के एकवचन के रूप में भगवति भगवान् भगवति। अतएव रासपंचाध्यायी का विचार करते समय इस सिद्धान्त को कभी नहीं छोड़ना चाहिए कि जब भगवान् में छहों भग हैं तो ये अनीश्वरों की भाँति कैसे कार्य करेंगे? जब भगवान् का ऐश्वर्य कभी समाप्त ही नहीं होता तो भगवान् असमर्थ क्यों हो सकते हैं? क्योंकि कामी कभी समर्थ नहीं होता वो असमर्थ हो जाता है, इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा कामियों के सम्बन्ध में कि **''नारि विवश नर सकल गोसाईं। नाचइ नट मरकट की नाईं।।''** जैसे नट का वानर मदारी की इच्छा से नाचता है, उसी प्रकार

सामान्य जीव काम की इच्छा से नाचता है। परन्तु भगवान् कभी वानर की भाँति नाचते नहीं हैं। एक आश्चर्य ही तो है, भगवान् वानरों की भाँति नाचते नहीं हैं प्रत्युत् भगवान् वानरों को नचाते हैं। जैसे रामावतार में भगवान् स्वयं वानरों के चरवाहे बने **''भजे बिनु वानर के चरवाहें''** हम कभी–कभी विनोद में कहा करते हैं कि–

गौओं को चराना खेल भी है, किन्तु वानर को चराना खेल नहीं।
गिरिवर को उठाना खेल भी है, किन्तु गिरिधर को उठाना खेल नहीं।

इसलिए भगवान् काम के अधीन कभी नहीं होते क्योंकि काम के अधीन होता है अनीश्वर। ईश्वर का अर्थ है जो सब पर शासन करे। वे ब्रह्मा से लेकर कीटपर्यन्त जीव पर शासन करते हैं। भगवान कहते हैं–

''मद् भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्।।''

अर्थात् मेरे भय से वायु चलता है, मेरे भय से सूर्यनारायण नित्य तपते रहते हैं, मेरे भय से इन्द्र वर्षा करते हैं, मेरे भय से अग्नि में दाहकता रहती है। मेरे भय से मृत्यु भी इधर–उधर दौड़ता रहता है। इसलिए सबको भगवान् का डर है।

ईश रजाई शीश सबही के। उतपती थिति लय विषय अमी के।।''

सबके शिर पर ईश्वर की आज्ञा चलती है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, विष और अमृत सब पर भगवान का नियंत्रण है। देखिये तो, विष और अमृत दोनों पर भगवान् का नियंत्रण है। अमृत की वर्षा दोनों दलों पर एक समान हुई, रामदल पर भी अमृतवर्षा और रावणदल पर भी अमृतवर्षा, परन्तु उसपर भगवान् का नियंत्रण है। वही अमृत रामदल पर बरस कर वानरों को जिलाने में समर्थ हुआ, और राक्षसदल पर बरस कर भी उसे नहीं जिला पाया। यही तो भगवान का नियंत्रण है।

''सुधावृष्टि भइ दोउ दल ऊपर। जिये भालु कपि नहीं रजनीचर।।''

इसीलिए तो अमृत जयन्त को नहीं बचा पाया। सुधा हुई विष, और विष हनुमान जी को मार नहीं पा रहा है। माता सुरसा के मुख में हनुमान जी प्रवेश कर रहे हैं पर उनका एक बाल बाँका नहीं हुआ।

''बदन पैठि पुनि बाहेर आवा। मागा विदा ताहि शिर नावा।।''

देवता रक्षा करते रह गये सब लोगों ने रक्षा की पर क्या भगवान् श्रीकृष्ण से विरोध करके कोई बच पाया? कोई नहीं बचा। स्वर्गलोक तक को उन्होंने जीता और यहाँ भगवान् की इच्छा के विरूद्ध होने पर छोटे से गर्भ के बालक को भी अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र नहीं मार पाया। यही भगवान् की भगवत्ता है। अर्थात् भगवान् सब कुछ कर सकते हैं। **''कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वरः।''** उनकी इच्छा से ही जीव का जन्म होता है, उनकी इच्छा से पालन होता है, उनकी इच्छा से संहार हो जाता है। भगवान् क्षणभर में पर्वत को राई बना सकते हैं ओर राई को पर्वत बना सकते है। इसीलिए निरन्तर भगवान् की भगवत्ता का अनुसन्धान करते रहना चाहिए। भगवान् की भगवत्ता को नहीं भूलना चाहिए। जो इतना समर्थ है वह छोटे से काम के वश में होगा क्या? यह तो कहने में भी लज्जा लगनी चाहिए। भगवान् किसी भी मूल्य पर काम के वश में क्यों होंगे? भगवान् असमर्थ क्यों हो गये? इसलिए रासपंचाध्यायी भगवान् के यश का प्रतिपादन करती है और

श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी एक संकेत देती है कि ईश्वर की कृपा से व्यक्ति सब कुछ कर सकता है। प्रश्न है भगवान् इतनी गोपियों के साथ क्यों खेलते हैं? इसकी क्या आवश्यकता है? उत्तर बहुत स्पष्ट है– **''स एकाकी नारमत्''** कोई भी अकेले नहीं खेल सकता। खेलने के लिए तो साथी होना चाहिए तभी तो खेल होता है। यदि खेलने के लिए साथी हो तो उन्हीं के समान होना चाहिए, इसलिए भगवान् ने इन सम्पूर्ण जीवात्माओं को गोपीभाव में बनाया और कहा, चलो तुम हमारे साथ खेलो, आनन्द आयेगा। अब तक तो जीवात्मा काम के साथ खेल रहा था और अब जीवात्मा राम अथवा श्याम के साथ खेलेगा। राम में भी कोई आपत्ति नहीं है। **'रा'** माने राधा और **'म'** माने माधव। तो जीवात्मा को अब राम के साथ खेलना है काम के साथ नहीं। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा की अविच्छिन्न, निरुपद्रव, निर्दोष क्रीड़ा ही रासपंचाध्यायी है। अब जीवत्मा को परमात्मा के साथ खेलना है वो भी कब खेलना है? क्या दिन में? नहीं दिन में नहीं रात में। सामान्य व्यक्ति दिन में खेलता है, परन्तु परमात्मा रात में खेलते हैं, क्योंकि उनका सब कार्य जीवों से विलक्षण होता है। रात मे कौन जागता है? गोस्वामी जी के श्रीरामचरितमानस में श्री लक्ष्मण जी ने उत्तर दिया, **''यही जग जामिनी जागहीं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।''** इस जगत की मोहमयी रात मे योगी जागते हैं, परमारथी जागते हैं, जो प्रपंच के वियोगी अर्थात् प्रपंच से दूर रहते हैं वे जागते हैं। प्रपंची जीव नहीं जाग सकता। स्वार्थी नहीं जाग सकता और कुयोगी नहीं जाग सकता। इसलिए यहाँ जो भी श्रीकृष्ण भगवान् के साथ खेल रही हैं गोपियाँ उन्हें इन तीनों बातों का अनुसन्धान करना होगा, वे साधारण नहीं हैं, उनका योग पूर्ण हो चुका है इसलिए वे योगेश्वर के साथ आज खेलेंगी। उनका कोई स्वार्थ नहीं है, वे निःस्वार्थ हैं। उनमें परमार्थ पूर्णरूप से परिपक्व हो चुका है। इसलिए परमार्थ स्वरूप परमात्मा से आज गोपियाँ खेलेंगी, उनके जीवन मे अब कोई प्रपंच नहीं है, वे निष्प्रपंच हो चुकी हैं। प्रपंच का अर्थ है जहाँ पाँचो भूत प्रकर्श को प्राप्त कर लें। गोपियों के जीवन मे अब पृथ्वी की प्रबलता नहीं है। वे पृथ्वी से उठ चुकी हैं। उनमे जल की परतंत्रता नहीं है उनका व्यक्तित्व जल के ऊपर चला गया है। वे अग्नि के अधीन नहीं है, अग्नि से ऊपर उठ गई हैं, अग्नि अब उन्हें नहीं जला सकता। उन्हें वायु नहीं उड़ा सकता और वे आकाश से भी ऊपर हैं आकाश उन्हें अब अपने मे नहीं समेट सकता। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से तो यह शरीर बनता है। और गोपियाँ अब इस शरीर से ऊपर उठ चुकी हैं। **''क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम शरीरा।।''** गोपियाँ अब शरीर नहीं हैं, गोपियाँ अब मन नहीं हैं, गोपियाँ अब बुद्धि नहीं हैं, वे तो कह रही हैं,

> **''अहम् नो शरीरं न चैवेन्द्रियाणी**
> **मनोऽहं न चाहं न बुद्धिर्न चित्तम्।**
> **सदा कृष्णचन्द्रस्यदासोऽहमात्मा**
> **सदा माधवीयो जनोऽहम् जनोऽहम्।।''**

गोपियाँ कहती हैं कि हम तो भगवान की दासियाँ हैं **''श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।''** भा.१०/२२/१५. हम आपकी दासियाँ हैं। वे दास्य माँगती हैं वे कहती हैं कि हे बृजिनार्दन! हम आपको जानते हैं। लोग आपको जनार्दन कहते हैं पर हम आपको जनार्दन नहीं कहेंगी। भक्त भी कभी–कभी कुछ ऐसी बातें कह देता है जो बुद्धि से परे हो जाती है। जो किसी शब्दकोष मे नहीं मिलती। क्योंकि भक्त का शब्दकोष साधारण शब्दकोष से विलक्षण होता है। भक्त का शब्दकोष एक प्रेम का कोष है। सब लोग भगवान को जनार्दन कहते हैं गोपियाँ कहती हैं हम आपको जनार्दन नहीं कहेंगी। क्या कहोगी?

गोपियाँ कहती हैं हम आपको बृजिनार्दन कहेंगी। बृजिनार्दन कहोगी! जी हाँ, हम आपको बृजिनार्दन कहेंगी, जनार्दन नहीं कहेंगी, बृजिनार्दन कहेंगी। क्यों बृजिनार्दन कहोगी? बोलीं, जनार्दन का अर्थ "**जनानर्दयति**" जो दैत्य जनों को कुचल देता है। हमारी दृष्टि मे आप जीवों को नष्ट नहीं करते। फिर क्या करता हूँ मैं? गोपियाँ कहती हैं हमारी दृष्टि मे तो आप जीवों के पापों को मसल डालते हैं।

"तन्न प्रसीद बृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां
पुरुषभूषण देहि दास्यम्।।"

भा.१०/२६/३८.

गोपियाँ कहती हैं, हे बृजिनार्दन! आप हम पर प्रसन्न रहें। भगवान् ने कहा, बृजिनार्दन हमको क्यों कह रही हो? कहा, जनार्दन मे तो चार अक्षर हैं और आज आपके साथ हमारी पाँच प्रकार की क्रीड़ा होगी। आप हमसे पाँच प्रकार से खेलेंगे प्रभु। हमारी आत्मा से आप खेलेंगे, हमारे मन के साथ खेलेंगे, हमारी इन्द्रियों के साथ खेलेंगे, हमारी वाणी के साथ खेलेंगे और पुनः हमारे शरीर के साथ खेलेंगे। इसी दृष्टि से तो यहाँ पाँच अध्यायों का प्रस्ताव है। क्योंकि यहाँ भगवान का गोपियों के साथ पँचरमण है। यदि आप हमारे साथ पाँच प्रकार से खेलेंगे तो आपका नाम भी तो पाँच अक्षरों का होना चाहिए। अतः यहाँ जनार्दन संगत नहीं बृजिनार्दन संगत होगा। कैसा है गोपियों का आनन्द। गोपियों ने कहा, हमने अपने घरों को छोड़ दिया है, "**प्राप्ता विसृज्य वसतीः।**" क्यों छोड़ा अपने घरों को? कहा, इसलिए छोड़ा, "**त्वदुपासनाशाः**" हमको आपकी उपासना की आशा है। अब हम आपके समीप बैठना चाहती हैं। उपासना मे तो घर छूटता ही है। क्यों छोड़ा? क्या दोष था उनमें? बोलीं, "**त्वदुपासनाशाः**" क्योंकि वे घर आपकी उपासना को खा रहे थे, "**तव उपासनां अस्नन्ति इति त्वदुपासनाशाः**" इसलिए हमने अपना घर छोड़ दिया है। और अब क्या चाहती हो? बोलीं, "**त्वत्सुन्दरस्मित निरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां**" आपके सुन्दर चितवन और सुन्दर मुसकान को देखकर हमारे मन मे आपकी सेवा की तीव्र कामना हो गई है और यदि थोड़ा सा भी विलम्ब हुआ इस कामना की पूर्ति में तो हमारा शरीर जलभुन जायेगा। इसलिए हे पुरुषभूषण! हमको कुछ दीजिये। क्या दें? तो गोपियों ने कहा, "**दास्यं**" अपनी सेवा का सौभाग्य दीजिए। यही है रासपंचाध्यायी का आनन्द। ये जीवात्मा के साथ परमात्मा का खेल है। जीवात्मा के साथ परमात्मा की क्रीड़ा है और वो भी रात्रि में।

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।"

भगवान् गीता जी के द्वितीय अध्याय मे कहते हैं कि तुम समझते हो? जब सब लोग सोते हैं तो संयमी जागता है और यहाँ रात्रि में सब सो रहे हैं। सारा संसार सो रहा है, क्योंकि रासलीला का प्रारम्भ निशिथ मे हो रहा है। आज की भाषा मे बोलूँ तो बारह बजे लगभग हो रहा है। जब सब लोग सो रहे हैं तब भगवान् गोपियों के साथ खेल रहे हैं। कोई असंयमी ऐसा कृत्य नहीं कर सकता। अतः आज भी अभी भी भगवान् खेल रहे हैं। समस्या इस बात कि है जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि जब तक हमारे जीवन मे व्याकरण नहीं आ जाता अर्थात् जब तक हम शास्त्र को जीने का अभ्यास नहीं कर लेते तब तक हम वैदिक सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। अब यह दायित्व वक्ता का है जब तक वक्ता शास्त्र को नहीं जीता तब तक वह शास्त्र का सिद्धान्तपीयूष पिला भी नहीं सकता।

अतः वैदिक सिद्धान्त अमृत को पिलाने के लिए शास्त्र को जीना पड़ेगा। उसमे भी श्रीमद्भागवत साक्षात् निगमकल्पतरू का फल हैं। वेद कल्पवृक्ष का सुन्दरतम फल है तो वेद के सिद्धान्त को समझने के लिए **''मुखं व्याकरणं स्मृतम''** व्याकरण ही उसका मुख है। यदि मुख ही नही तो फिर वो बोलेगा कैसे? वेद से कोई कहे कि आप बोलिए, कुछ कहिए तो कहेगा कि जब मेरा मुख ही बन्द कर दिया आपने तो हम बोलेंगे कैसे? सो श्रुति माता कब बोलेंगी, जब उनका मुख ठीक होगा और आज आप देखते होंगे कि किसी के मुख मे कैंसर हो जाता है तो वह नहीं बोल पाता है। कोई गूंगा हो जाता है तो नहीं बोल पाता है। तो हमनें तो अपने प्रमाद के कारण वेद भगवान् के मुख को बन्द कर दिया है, सी दिया है, उनके मुख की उपेक्षा कर दी है, इसीलिए हम वैदिक सिद्धान्तों को नहीं समझ पा रहे हैं और जब तक हमारे जीवन मे व्याकरण नहीं आयेगा वह भी परमार्थ रूप मे, जब तक हम व्याकरण को जीना नहीं सीख जायेंगे तब तक हम भगवान् के सिद्धान्तों को समझ नहीं पायेंगे। तब तक हमारी माँ श्रुति भगवती क्या कह रही हैं हम नहीं समझ पायेंगे। इसलिए मैं फिर अनुरोध कर रहा हूँ कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए माँ श्रुति माता की शरण मे जाना पड़ेगा और श्रुति माता को समझने के लिए उनके मुख व्याकरण की रक्षा करनी पड़ेगी, क्योंकि वो समझायेंगी तो मुख से ही। छोटे से बालक को जब माता उसके पिता का परिचय देती है तो मुख का ही तो अवलम्ब लेती है। अतएव हमे व्याकरण को जीना पड़ेगा। व्याकरण का प्रयोग हमे जीविका के लिए नहीं व्याकरण का प्रयोग हमको जानकीजीवन अथवा राधिकाजीवन के लिए करना होगा। तात्पर्य यह है कि जब तक हम रमण शब्द का अर्थ नहीं समझेंगे तब तक हमे रासपंचाध्यायी नहीं समझ मे आयेगी और आज का दुर्भाग्य ये है कि मनुष्य रमण शब्द का बहुत ही अनुचित अर्थ समझने लगा है। इसीलिए उसका अधःपतन होता जा रहा है। रमण का अर्थ अनुचित अर्थों मे नहीं लेना चाहिए। रमण का अर्थ स्त्री–पुरुष के ग्राम्य संयोग से नहीं समझना चाहिए। भगवान पाणिनि कहते हैं कि **''रमु क्रीड़ायाम''** पा.धा.पाठ ८५३. 'रमु' धातु का अर्थ है खेलना। वो भी किसका खेलना? जीवों के खेलने को प्रायः रमण नहीं कहते। किसकी क्रीड़ा के लिए रमण शब्द का प्रयोग होता है? बालक के लिए। हिन्दी मे तो ऐसा नहीं दिखता परन्तु जब हम गुजराती भाषा को देखते हैं तो वहाँ 'रम' धातु का प्रयोग बिल्कुल निर्दोष बालक की क्रीड़ा के अर्थ मे किया जाता है। कहते हैं वहाँ के लोग (गुजराती मे कहा जाता है कि–) **''बाड़क रमकड़ाउनी शाथे रमी रह्यू छे''** बालक रमकड़ा माने खिलौने के साथ खेल रहा है और सौभाग्य से रासपंचाध्यायी मे रम धातु का प्रयोग ही बहुशः हुआ है। जैसे– **''वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रे।''** भा.१०/२६/१. भगवान् ने रमण करने का मन बनाया, खेलने के लिए मन बनाया। यह नहीं लिखा कि **''वीक्ष्य भोक्तुम्''**। भोगार्थ मन भगवान् का नहीं बन रहा है। भगवान् के मन मे बुभुक्षा नहीं है, भगवान् की भोग की इच्छा नहीं है। भगवान् को क्या लेना–देना भोग से। भगवान् अपने ऐश्वर्य के भाव से श्रीमद्भगवद्गीता मे स्वभावतः बोल उठे, ''तुम्हें पता है मेरी साधारण लीलायें देखकर लोग मुझ पर सन्देह करते हैं।'' कौन हूँ मैं और कैसा है मेरा व्यक्तित्व? भगवान् बहुत गौरव और आत्मविश्वास के साथ बोल पड़े–

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।'' गी.३/२२

तीनों लोकों मे अब मुझे कुछ भी करणीय नहीं है। मेरे लिए कुछ भी करने की कोई बाध्यता नहीं है मेरी विवशता नहीं है और संसार मे प्राप्त करने योग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे नहीं मिल गई हो। मुझे सब मिल चुका है। फिर भी कर्म करता हूँ कर्म मे

वरतता हूँ। इसका यहाँ क्या तात्पर्य है? भगवान् को गोपियों के साथ खेलने मे कुछ मिलना नहीं है। क्योंकि उनको जो चाहिए वो सब उन्हें मिल चुका है। वे तो उद्धव की भाषा मे **''स्वाराज्य लक्ष्म्याप्त समस्तकामः''** अपनी स्वाराज्य लक्ष्मी के द्वारा वे समस्त कामनाओं को प्राप्त कर चुके हैं, फिर भी खेल रहे हैं। क्यों खेल रहे हैं? कुछ पाने के लिए? ऐसा नहीं है। भगवान् पाने के लिए नहीं खेलते हैं। अरे बालक खिलौने के साथ खेलता है क्योंकि उसका एक अपना आनन्द है। गोपियाँ भगवान् की खिलौना हैं और भगवान् बालक हैं, परन्तु साधारण बालक नहीं हैं, **''तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं''** भा.१०/३/१०. गोस्वामी तुलसीदास जी के भगवान् श्रीराम अनुपम बालक हैं और वेदव्यास जी के भगवान् श्रीकृष्ण अद्‌भुत बालक हैं। **''अनुपम बालक देखेनि जाई। रूप राशि गुन कही न शिराई।।''** मानस १/१६४/८. श्रीराम अनुपम बालक हैं, उनकी किसी से उपमा नहीं है। श्रीकृष्ण अद्‌भुत बालक हैं **''तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं''** दोनों विचित्र हैं। आज गोपियों के साथ खेलेंगे। क्यों? क्योंकि गोपियाँ उनका खिलौना हैं। श्रीमद्भागवत के चीरहरण के प्रसंग मे भगवान् शुकाचार्य एक शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। कैसी हैं गोपियाँ जिनके साथ भगवान् को महारास करना है। **''क्रीडनवच्च कारिताः''** वे तो भगवान् की खिलौना बन चुकी हैं। यहाँ एक अन्तर बहुत गम्भीरता से समझना होगा। मे यही कह रहा हूँ कि भगवान् सामान्य बालक नहीं हैं अद्‌भुत बालक हैं। क्योंकि जब सामान्य बालक खिलौनों के साथ खेलते हैं तो खिलौनों की कोई चिन्ता नहीं करते उसे तोड़–फोड़ देते हैं और हमनें तो देखा है कि जो सीधा बालक होता है वह खिलौनों को दो–चार घंटे तक रखता है, पर जो चंचल बालक होता है जिसे आज की भाषा मे कहें तो जो शरारती बालक होता है वह तो एक ही मिनट मे खिलौने की ऐसी–तैसी कर डालता है। परन्तु भगवान् जिन खिलौनों के साथ खेलते हैं उन्हें तोड़ते नहीं, उनकी कोई हानि नहीं करते प्रत्युत् उनको धन्य–धन्य कर देते हैं। जिन गोपियों के साथ भगवान् ने खेला क्रीडनवत् बनाया, खिलौना बनाया उनको तोड़ा नहीं उनको इतना धन्य कर दिया कि उद्धव जैसे महाभागवत् कहने लगे कि, अरे–अरे! यदि मे वृन्दावन की लता बन जाता अथवा वृन्दावन की कोई छोटी–सी घास बन जाता तो कम से कम गोपियों के श्रीचरणकमल की धूल तो मुझे मिल जाती। इसीलिए

''आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने
किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।''

भा.१०/४७/६१.

४७वें अध्याय मे उद्धव गीत का प्रारम्भ होता है। गोपियों को नमस्कार करके उद्धव जी गा रहे हैं **''ता नमस्यन्निदं जगौ''**। उद्धव जैसे महाभागवत जिनके लिए भगवान कहेंगे कि उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं हैं, **''नोद्धवोऽण्वपि मन्नयूनो''** भा.३/४/३१. वे गोपियों को नमन कर रहे हैं और कह रहे हैं कि अरे–अरे! जिन गोपियों ने न छोड़ने योग्य दुस्त्यज आर्यपथ को छोड़कर भगवान् के चरणों का भजन किया उनकी चरण की धूली से लगी हुई किसी औषधि का शरीर मुझे मिल जाता तो मे धन्य हो जाता। उद्धव से पूछा गया कि, उद्धव गोपियों के चरण मे मस्तक नवाना चाहते हो? तो उद्धव जी ने कहा, नहीं–नहीं मेरी पात्रता ही नहीं कि मैं उनके चरण मे मस्तक नवाऊँ। फिर उद्धव जी ने कहा कि गोपियों के चरण की धूली के एक कण को यदि मैं जीवन भर नमन करता रहूँ तो भी मेरा सौभाग्य मान लेना चाहिए। उनके अर्थात् गोपियों के चरण धूली के एक कण

को ही नमन करने की यदि मुझे पात्रता मिल जाए तो मैं अपने को धन्य मानूँगा **''वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणुं''**। कितनी बार? बोले, **''अभीक्ष्णशः''** निरन्तर। उनके एक कणिका का मैं वन्दन कर सकूँ ये मेरा सौभाग्य होगा। तात्पर्य यह है कि साधारण बालक जब खिलौनों से खेलता है तो वह खिलौनों को तोड़ डालता है। उसे कोई खिलौने की चिन्ता नहीं होती। अपने आनन्द मे वह इतना तन्मय हो जाता है कि अपने खिलौने की योगक्षेम की वह चिन्ता नहीं करता, परन्तु भगवान् खेलते हैं अपने आनन्द मे और साथ–साथ यह ध्यान भी रखते हैं कि मेरी ऐसी कोई क्रीड़ा न हो जाए जिससे इस खिलौने का कोई योगक्षेम बाधित हो, इसकी कोई हानि हो यह टूट जाए। अतएव गोपियाँ भी यह समझती हैं कि भगवान् हमारी कभी हानि नहीं करेंगे। भगवान् हमारे योगक्षेम की निरन्तर रक्षा करेंगे। अतएव गोपी चीरहरण का उपसंहार करते हुये शुकाचार्य जी गोपियों की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि लग रहा है कि गोपियों के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण का अत्याचार है। परन्तु वे समझ गई हैं नहीं–नहीं प्रभु का हमारे प्रति अत्याचार हो ही नहीं सकता।

''दृढ़ं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता
नाभ्यसूयन् प्रियसंगनिर्वृताः।।''

भा.१०/२२/२२.

शुकाचार्य जी कहते हैं कि भौतिक दृष्टि से लग रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा बहुत प्रलब्ध हो गई, ठगी गईं **''त्रपया च हापिताः''** उनकी लज्जा समाप्त हो गई उन्हें **''प्रस्तोभिताः''** कड़ाके की ठंड मे कंपा दिया गया और **''क्रीडनवच्च कारिताः''** उन्हें खिलौना बना दिया गया। **''वस्त्राणि चैवापहृतानि''** उनके वस्त्र ले लिए गये तथापि भौतिक दृष्टि से इतना होने पर भी **''ताः अमुं नाभ्यसूयन्''** गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की निन्दा नहीं की उनमे दोषदर्शन नहीं किया। वे जानती हैं कि भगवान् हम पर अत्याचार कर ही नहीं सकते। वे साधारण बालक नहीं हैं जो अपने आनन्द की पूर्ति के लिए खिलौनों को तहस–नहस कर डाले। वे तो हमे सजाने आए हैं और वस्तुतः हुआ वही भगवान् ने सजाया। भगवान् जानते हैं कि जब साधारण बालक खेलता है तब खिलौने नष्ट हो जाते हैं और भगवान् को तो इन खिलौनों के साथ अनन्तरात्रिपर्यन्त खेलना होगा। अतः पहले इनकी व्यवस्था कर दी। आज की भाषा मे पहले इनको रिपेयर कर दिया बना लिया कि टूटे–फूटे नहीं। चीरहरण की भूमिका यही तो है। प्रश्न है क्यों हो रहा है चीरहरण? क्या भगवान् के मन मे कोई वासना है? यहाँ का प्रसंग ठीक से यदि हम देखें तो सारी समस्याओं का स्वयं समाधान हो जायेगा। भगवान् इस समय छः वर्ष के बालक हैं और गोपियाँ भी बहुत छोटी हैं, **''नन्द ब्रजकुमारिकाः''**। शास्त्रों को बिना जाने कुछ भी कह ले। कोई किसी की जीभ तो नहीं पकड़ने जा रहा है। परन्तु यदि शास्त्र को साक्ष्य मानकर हम निर्णय करने जायेंगे तो सिद्धान्त है **''आपंचमाब्दं कौमारं''** पाँच वर्ष तक के बालक को कुमार कहते हैं और पाँच वर्ष तक की बालिका को कुमारी कहते हैं। और इस प्रसंग मे कुमारी शब्द का प्रयोग न करके भगवान शुकाचार्य जी ने कुमारिकाः शब्द का प्रयोग किया है। **''हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः''** अर्थात् वे कुमारी नहीं हैं कुमारिका हैं और यहाँ 'कन्' प्रत्यय व्याकरण मे ह्रस्व के अर्थ मे हुआ है। भाव ये है कि ये पाँच वर्ष से भी कम अवस्था वाली कुमारिका हैं। आज के परिवेश मे भी जबकि भौतिकवादी युग आ गया, पहले से परिस्थितियाँ बहुत बदलीं, पहले बालक बहुत निर्दोष होता था। आज तो जन्म से ही

बालक मे सारे दोष आ रहे हैं क्योंकि कम्प्यूटर का युग आ गया। ऐसी परिस्थिति मे भी क्या पाँच वर्ष से कम अवस्था वाली किसी छोटी–सी बालिका के प्रति किसी के मन मे कोई गलत भाव आयेगा। वे पाँच वर्ष से छोटी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण भी अभी सात वर्ष के नहीं हुये छः वर्ष के हैं। छः वर्ष का बालक पाँच वर्ष की बालिका के साथ जब खेलता है तो दर्शकों को कैसा लगता है और आश्चर्य यह कि उस प्रकार का भाव भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति क्यों नहीं लग रहा है? ये दोष हमारा है भगवान् का नहीं। हमारी दृष्टि दूषित हो गई है भगवान् की दृष्टि दूषित नहीं है। हमारे दृष्टि मे दोष है भगवान् की सृष्टि तो निर्दोष ही है। **''हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः''** गोपियाँ यमुनाजी मे स्नान करने जा रही हैं और वे अपनी चुनरी (ओढ़नी) उतार कर यमुनाजी मे स्नान कर रही हैं और स्नान करके एक मंत्र पढ़ती हैं,

''कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।।''

भा.१०/२२/४.

यहाँ बहुत रोचक विशेषण देती हैं और लगता है इन्हीं विशेषणों के आधार पर ही रासपंचाध्यायी की कल्पना की गई है। यहाँ उन्होंने भगवती को पाँच विशेषण दिये हैं। हे कात्यायनि, हे महामाये, हे महायोगिनि, हे अधिश्वरि और हे मे माँ शब्द के सम्बोधन का यह रूप है मे, क्योंकि हे रमे, इसलिए हे मे इन पाँच विशेषणों से विशिष्ट हे देवि! नन्दगोप के नन्दराज के पुत्र श्रीकृष्ण को पतिरूप मे हमारे सामने प्रस्तुत कीजिए न **''पतिं कुरू''**। तो इस प्रकार का जो इतना बड़ा मंत्र पढ़ सकती हैं, क्या उन गोपियों को यह ज्ञान नहीं है कि बासी वस्त्रों से भगवती की पूजा नहीं की जा सकेगी? क्या वह यह नहीं जानती? जो प्रातःकाल के कड़ाके की ठंड मे यमुना जी मे स्नान करने के लिए जा रही है इतना विवेक उन्हें है तो इसके साथ यह भी तो विवेक होना चाहिए कि जिस वस्त्र को धारण करके हम सो जाते हैं उसी वस्त्र से हम पूजा नहीं कर सकते, क्योंकि वह जूठा हो जाता है, बासी हो जाता है। इसलिए और लोग भले यह मानते हैं कि श्रीकृष्ण ने गोपियों के मुख्य वस्त्र को चुराया पर हम कभी भी मानने को तैयार नहीं हैं और मुझे यह कहते हुए खेद हो रहा है कि श्रीधर से लेकर अब तक के किसी भी भागवत टीकाकार ने भगवान् के साथ न्याय नहीं किया। इतना तो सोचना ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए। हमारे शास्त्रों का वर्णन है **''उपस्थितस्य गतिश्चिन्तनीया''** यदि शास्त्र हमारे साथ उपस्थित हैं तो उसके गति का चिन्तन करो। हमारी बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँच पा रही है इसमे हमारी बुद्धि का दोष है भगवान् का दोष नहीं है, शास्त्र का दोष नहीं है। शास्त्र ने स्पष्ट कहा है कि छोटी–छोटी कुमारियाँ हैं। उर्ध्ववस्त्र को उतना दूषित नहीं माना जाता, ऊपरी वस्त्र को हम उतना दूषित नहीं मानते। इसलिए गोपियों ने अपनी जिसे आज की भाषा मे कहें तो लहंगे पहनकर स्नान किया और चुनरी उन्होंने घाट पर छोड़ दी। तब भगवान् श्रीकृष्ण ने आकर उनकी चुनरी उठा ली। चुनरी लेने मे भगवान् श्रीकृष्ण का कुछ भी अभिप्राय नहीं है। उनका सम्बन्ध तात्कालीन सामाजिकता से भी था और मैं तो ये कहूँगा की उनका सम्बन्ध सार्वकालिक सामाजिक परिस्थिति से भी जुड़ा है और आध्यात्मिक परिस्थिति से भी। तो पहले सामाजिकता की परिस्थिति का विचार करते हैं। वह युग था दानवों के अत्याचार का। दानवी शक्ति दैवी शक्ति पर प्रभावित हो रही थी। अकांड ताण्डव मचा था भारतीय संस्कृति को तहस–नहस करने के लिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने सोचा कि यदि एक भी दुष्ट दानव हमारी एक भी भारतीय कन्या के चुनरी ले गया एक भी ओढ़नी का स्पर्श इन राक्षसों

के द्वारा हुआ तो हमारी वैदिक संस्कृति का अपमान हो जाएगा। इसलिए उन्होंने गोपियों के सम्पूर्ण चुनरियों को उठा लिया और यह संकेत दिया कि अभी आप सबको बिना किसी सबल सहायक के इस प्रकार एकान्त मे यमुना मे स्नान करने नहीं आना चाहिए। गोपियों ने भी हँसकर कहा कि आपने ऐसा हमारे लिए क्यों सोचा? भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा क्योंकि आप अबला हैं। गोपियों ने कहा हाँ–हाँ अबला तो हम हैं पर अबला को जो अर्थ आप समझ रहे हैं **''नास्ति बलं यासां ताः''** जिनके पास बल नहीं है उन्हें अबला कहते हैं ऐसा नहीं है। भगवान् ने भी कहा तो फिर आप कैसी अबला हैं? गोपियों ने कहा, यहाँ **अ** का अर्थ नकार नहीं है। **''अकारो वासुदेवः वासुदेवो बलं यासां ताः अबलाः''** भगवान् श्रीकृष्ण ही जिनके बल हैं वे हैं अबलायें। तो हम तो आपको अपना बल मानते हैं और वही तो प्रतिफलित हुआ। भगवान ने कहा, इसीलिए जब आप हमे अपना बल मानती हैं तो हमनें आपकी चुनरी की रक्षा कर ली। और मीरा के शब्दों मे जब आध्यात्मिकता की दृष्टि से विचार करेंगे तो गोपियों का भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति कान्ताभाव है। देखिए एक ही शब्द भिन्न–भिन्न परिस्थितियों मे आकर अपना भिन्न–भिन्न अर्थ प्रस्तुत करता है। एक साधारण उदाहरण यदि मे प्रस्तुत करूँ तो यही श्रृंगार शब्द जब साधारण नारी के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है तब उसका दूसरा अर्थ होता है और यही जब भगवान् के सम्बन्ध मे प्रयुक्त होता है तो उसका दूसरा अर्थ हो जाता है। कोई कहे कि नारी श्रृंगार करके आ रही है तो इससे एक उत्तेजकता होगी और कोई कहे कि आज भगवान का बड़ा सुन्दर श्रृंगार हुआ है तो इससे इस शब्द को सुनकर श्रोता के मन मे भक्ति का एक उद्रेक होगा। साधारण जीव के लिए यदि भोग का प्रयोग करेंगे तो उसका अर्थ बड़ा भयंकर होगा और भगवान् के लिए हम बालभोग राजभोग का प्रयोग करते ही हैं। भोग और रास का प्रयोग जब हम संसारी के लिए करते हैं तो उसका अर्थ बहुत घृणित हो जाता है और यही भोग और रास जब भगवान् के लिए प्रयुक्त होता है तो इनका अर्थ पवित्र रूप मे प्रस्तुत होता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ भी है। भगवान् के प्रति गोपियों का कान्ताभाव है ये वासना नहीं है। कोई महिला जब अपने पति के प्रति कान्ताभाव लाती है तो वहाँ उसकी वासना उसमे कारण बनती है। वहाँ काम की तृप्ति कारण बनती है, परन्तु जीव जब इन्हीं भावों को भगवान् से जोड़ता है तो वहाँ श्याम की तृप्ति कारण बन जाती है और उसकी उपासना का परिपाक होने लग जाता है। ये गोपियाँ हैं। गोपी शब्द का साधारण सा अर्थ यदि किया जाए तो गोपी जो कुछ छिपाती है उसे गोपी कहते हैं। छिपायी बात, कौन सी वस्तु छिपायी जाती है? देखिए छिपाने मे वस्तु के दो कारण समझ मे आते हैं। या तो जो बहुत बुरी वस्तु होती है उसे व्यक्ति छिपाता है और या जो बहुत उत्कृष्ट वस्तु होती है, अच्छी वस्तु होती है उसे व्यक्ति छिपाता है। तो यहाँ तो गोपियों के पास कुछ भी बुरा नहीं है तो **''निरवद्य संयुजाम्''** उनका संयोग तो निरवद्य है निर्दोष है तथा उनके पास कोई बुरी वस्तु ही नहीं है तो फिर वे क्या छिपाना चाहती हैं। बहुत ही अच्छी वस्तु उन्हें मिल गई है और वो इतनी सुन्दर वस्तु कदापि किसी को नहीं मिली होगी, जिसको मीरा ने कहा, पायो जी मैंने राम रतन धन पायो। उन्हें राम रत्न मिल गया है, कृष्णरूप रत्न मिल गया है उन्हें डर लगता है कि इसे लोग चुरा लेंगे क्योंकि श्रुतियों ने भी कहा है कि ये हमारा गोपनीय धन है। **''मूर्तिभूतं प्रेमगोपांगनानां, पूँजीभूतं भागधेयं यदूनां। एकीभ्तम गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे संनिधत्ताम्''** ये तो यदुवंशियों का पूँजीभूत भाग्य है। ये गोपियों का मूर्तशरीरधारी प्रेम ही तो श्रीकृष्ण हैं। ये श्रुतियों का गोपनीय धन है। इसलिए इसे गोपियाँ छिपा रही हैं। तो छिपाने के लिए कोई आवरण चाहिए। अतः गोपियों ने कहा कि आवरण के लिए कौन सा आवरण स्वीकार किया जाए। श्रुति ने कहा, श्रीकृष्ण तो सत्य हैं ना। हाँ बिल्कुल सत्य

है। वे तो **''सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं''** वे तो सत्य के भी सत्य हैं। कहा, सत्य के मुख को छिपाना चाहिए, ढ़क देना चाहिए। किससे? बोलीं, **''हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं''** सत्य के मुख को स्वर्ण के पात्र से ढ़कना चाहिए। तो कान्ताभाव ये स्वर्णपात्र है और भगवान् श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य सत्य का मुख है। स्वर्ण पात्र है? हाँ स्वर्ण पात्र है। क्यों? कहा, इसलिए कि स्वर्ण की चार प्रकार से परीक्षा होती है। उसे घीसा जाता है, काटा जाता है, पीटा जाता है और जलाया जाता है। इसी प्रकार गोपियों का **''यथा चर्तुभिर्कनकं परीक्ष्यते निघर्षणक्षेदन तापताडनैः''**। इसी प्रकार गोपियों के कान्ताभाव की ये चारों परीक्षायें हो चुकी हैं। उसे घीसा गया, नाना प्रकार से इसका घर्षण हुआ है। अपवाद सहे हैं गोपियों ने। उसे काटने का प्रयास किया गया, क्योंकि किसी प्रकार से रोका जाए श्रीकृष्ण से गोपियों को अलग कर दिया जाए। पर गोपी कहने लगीं सब कुछ सह लूँगी पर कन्हैया से अलग नहीं रहूँगी।

घर तजौं, वन तजौं, नागर औ नगर तजौं।
वंशीवट तक तजौं काहू न वराजिहौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह काहो कैसे तजौं।
आज प्रेमराज वीच ऐसो साज साजिके।
बावरे भयो हैं लोग बावरी कहत हौं मो को।
बावरी कहे को मे हूँ काहू न वराजिहौं।
कहैया और सुनैया तजौं बाप और भैया तजौं।
मैया तजिहौं दैया पै कन्हैया नहीं तजिहौं।

इस भाव को तप्त किया गया। विरह की आग मे गोपियाँ जली हैं। इस भाव को पीटा गया। घर के लोगों ने, समाज के लोगों ने उन्हें प्रताड़ना दी। तो जैसे चार प्रकार से स्वर्ण परीक्षित होता है उसी प्रकार से गोपियों का यह भाव स्वर्ण की भाँति परीक्षित हुआ है। उनकी परीक्षा हो चुकी है। अब वह हिरण्मयपात्र बन गया है। यही है **''तत्त्वम्पुसन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये''**। भगवान् सूर्य की भूमिका निभा रहे हैं। उन्हें इस घूंघट को खोलना है **''घूंघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे''**। तो आज कान्ताभाव जिससे गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को छिपाया है कि कोई इनके ऐश्वर्य को जान न ले। इसलिए यहाँ कान्ताभाव दोषावह नहीं है। ये केवल भगवान् को छिपाने की एक भूमिका है। इस सिद्धान्त की उत्पत्ति मे श्रीप्रबुद्धानन्द सरस्वती जी महाराज ने अपनी श्लोक कारिका मे यह सिद्धान्त सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि जैसे पति से कितना भी अभेद हो फिर भी जब पत्नी उसको घूंघट की ओट से निहारती है तब उसको अधिक रस की अनुभूति होती है। उसी प्रकार भले ही परमात्मा का जीवात्मा के साथ अभेद हो गया हो यह तो अलग बात है कि वह अभेद सम्बन्धतः हो या स्वरूपतः अद्वैतवादियों के मत मे जीवात्मा का परमात्मा से स्वरूपतः अभेद होता है और हम लोगों के मत में अर्थात् श्रीवैष्णवों के मत मे परमात्मा का जीवात्मा के साथ स्वरूपतः अभेद नहीं परन्तु सम्बन्धतः अभेद होता है। कुछ भी हो अभी इन मतों की चर्चा नहीं करनी है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है भले ही जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न हो चुका हो परन्तु जीवात्मा जब भगवान् की पूजा करने लगता है तो उसे किसी न किसी भाव का आलम्बन लेना चाहिए। जैसे अंचल की ओट से निहारने मे वल्लभा को सुखानुभूति होती है उसी प्रकार किसी भावरूप अंचल की ओर से परमात्मा की सेवा करने मे जीवात्मा को सुखानुभूति होती है, रसानुभूति होती है। श्री प्रबुद्धानन्द सरस्वती की श्लोक कारिका इस प्रकार है–

''प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलांचलव्यविहितेन निरीक्षणीयः।
विश्वेश्वरस्तुसुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।।''

इस सिद्धान्त के ही तो अनुसार वन पथ मे जाते हुए लोकाभिराम भगवान् श्रीराम जी को भगवती श्रीसीता जी ने अंचल की ओट से निहारा।

बहुरि बदन बिधु अंचल ढ़ाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बांकी।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननी। निज पति कहेउ तिनहिं सीय सयननी।।

इसीलिए गोपी का तात्पर्य भी इसी अंश मे अर्थवान है। वह भगवान् के ऐश्वर्य को कान्ताभाव रूप अंचल से छिपा रही है और उसी अंचल को आज भगवान् उठा लेना चाहते हैं। अब छिपाने की कोई आवश्यकता नहीं है कदाचित् यही वस्तु होगा जिसका भगवान् अपहरण करने जा रहे हैं। हम इस तथ्य की पुष्टि मे बार–बार यह पक्ष रख सकते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के अधोवस्त्र को बिल्कुल नहीं चुराया यह केवल भ्रान्ति है और शास्त्रों को न पढ़ने के कारण तथा गम्भीरता से वहाँ की परिस्थिति का चिन्तन न करने के कारण यह बवण्डर खड़ा कर दिया गया। सामान्य व्यक्ति को यह सोच लेना चाहिए कि पहली बात तो गोपियाँ कुमारी हैं और कुमारी तथा कुमार शब्द का भागवत मे जिस अर्थ मे प्रयोग हुआ है वह बहुत स्पष्ट है। इसमे किसी टीका की व्याख्या मे जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भागवत जी मे दसवें स्कन्ध के ग्यारहवें अध्याय का विश्राम करते हुए भगवान शुकाचार्य जी महाराज परीक्षित से कहते हैं– ''**एवं बिहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे**'' अर्थात इस प्रकार कौमारोचित् लीलाओं के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम ने अपना कौमार सम्पन्न कर दिया। आगे कहेंगे– ''**यत् कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः**'' अर्थात् पाँच वर्ष की लीला को कौमारलीला कहते हैं। छः से दस वर्ष की अवस्था को पौगण्ड अवस्था कहते हैं। ग्यारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष की अवस्था को कैशोर अवस्था कहते हैं और पन्द्रह वर्ष के पश्चात् कोई भी व्यक्ति युवक हो जाता है, युवावस्था मे प्रवेश कर जाता है। शास्त्र ने बाल्यावस्था के तीन भेद माने हैं और निर्देश भी दिए हैं। ''**आ पंचमांब्दम् कौमारं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापंचदशं ततः पश्चात् युवोच्यते**'' अर्थात् पाँच वर्ष तक बालक कुमार रहता है छठे वर्ष से दसवें वर्ष तक पौगण्ड रहता है और ग्यारह वर्ष से पन्द्रह वर्ष तक वह किशोर रहता है। पन्द्रहवाँ वर्ष पूर्ण करते ही वह युवावस्था मे प्रवेश कर लेता है। इसीलिए क्षत्रिय के सम्बन्ध मे शास्त्र ने आज्ञा दी कि उसे सोलहवें वर्ष मे ही कवच धारण करना चाहिए। अर्थात् युद्ध मे किशोर को जाने की शास्त्र ने आज्ञा नहीं दी। श्री अभिमन्यु के सम्बन्ध मे यह कहा भी जाता है कि जिस समय उनका सोलहवाँ वर्ष पूर्ण हुआ उसी समय वह युद्ध मे प्रविष्ट हुए। वैसे तो युद्ध करते ही थे पर सोलहवाँ वर्ष पूर्ण करते ही उन्हें एक उत्तरदायी सेनापति के रूप मे नियुक्त किया गया था। इसका तात्पर्य यही है कि कुमार शब्द को कभी भी शास्त्र ने युवावस्था के निकट नहीं माना और इसीलिए श्रीरामचरितमानस जी मे भी यह वर्णन आता है कि जब श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न कुमार हो गये अर्थात् पाँच वर्ष के हो गये और छठवें वर्ष मे प्रवेश किया तब उनका गुरुदेव श्रीवसिष्ठ जी ने यज्ञोपवीत संस्कार कराया। ''**भयउ कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेउ गुरु पितु माता।।**'' इसका तात्पर्य यही है कि गोपियाँ निश्चित रूप से चीरहरण के समय पाँच वर्ष अथवा उससे भी कम अवस्था की थीं। ''**भयउ कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेउ गुरु पितु माता।।**'' अब यहाँ एक प्रश्न है कि छठवें वर्ष मे भगवान् श्रीराम जी का

यज्ञोपवीत का विधान क्यों कराया गया? सामान्यतः ब्राह्मण का यज्ञोपवीत आठवें वर्ष मे क्षत्रीय का यज्ञोपवीत बारहवें वर्ष मे और वैश्य का यज्ञोपवीत सोलहवें वर्ष मे कराने की आज्ञा है **"अष्ट वर्षं ब्राह्मणमुपनयीत एकादश वर्षं क्षत्रियं पंचदश वर्षं वैश्य"**। छठे वर्ष मे भगवान् श्रीराम जी के यज्ञोपवीत का क्या तात्पर्य रहा होगा? इस पर मनु का एक विशेष विधान भी है कि ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का यज्ञोपवीत यह सामान्य आज्ञा है परन्तु यदि कोई ब्राह्मण को ब्रह्मवर्चस्वी बनाना चाहता है तो उसका यज्ञोपवीत पाँचवें वर्ष मे हो जाना चाहिए और यदि क्षत्रिय को उसका पिता बलवान देखना चाहता है तो उसका यज्ञोपवीत छठवें वर्ष में होना चाहिए। इसीलिए शास्त्र ने कहा– **"ब्रह्मवर्चस कामस्तु ब्राह्मणं पंचमे वर्षे उपनयेत बलकामस्तु क्षत्रिय षष्ठे वर्षे"**। भगवान् श्रीराम जी को उनके पिता चक्रवर्ती जी महाराज अतुलित बलधाम के रूप में देखना चाह रहे हैं। इसलिए उन्होंने भगवान श्रीराम का उनके भ्राताओं के सहित छठे वर्ष मे ही यज्ञोपवीत कराया। इन शास्त्रीय पर्यालोचनाओं से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि चीरहरणलीला के समय गोपियाँ निश्चित रूप से पाँच वर्ष या उससे कम की थीं। मे बहुत खेद के साथ कह रहा हूँ कि टीकाकारों ने इस पर गम्भीरता से विचार नहीं किया और अपनी किस मानसिकता के साथ यह लिख दिया कि चीरहरण के समय नन्दव्रज की कुमारियाँ युवावस्था के निकट थीं अर्थात् किशोरियाँ थीं। चूंकि मैंने निष्पक्षपात भाव से शास्त्रों का अध्ययन किया है इसलिए मैं इस पक्ष से कभी भी सहमत नहीं हूँ भगवान् मुझे क्षमा करें। सिद्धान्त यह है कि नन्दव्रज की कुमारियाँ भले ही पाँच वर्ष की हों या पाँच से कम की हों किन्तु उनके मन मे एक ललक थी कि श्रीकृष्ण उनके पति हों। यह बात स्वाभाविक है क्योंकि ये गोपियाँ कोई सामान्य नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में पद्मपुराण में स्पष्ट आज्ञा है कि इन गोपियों मे मनुष्य बुद्धि कदापि नहीं करनी चाहिए। सम्पूर्ण वेदों की ऋचायें अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक मंत्र गेपीभाव से भगवान् की उपासना करते हैं। दण्डकारण्य के ऋषिगण भगवान श्रीराम जी का रूप देखकर उनके माध्यम से श्रीकृष्ण का स्मरण करते हुए उनके प्रति कान्ताभावापन्न हो चुके हैं और वही आकर द्वापर मे गोपिका बने

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैक्षन्सुविग्रहम्।।"

हम इस पक्ष पर बार–बार पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि जिन भावों की चर्चा अभी हम कर रहे हैं ये जब संसार के सम्बन्ध मे आते हैं तो वासनात्मक हो जाते हैं और जब इनका भगवान् के सम्बन्ध मे प्रयोग होता है तब ये उपासनात्मक हो जाते हैं। कोई स्त्री किसी सांसारिक पुरुष के प्रति जब पति भावना करेगी तब वह वासना होगा उपासना नहीं और वह संसार का कारण बनेगी। परन्तु जब वही महिला भगवान् के प्रति पति भावना करती है तो वासना कभी नहीं वह उपासना ही मानी जायेगी और वही उसकी स्थिति भी है। जैसा कि भगवती मीरा जी ने भगवान् के प्रति पति भावना की और स्पष्ट रूप से अपना मंतव्य प्रकट किया,

"ऐसे वर को को वरै जो जन्में और मर जाये।
मीरा वरै गोपाल को जहँ चूड़ो अमर होइ जाये।।"

यहाँ मीरा द्वारा की गई प्रभु श्रीकृष्ण के प्रति पति भावना उपासना है वासना नहीं। ठीक यही परिस्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए। गोपियाँ अपने प्राणधन व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, शिखिपिच्छमौलि, वृन्दावनवीथिविहारी, नटवर नन्दनागर, नवनीतचोर, श्रीराधामुखचन्द्रचंचलचकोर श्रीकृष्णचन्द्र को अपने हृदय मे कान्ताभाव के आवरण से छिपाना

चाह रही हैं और आज उस आवरण को भगवान् श्रीकृष्ण हटाना चाह रहे हैं और यहाँ कबीर की यह पंक्ति अक्षरशः सिद्ध हो रही है कि– **''घूंघट के पट खोल रे तोहे पिया मिलेंगे''**। यह घूंघट, ये आवरण तब तक जब तक भगवान् का साक्षात्कार नहीं हो जाता। परन्तु इस परिस्थिति मे भी कबीर घूंघट के पट खोलने की आज्ञा कर रहे हैं और यही बात यहाँ है कि श्रीकृष्ण गोपियों के उपवस्त्र को लेकर जा रहे हैं न कि अधोवस्त्र को। इस पक्ष की पुष्टि मे यहाँ की परिस्थिति का भी पर्याकलन करना आवश्यक है। यहाँ का स्पष्ट प्रकरण है जब गोपियों ने हेमन्त के प्रथम महिने अर्थात् अगहन मार्गशीर्ष मे कात्यायनी व्रत का अनुष्ठान प्रारम्भ किया तो उन्होंने एक नियम बना लिया था कि प्रातःकाल चार घड़ी रात शेष रहते ही वे उठती थीं और अपनी सहेलियों का नाम ले–लेकर बुलाकर उन्हें इकट्ठा करती थीं। एक दूसरे का हाथ पकड़कर भगवान् श्रीकृष्ण को ही गाती हुई प्रतिदिन श्रीयमुना जी मे स्नान करने को पधारती थीं। यमुना मे स्नान और श्रीकृष्ण का मार्ग मे गान प्रातःकाल का उत्थान। ये तीनों ही क्रियायें किसी सामान्य की नहीं हो सकती और न कोई सामान्य ऐसा कर सकता है। भले ही वे पाँच वर्ष की कुमारियाँ रही हों परन्तु जो बत्तीस अक्षरों का अनुष्टुप् मंत्र जप सकती हैं उनको यह भी तो ज्ञान हो सकता है कि बासी वस्त्र से यदि पूजा की जायेगी तो पूजा फलवती नहीं होगी। गोपियाँ एक अनादिकालीन सिद्ध अनुष्टुप् मंत्र का जप भी करती हैं। उस अनुष्टुप् मे ये पहले क्लीं बीज लगाती है, क्योंकि आगे के श्लोकों मे **''भूयान्नन्दसुतः पति''** कहा गया है। इसलिए इस मंत्र में ये क्लीं बीज लगाकर बोलती है

क्लीं कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।।

यहाँ गोपियों ने कात्यायनी जी के लिए पाँच विशेषण लगाये हैं। ''हे कात्यायनि, हे महामाये, हे महायोगिनि, हे अधीश्वरि तथा हे मे'' आप हम सब के लिए नन्दराज के पुत्र व्रजेन्द्रनन्दन, नटवर नन्दनागर, श्रीकृष्ण को पति के रूप मे उपस्थित करें हम आपको नमन करते हैं। लगता यही है कि इन्हीं पाँच विशेषणों को सार्थक करने के लिए पाँच लीलाओं का वर्णन उपस्थित किया गया। ये पाँचों विशेषण इतने सार्थक हैं कि यदि इन पर विचार किया जाये तो इस ग्रन्थ का वृहत्तम कलेवर हो जायेगा और पुनः उसका 'अय' के साथ बहुव्रीहि समास करके 'इनि' प्रत्यय द्वारा 'कात्यायनी' शब्द की व्युत्पत्ति की गई अर्थात् जो अघटित घटना पटीयसी भगवान् की योगमाया श्रीकृष्ण की सेवा मे अनेक पत्नियों का संघटन करती है, वे स्वयं महामाया जो महायोगिनी हैं, जो अधीश्वरी हैं और जो भगवान् श्रीकृष्ण की स्वयं 'मा' अर्थात् शक्ति हैं। इसलिए हे भगवती नन्दगोप कुमार श्रीकृष्ण को ही हमारे लिए पति के रूप मे उपस्थित करो। मुझे तो ऐसा लगता है कि ये पाँचों सम्बोधन अन्ततोगत्वा श्रीराधारानी मे ही संघटित हो जायेंगे।

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।।

भागवत १०/२२/४

इस श्लोक में प्रयुक्त पाँचों संबोधनों का श्रीराधापरक व्याख्यान देखिये ''कं श्रीकृष्ण संयोग सुखं तन्वन्ति विस्तारयन्ति इति कात्याः सुखार्थक क उपपदात् औणादिकष्यञ् प्रत्ययः आदिवृद्धिः ताः स्वसंयोगद्वारा श्रीकृष्णसुखसमुद्भाविनीः अनन्तगोपीः आययति श्रीकृष्णसान्निधिं प्रापयति इति कात्यायनी, कात्य उपपादात् व्यन्ताय घातोः बाहुलकात् कर्तरि ल्युट, तत् संबुद्धौ हे कात्यायनि अर्थात् संस्कृत में 'क' सुख का भी पर्यायवाची है। गोपियाँ अपनी

संयोग के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के सुख का विस्तार करती हैं। इसी अर्थ में 'कं तनवन्ति' इस विग्रह में 'क' उपपद तनु धातु से कर्ता में औणादिक ष्यत्र् प्रत्यय होकर कात्या शब्द बन जाता है। उन्हीं कात्या अर्थात् गोपियों को श्रीराधा जी 'आययति' अर्थात् अपनी अहैतुकी कृपा से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी की संनिधि में ले आती हैं। इसीलिए उन्हें कात्यायनी कहते हैं। 'कात्याः आययति श्रीकृष्ण सान्निधिं गमयति इति कात्यायनी, तत् संबुद्धौ हे कात्यायनि। 'महती माया यस्या सा महामाया तत् संबुद्धौ हे महामाये। राधा जी की लीला अत्यन्त श्रेष्ठ है और श्रीवृषभानुनन्दिनी राधा जी का महात्माओं पर निरन्तर कृपाकादम्बिनी बरसती रहती है। इसीलिए उन्हें महामाया भी कहते हैं। 'महायोगिनी' महती चासौ योगिनी महायोगिनी महापुरुषेण कृष्णेन नित्यं योगः यस्या सा महायोगिनी, तत् संबुद्धौ हे महायोगिनी। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण महायोगी हैं उसी प्रकार श्रीराधा जी महायोगिनी हैं। वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी का महापुरुष भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से योग अर्थात् नित्य संबन्ध है, यहाँ नित्य योग के अर्थ में महायोग शब्द से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय हुआ है। 'अधीश्वरी' राधा जी ही एकमात्र अधिकृत ईश्वरी हैं और उन्हीं का सर्व समर्थ ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण पर अधिकार है ''अधिकृतः ईश्वरः यया सा अधीश्वरी तत् संबुद्धौ हे अधीश्वरि। राधाजी देवाधिदेव श्रीकृष्णचन्द्र जी की मुख्य स्त्री अर्थात् पत्नी हैं। इसीलिए वे ही देवी हैं, ''देवस्य स्त्री देवी तत् संबुद्धौ हे देवि। राधा जी निरन्तर श्रीवृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नित्य विहार रूप क्रीड़ा करती रहती हैं इसीलिए उन्हें देवी कहते हैं। 'दीव्यति क्रीडति विहरति कृष्णेन सह या सा देवी' भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधाजी की प्रेम भक्ति से खेल में निरन्तर पराजित होते हैं और राधा जी प्रणय में रसिकविहारी जू को जीतने की सतत् इच्छा करती रहती हैं। इसलिए भी उन्हें देवी कहते हैं। क्योंकि दिवु धातु का विंजिगिषा (जीतने की इच्छा) भी अर्थ होता है ''दीव्यति विंजिगिषते श्रीकष्णं या सा देवी''। दिवु धातु का व्यवहार अर्थात् चौसर खेलना भी अर्थ है। कभी–कभी वृषभानुनन्दिनी जू विनोद में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ चौसर भी खेलती हैं, इसलिए भी वे देवी हैं ''दीव्यति व्यवहरति या सा देवी''। दिवु धातु का द्युति अर्थात् प्रकाश भी अर्थ होता है। राधारानी सदैव प्रकाशित होती रहती हैं इसलिए भी उन्हें देवी कहा जाता है ''दीव्यति द्योतते इति देवी''। राधाजी सदैव अपने प्राणधन श्रीकृष्ण की स्तुति करती रहती हैं और श्रीकृष्ण तथा संपूर्ण चराचर प्राणी राधाजी की स्तुति करते रहते हैं, इसलिए भी उन्हें देवी कहा जाता है, क्योंकि दिवु धातु का स्तुति अर्थ भी है। भगवती राधा भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति की साकार मूर्ति हैं, इसी रस में वे निरन्तर प्रसन्न रहती हैं अतएव उन्हें देवी कहते हैं। दिवु धातु का और भी एक अर्थ है ''दीव्यति मोदते इति देवी''। श्रीवृषभानुलली राधा जी भगवान् के प्रेम में सदैव पागल बनी रहती हैं, इसलिए भी वे देवी हैं। दिव धातु का मद अर्थ भी प्रसिद्ध है, ''दीव्यति माद्यति इति देवी''। चूँकि दिवु धातु का स्वप्न अर्थ भी है और श्रीराधा जी भगवत् प्रम समाधि में लीन होकर संसार के व्यवहार से उपरत हुई सोई सी रहती हैं, ''दीव्यति स्वपिति श्रीकृष्णप्रमसमाधौं या सा देवी'' इस दृष्टि से भी राधा जी देवी कही जाती हैं। श्रीराधा जी निरन्तर भगवान् श्रीकृष्ण के मंगल की कामना करती रहती हैं, उनके राष्ट्रनायकत्व की सदैव शुभेच्छा करती रहती हैं, इसलिए उन्हें देवी कहा जाता है। दिवु धातु का कान्ति भी अर्थ है जिसका अर्थ होता है इच्छा, ''दीव्यति कामयते श्रीकृष्ण मंगलं या सा देवी''। श्रीराधा निष्किंचन भक्तों के पास भगवान् श्रीकृष्ण के साथ दर्शन देने के लिए सतत पधारती रहती हैं, अतः गत्यर्थक दिवु धातु से कर्तृवाच्य व्युत्पत्ति के अनुसार राधा जी ही देवी कही जा सकती हैं। ''दीव्यति श्रीकृष्णेन सह गच्छति भक्तान् प्रति या सा देवी तत् संबुद्धौ हे देवि। यहाँ गोपियाँ पूर्वोक्त पाँचों संबोधनों से श्रीराधा जी के चरणों में अपने मनोभाव व्यक्त करती

हुई निवेदन कर रही हैं कि हे कात्यायनि! श्रीराधे चूँकि आप हम कात्याओं को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में ले जाने की क्षमता रखती हैं और आप हमें कात्यारूप में इस दृष्टि से स्वीकार करती हैं कि हमारी उपस्थिति से आपके प्राणधन श्रीकृष्ण को सुख ही प्राप्त होगा। अतः आप हमें नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र को पतिरूप में मिला दें। हे महामाये! आपकी लीला अत्यन्त श्रेष्ठ है जो कठीन से कठीन कार्यों को सरलता से कर लेती है, क्षणमात्र में अघटित घटनाओं को संपादित कर लेती है, आपकी महात्माओं पर भी कृपा बरसती रहती है, हम भी पूर्वजन्म के दण्डकारण्यवासी महात्मा हैं, अतः हम पर भी कृपा बरसाइये। और श्रीनन्दनन्दन को पतिरूप में हमें उपलब्ध करा दीजिए। हे महायोगिनी! आप सर्वश्रेष्ठ योगिनी हैं अतः हम वियोगिनीयों पर कृपा कीजिए, भगवान् श्रीकृष्ण भी महायोगी हैं उन महापुरुष श्रीकृष्ण से आपका नित्य संयोग है, अतः उन नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्रदान कर हमारा वियोग मिटा दीजिए। चूँकि आप महायोगिनी हैं अतः अपनी महायोगशक्ति से अपने प्राणबल्लभ श्रीकृष्ण को अनेक रूपों में विभक्त करके हम अनेक गोपियों को पतिरूप में प्रदान कर दीजिए। हे अधीश्वरि! आप अधिकृत ईश्वरी हैं और हम हैं कान्ताभाव से भावित अनेक जीवात्मागण। आप अपने सामर्थ्य से हमारी इच्छाओं को पूर्ण कीजिए। आप अपने अधिकार का प्रयोग करके सर्वसमर्थ नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिए। हे देवि! आप खेल–खेल में भगवान् श्रीकृष्ण को हमारा पति बनायें, हमारे लिए श्रीकृष्ण को आप जीत लीजिए। आप स्तुति करके श्रीकृष्ण को हमारे पक्ष में कर लीजिए और अपने समान हमको भी प्रभु की प्राप्ति से प्रसन्न कर लीजिए। श्रीकृष्णरूप नीलमणि को प्रदान करके हमें भी स्वयं के समान प्रकाशित कीजिए। हमें भी अपने समान प्रभु के प्रेम में पागल बनाइये और हममें प्रभु श्रीकृष्ण के मिलन की इच्छा जगाइये। और अन्ततोगत्वा श्रीकृष्ण को हमें पतिरूप में प्रदान करके उन्हीं प्रभु के साथ हम गोपियों के समक्ष पधार जाइये। हे मे! आप मा अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं अतः नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को हम गोपियों के लिए पतिरूप में प्रस्तुत करके हमें आह्लादित कीजिए। इस प्रकार यह संपूर्ण मन्त्रात्मक बत्तीस अक्षरों का अनुष्टुप् श्रीराधाजी की ही स्तुति में पर्यावासित हुआ। यह व्याख्या भगवती श्रीराधा जी की ही कृपा से मेरे मन में स्फुरित हुई है, मुझे आशा है कि इस श्रीराधा जी द्वारा प्रदत्त मेरी प्रतिभा प्रसूत व्याख्या से श्रीराधामाधव कृपापात्र श्रीवैष्णवजन निश्चितरूप से मुझे आशीर्वाद देंगे। भले ही यह मेरा व्यक्तिगत सिद्धान्त है, मैं आग्रह नहीं कर रहा परन्तु कह रहा हूँ। पाँचो सम्बोधन श्रीराधारानी में संघटित होंगे ''**कतीनां समूहः कात्यः**'' क्योंकि राधा भगवती भगवान् श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं और शेष जो भी भगवान् की पत्नियाँ हैं या जो भगवान् श्रीकृष्ण से स्नेह करनेवाली महिलायें हैं वे सब भगवती श्रीराधारानी के श्रीशरीरसौन्दर्य की परमानुभूति हैं। राधारानी कितनी महान् हैं उनकी कैसी महत्ता है कि जिनके कभी–कभी अंचल का स्पर्श करनेवाला पवन जब बरसाने से उठकर नन्दगाँव मे श्रीकृष्ण भगवान् के श्रीविग्रह का स्पर्श करता है तब भगवान् श्रीकृष्ण अपने को कृतार्थ मान लेते हैं कि अरे! आज तो मेरा दिन धन्य हो गया क्योंकि मुझे उस पवन ने छुआ है जो राधारानी के अंचल को छूकर आ रहा है। अतएव यहाँ महामाया शब्द श्रीराधारानी के लिए ही प्रयुक्तव्य है ''**महती माया यस्या सा महामाया**''। श्रीराधारानी की लीला का कोई अन्त नहीं है और ऋग्वेद के परिशिष्ट मे भी राधारानी की बड़े ही समारम्भ के साथ चर्चा की है। ''**राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेस्वा**'' अब भगवान शुकाचार्य गोपियों के दैनिक दिनचर्या का वर्णन करते हैं। गोपियाँ चार घड़ी रात के अवशेष रहते ही उठ जाती हैं। वे अपनी–अपनी

सहेलियों को बुलाकर इकट्‌ठा करके एक–दूसरे के गले मे हाथ डालकर भगवान् श्रीकष्ण को गाती हुई प्रतिदिन भगवती श्रीयमुना मे स्नान करने के लिए जाती हैं। यथा–

''उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्।।''

इसका तात्पर्य यह है कि गोपियाँ अपने गोत्रों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनों को जा रही हैं, भगवान श्रीकृष्ण को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए जा रही हैं अथवा यहाँ **'गोत्रैः'** शब्द का अन्वय 'कृष्णं' के साथ है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण को पति मानकर अपने को पत्नी मानकर अपने नाम के साथ कृष्ण भगवान् का नाम जोड़ती हैं और उसी प्रकार के गीत गाती हैं। इस प्रकार उन्होंने एक मास का व्रत पूर्ण कर लिया। प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई आ गई पूर्णिमा, वह भी मार्गशीर्ष की। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आज गोपियों के व्रत को पूर्णता प्रदान करनेवाले हैं। अतः वेदव्यास जी ने लिखा–

''नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा।।''

अर्थात् किसी दिन किसी विशिष्ट दिन (पूर्णिमा के दिन) यमुना जी के पास आकर पहले की ही भाँति अपने वस्त्रों को यमुना जी के तट पर रखकर श्रीव्रजांगनायें भगवान् श्रीकृष्ण को ही उच्च स्वर मे गाती हुई प्रसन्नतापूर्वक जल मे विहार करने लगी, स्नान करने लगीं। यहाँ वेदव्यास जी के लेखनी के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि गोपियों ने अपने वस्त्र यमुना जी के तट पर रखे परन्तु इस उक्ति से यह तो नहीं सिद्ध हो पाता कि गोपियों ने अपने पहने हुए वस्त्र यमुना जी के तट पर रखे। **''तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्''** यह उक्ति यह तो नहीं सिद्ध कर रही है कि रात को पहने हुए वस्त्र को ही गोपियों ने यमुना तट पर रखा। क्या गोपियों को यह विवेक नहीं है कि रात्रि के पहने हुए वस्त्र पूजा के उपयोग मे नहीं आ सकते? हम फिर निवेदन करते हैं कि जो कुमारियाँ यह जानती हैं कि कात्यायनी की पूजा के बिना श्रीकृष्ण की प्राप्ति उनके लिए सम्भव नहीं है, जो यह जानती हैं कि कात्यायनी की पूजा में मंत्र व्रत अपेक्षित है। जो यह भी जानती हैं कि नाना प्रकार के धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प आदि देवी की पूजा में लगते ही है अनिवार्य रूप से। जो कात्यायनी जी की पूजा के समय निर्धारण का भी विवेक रखती हैं अर्थात् ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सूर्योदय के चार घड़ी पूर्व भगवती कात्यायनी जी की पूजा करती हैं। जिन्हें यह ज्ञान है कि स्नान के बिना कात्यायनी की पूजा नहीं करनी चाहिए, जिन्हें इतना विवेक है कि मंत्रहीन पूजा फल नहीं देती, जिन्हें यह भी ज्ञान है कि संकल्प के बिना पूजा का फल नहीं मिलता। क्या उनको यह ज्ञान नहीं है कि रात के पहने हुए वस्त्र पूजा मे उपयोगी नहीं होंगे? विषय की स्पष्टता के लिए गोपियों के उस कात्यायनी पूजन विधान को हम यहाँ उपस्थित करेंगे जो भागवत जी के शब्दों मे कहा गया है। यथा–

''आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्।।''

भगवान् शुकाचार्य जी परीक्षित जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे महाराज! व्रज बालायें मूर्ख नहीं हैं। **''अरुणे उदिते''** यहाँ आदि कर्म मे निष्ठा है अर्थात् 'क्त' प्रत्यय अरुणोदय के पूर्व के अर्थ मे किया गया है। अर्थात् सूर्योदय के चार घड़ी पूर्व भगवती यमुना जी के जल मे **''आप्लुत्य''** स्नान करके **''जलान्ते''** यमुना जी के जल के समीप ही **''सैकतीं प्रतिकृतिं देवीं कृत्वा''** बालू की भगवती कात्यायनी जी की मूर्ति बनाकर **''आनर्चुः''**

उन्होंने आदरपूर्वक पूजा की अथवा आदरपूर्वक पूजा करती थीं। अब उस पूजा मे जिन वस्तुओं का प्रयोग करती हैं वे वस्तु हैं–

''गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः।।''

भगवती कात्यायनी की पूजा मे जिन उपकरणों का उपयोग करती हैं वे कितने महत्वपूर्ण हैं। सुन्दर–सुन्दर अलौकिक सुगन्धित पदार्थों से, सुन्दर–सुन्दर मात्राओं से, ''सुरभिभिः'' सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से जो मालायें बनती हैं और धूप दीप और ''बलिभिः'' नाना प्रकार से कात्यायनी के परिवार के पूजा मे उपयुक्त होनेवाले उपकरणों से ''उच्चावचैश्चोपहारैः'' सुन्दर–सुन्दर और ग्रामीण इन दोनों प्रकार के उपहारों से सुन्दर–सुन्दर पल्लव, सुन्दर फल और न टूटे हुए अक्षतों से भगवती कात्यायनी की पूजा करती हुइ सिद्ध मंत्र का जाप भी व्रजांगनायें करती हैं।

''कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरू ते नमः।।''

इस प्रकार के मंत्र का जप करते हुए–

''एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः।।''

इस प्रकार पूजा मे गोपियों को यह भी ज्ञान है कि यदि सम्पूर्ण सामग्रियों के होने पर भी पूजक का ध्यान अपने पूज्य से हट गया तो भी अभीष्ट फल नहीं मिलेगा। इसलिए इस बात का भी ध्यान रख रही हैं कि पूजा करते समय फल से भक्त का मन नहीं हटे और यहाँ एक और रोचक बात है। पूजा कर रही हैं कात्यायनी जी की और चित्त है उनका श्रीकृष्ण मे। इस रहस्य को भी वे जानती हैं कि कात्यायनी श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। कात्यायनी श्रीकृष्ण से अलग नहीं है। जो इतने गूढ़ रहस्यों को जानती हैं क्या उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि बासी अर्थात् रात को धारण किये हुए वस्त्रों को पूजा के उपयोग मे उपयुक्त नहीं माना जाता? यहाँ 'भद्रकाली' शब्द महत्वपूर्ण है। यह यौगिक है इसका अर्थ है **''भद्रं कं कल्याणमयं सुखं यस्मात् स भद्रकः तं आसमन्तात् लाति सा भद्रकाली''** अर्थात् जो परम कल्याणमय सुख को देनेवाले व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र को भक्तों के समक्ष उपस्थित कर देती हैं वे हैं भद्रकाली उन्हीं की गोपियों ने पूजा की। अथवा, **''भद्रं कल्याणमयं श्रीकृष्णं कायन्ति आह्वयन्ति इति भद्रकाः भद्रकाः आल्यः सख्यः यस्याः सा भद्रकाली तां''** अर्थात् निरस्त समस्त हेय गुण प्रत्यनीक सकलकल्याणगुणगणनिलय भद्रपद के पदार्थ श्रीकृष्ण को ही जो निरन्तर अपनेशब्द से बुलाती रहती हैं उन्हीं ललिता आदि राधा सखियों को भद्रका कहा जाता है। वे भद्रका अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम–रूप–लीला–धाम की रटन करनेवाली ललिता आदि जिनकी आलि अर्थात् सखियाँ हैं, उन्हीं वृषभानुनन्दिनी राधारानी को यहाँ 'भद्रकाली' कहा जा रहा है। श्रीव्रजांगनाओं ने उन्हीं भगवती वृषभानुनन्दिनी राधा रानी की पूजा की। अथवा **''कं सुखं आसमन्तात् लाति इति कालः''** अर्थात् परमानन्द सुख का परिवेषण करनेवाले श्रीकृष्ण को ही यहाँ काल कहा गया है। संयोग से वे काले वर्ण के भी हैं और असुरों के लिए काल भी हैं। अथवा, **''संपूर्णाः कलाः सन्ति यस्मिन् इति कालः''** इस व्युत्पत्ति से प्रज्ञादि गण के आकृति गण होने के कारण कला शब्द का भी इसमे पाठ मानकर काल शब्द की निष्पत्ति कर लेनी चाहिए। चूंकि भगवान् श्रीकृष्ण मे समस्त कलायें नित्य विराजमान रहती हैं इसीलिए उन्हें काल कहते हैं

और 'भद्र' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार कहते हैं कि **''भवन् रमयति इति भद्रः''** अर्थात् जो अपनी उपस्थिति मात्र से समस्त चराचर को अपने अमन्दानन्द सिन्धु मे रमा देता है वही है भद्र। ऐसे समस्त कलाओं के आश्रय, असुरों के कालस्वरूप, कृष्णवर्ण वाले, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही भद्र बनकर श्रीराधा के समक्ष उपस्थित हुए हैं **''भद्रः कालः यस्याः सा भद्रकाली''**। अथवा निरन्तर प्रभु के परम पावन परिष्वंग के कारण राधा जी के तीनों काल, भूत–वर्तमान–भविष्यत् भद्र ही हैं। इसीलिए उन्हें भद्रकाली कहा जाता है **''भद्राः कालाः यस्याः सा भद्रकाली''**। यहाँ आकृति गणत्वात् गौरादिगण मे पाठ मानकर **''षिद् गौरादिभ्यश्च''** पा. अ.४/१/४१. इस पाणिनी सूत्र से ङीष् समझना चाहिए। गोपियाँ उन राधारानी की पूजा करती हैं। वे कहती हैं **''भूयान्नन्दसुतः पतिः''** नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमारे पति हों, ऐसा आशीर्वाद माँगती हैं। यहाँ **'भूयात्'** शब्द साभिप्राय है इसके स्थान पर गोपियाँ **'भवेत्'** शब्द का भी प्रयोग कर सकती थीं, परन्तु **'भूयात्'** कह कर व्रजांगनाओं ने कुछ अपूर्व ही व्यंजना की है। यहाँ विधि लिङ् का प्रयोग नहीं है, क्योंकि यहाँ निमन्त्रण या आमन्त्रण के पक्ष मे गोपियाँ नहीं है। उन्हें किसी को कामाचार की अनुज्ञा नहीं देनी है, इससे उन्हें अभीष्ट की सिद्धि नहीं है, वे किसी से पूछ नहीं रही हैं और माँग भी नहीं रही हैं। वे भगवती कात्यायनी से आशीर्वाद चाह रही हैं। **''आशीषि लिङ्लोटौ''** पा.अ. ३/३/१७३. यहाँ आशीर्वाद के अर्थ मे लिङ्लकार का प्रयोग हुआ है, **''भूयान्नन्दसुतः पतिः''** हे भगवति! आप आशीर्वाद दें, नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही पति रूप मे 'भूयात्' हों अथवा 'भूयात्' प्रकट हों। अब अधिक विलम्ब हमसे नहीं सहन होगा। नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र पति रूप मे हमारे समक्ष 'भूयात्' अर्थात् प्रकट हो जायें। ऐसे ही मनोरथ हैं गोपियों के। यहाँ 'नन्दसुतं' शब्द भी बहुत साभिप्राय है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पतिभाव रखती हैं इसीलिए मुख्य नाम नहीं लेतीं, अन्यथा वे कह सकती थीं कि **''भूयात् कृष्णः पतिर्मम''**। **'नन्दसुतः'** कहने मे श्रीव्रजांगनाओं के कदाचित् दो अभिप्राय रहे होंगे। प्रथम तो यह कि गोपियाँ, ग्वालों की कन्यायें हैं और श्रीनन्दबाबा भी गोपाल हैं। अतः उन्हीं नन्दराय के आयुष्मान् श्रीकृष्णचन्द्र को वे पतिरूप मे चाहती हैं, क्योंकि व्रजांगनाओं को अन्तर्जातीय विवाह मे आस्था नहीं है और वे **''नन्दसुतः पतिः''** शब्द का प्रयोग करके अन्तर्जातीय विवाह संस्कृति को स्वीकार करने के पक्ष मे नहीं हैं। और उनका दूसरा अभिप्राय यह है कि वे सामान्य जीवात्मा को पतिरूप मे वरण करना नहीं चाहतीं। अतः 'नन्दसुतः' शब्द मे गोपियों को बहुव्रीहि समास अभीष्ट है, **''नन्दन्ति भगवद् भजनानन्दं अनुभवन्ति ये ते नन्दाः भागवताः त एव सुताः यस्य स नन्दसुतः''** परिपूर्णतम् परब्रह्म परमात्मा 'पतिर्भूयात्' अर्थात् भगवद् भजनानन्द का अनुभव करनेवाले श्रीवैष्णव जन ही जिनके सुत अर्थात् पुत्रवत् वात्सल्य भाजन हैं वे ही परमात्मा पतिरूप मे प्राप्त हों। गोपियों की यही छाया भगवती मीरा बाई पर दिखती है–

''ऐसे वर को को वरै जो जन्मे और मर जाये।
मीरा वरै गोपाल को जहँ चूड़ो अमर होइ जाये।।''

यदि गोपियाँ इतने महत्वपूर्ण संकल्प को समाहित कर सकती हैं तो उनको यह भी स्मरण रखना ही होगा कि रात्रि के वस्त्र पूजा के उपयोग मे नहीं आ सकते। इसीलिए गोपियाँ निर्वस्त्र होकर यमुना मे स्नान कर रही थीं, यह बात गले नहीं उतरती विशेषकर मेरे। भले ही टीकाकारों ने लिखा हो और व्याख्याकारों ने उसकी व्याख्या की हो। मैं अभी उनकी टीकाओं और व्याख्याओं की कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता, परन्तु अपनी बात कहने के लिए मे पूर्ण स्वतंत्र हूँ, वह भी अशास्त्रीय नहीं शास्त्रसम्मत। मुझे कभी–कभी

टीकाकारों की बुद्धि पर दया आती है। उन्होंने किस अभिप्राय से यह निर्णय लिया होगा कि गोपियाँ निर्वस्त्र होकर यमुना जी में स्नान कर रही थी वे तो वही जाने, परन्तु यहाँ की परिस्थिति देखने पर कोई भी ऐसा शब्द नहीं उपलब्ध हो रहा है जिससे यह सिद्ध होता हो कि गोपियों ने वस्त्रहीन होकर यमुना जी में स्नान किया है। देखते हैं भागवत जी के शब्द रत्नों को। भागवतकार कहते हैं कि गोपियाँ प्रतिदिन तो यह नियम करती ही थीं जिस दिन व्रत की पूर्ति का समय आया तो पहले की ही भाँति श्रीव्रजांगनाओं ने श्रीयमुनाजी पर पधार कर अपने वस्त्र यमुना जी के तट पर पधरा दिए।

''नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा।।''

अर्थात् कदाचित् किसी दिन तात्पर्य यह है कि व्रत के पूर्ण होनेवाले दिन पूर्णिमा के दिन पूर्व की भाँति आकर **''नद्याः तीरे''** भगवती यमुना जी के तट पर पूर्ववत् पूर्व की भाँति वासांसि वस्त्रों को **''निक्षिप्य''** किसी निश्चित स्थान पर पधरा कर **''कृष्णं गायन्त्यः''** श्रीकृष्ण जी को गाती हुई **''सलिले''** यमुना जी के जल में **''मुदा''** आनन्दपूर्वक **''विजह्रुः''** गोपियाँ विहार करने लगीं, स्नान करने लगीं। **''नद्याः तीरे वासांसि निक्षिप्य''** इन शब्दों के आधार पर यह कैसे निश्चय किया जाये कि गोपियों ने अपने पहने हुए वस्त्र यमुना जी के तट पर रखे? क्या स्नान के पश्चात् पहने जानेवाले वस्त्रों को वह नहीं रख सकतीं? आज भी समाज मे यह देखा जाता है और विशेषकर सनातनधर्मी जनता के जीवन मे ऐसे प्रसंग आते हैं कि विशेष पर्व पर जब हम किसी विशिष्ट पुण्य जलाशय मे स्नान करने जाते हैं तो साथ में सूखे वस्त्र भी ले जाते हैं और उन्हें जलाशय के तट पर रखकर अपने पूर्व रात्रि के पहने हुए वस्त्र के साथ जलाशय मे स्नान करते हैं और उसके पश्चात् तट पर आकर वस्त्र परिवर्तन करते हैं। पूजा सूखे वस्त्र से की जाती है कोई विशिष्ट ही ऐसी पूजा होती होगी जिसे आर्द्र वस्त्र से किया जाता होगा। सामान्यतः गीले वस्त्र से पूजा करने का विधान नहीं है और वह भी बासी वस्त्रों से तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव **''वासांसि नद्याः तीरे निक्षिप्य''** इन तीनों शब्दों से यही अर्थ निकलता है कि गोपियों ने स्नान के पश्चात् पहने जानेवाले अपने पवित्र सूखे वस्त्रों को यमुना जी के तट पर पधरा दिया और फिर वे रात्रि के पहने हुए वस्त्रों के साथ ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान करती हुई जल मे विहार करने लगीं। आज भी सनातन धर्मावलम्बिनी भद्र हिन्दू महिलायें श्रीगंगा आदि नदियों मे स्नान करते समय भगवान् के नाम का उच्चारण करती रहती हैं और कई महिलायें तो श्रीसीताराम अथवा श्रीराधेश्याम नाम की 108 मंत्र की माला करती हुई श्रीयमुना आदि नदियों मे स्नान करती हैं। गोपियों ने भी इसी परम्परा का निर्वहन किया और साथ ही **''वासांसि तीरे निक्षिप्य''** का एक और फल निकलता है कि गोपियों ने श्रीव्रज की संस्कृति का अनुकरण किया। आज भी श्रीव्रज प्रान्त मे भद्र हिन्दू महिलायें वस्त्रों के साथ–साथ ओढ़नी रखती है और ओढ़नियों को निरन्तर धोया नहीं जाता। सामान्य वस्त्र धारण कर वे गई जिन्हें पहन कर शयन किया था। उनके साथ यमुना जी मे स्नान किया परन्तु स्नान के पूर्व अपनी ओढ़नी और स्नान के पश्चात् पहने जानेवाले शुद्ध वस्त्र यमुना जी के तट पर रख दिया। कदाचित् **''विवस्त्रा''** शब्द सुनकर या देखकर टीकाकारों और व्याख्याकारों को एक व्यर्थ का व्यामोह हो गया होगा। इस प्रसंग मे दो बार **''विवस्त्रा''** शब्द का प्रयोग हुआ है। पहला प्रयोग भगवान् श्रीकृष्ण जी के मुख से काराया गया है और दूसरा 'विवस्त्रा' शब्द स्वयं शुकाचार्य के मुख से प्रयुक्त हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं **''यूयं विवस्त्रा यदपो धृतवृता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्''** अर्थात् तुम लोग विवस्त्रा होकर ही

श्रीयमुना जी के जल मे बहुत देर तक स्नान करती रहीं। वह जल के देवता का अपमान हुआ और आगे चलकर "**मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिं**" अर्थात् विवस्त्राओं के द्वारा जल मे स्नान करना, तैरना ये व्रत की च्युति है। गोपियों ने यह बात मान ली। यहाँ "**विवस्त्रा**" शब्द से गोपियों को निर्वस्त्र कहा जाए ये तो बुद्धि की दुर्बलता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि 'वि' शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं तो उनमे क्या विशिष्ट शब्द नहीं हो सकता। यहाँ "**विवस्त्रा**" का अर्थ विगत वस्त्र करना सर्वथा अनुचित है। गोपियाँ विगत वस्त्र नहीं। "**विवस्त्रा**" का अर्थ विगत वस्त्र नहीं विवस्त्रा का विशिष्ट वस्त्रा अर्थ करना चाहिए। विशिष्ट वस्त्र यानि कटि वस्त्र धारण करके जिसे ब्रज की भाषा मे लहंगा कहते हैं। लहंगा आदि धारण करके यमुना जी मे स्नान किया और चुनरी आदि उपवस्त्रों को उन्होंने पश्चात् पहने जानेवाले वस्त्रों के सहित यमुना जी के तट पर रख दिया था। दुर्भाग्य यही है कि थोड़ी सी असावधानी मे व्याख्याकारों ने सनातनधर्मी और सनातन धर्म को बहुत बड़े अनर्थ के गड्ढ़े में ढ़केला। इससे कितना लोकापवाद हुआ। सहस्रों वर्षों से श्रीकृष्ण के प्रति नाना प्रकार के किचड़ उछाले जा रहे हैं। सनातन धर्मावलम्बी अपमानित हो रहे हैं। आज के कैलेण्डरों मे भी इतने विभत्स चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिन्हें देखकर आज के पढ़े लिखे लोगों को भगवान् के प्रति अनास्था भी हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण वस्त्र को लेकर चले गये। गोपियाँ उनसे वस्त्र माँग रही है। उनके शरीर पर वस्त्र नहीं है यह कितनी अश्लील घटना हो सकती है। इसका पर्याकलन टीकाकार नहीं कर पाये। व्यक्तिगत वासना को भगवान् से जोड़ देना यह बहुत बड़ा अन्याय है। यह रस की परिभाषा नहीं है। रस की परिभाषा करते समय शास्त्र ने रस की एक मर्यादा का वर्णन किया है। यदि गोपियों के वस्त्र को हरण करने का ही श्रीकृष्ण भगवान् का संकल्प होता तो वे उनके पास अकेले जाते। यदि वे श्रीकृष्ण उनको कान्ता पत्नी मानते हैं तो पत्नी और पति के बीच की संवेदनशील घटनाओं के साक्षी और लोग तो नहीं हो सकते। यह भारतीय वैदिक मर्यादा के भी सर्वथा विरूद्ध है, क्योंकि विदेशियों की भाँति भारतीय सभ्यता और भारतीय संस्कृति मे उच्छृंखल संयोगों को कभी अनुमति नहीं दी जाती और न दी गई। इन्हीं श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग को हम देखें तो हमारे कथन की पूर्णतः पुष्टि हो जायेगी। यद्यपि नलकुवर और मणिग्रीव अपनी ही स्वीकृत स्त्रियों के साथ जल मे विहार कर रहे थे। वे भी निर्वस्त्र होकर निर्वस्त्रा स्त्रियों के साथ निर्लज्जतापूर्वक मदिरा के नशे में सुध–बुध खोकर गंगा जी के जल मे स्नान कर रहे थे। इस घटना को देखकर सर्वथा तटस्थ रहनेवाले नारद जी को क्रोध आया और उन्होंने नलकुवर मणिग्रीव को अर्जुन वृक्ष होने का श्राप दे डाला। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में अश्लील परिस्थितियों की कभी भी स्वीकृति नहीं है। यदि टीकाकारों और व्याख्याकारों के टीकाओं और व्याख्याओं के अनुसार यही मान लिया जाये कि गोपियों ने निर्वस्त्र होकर स्नान किया और उनके वस्त्र श्रीकृष्ण ले गये और उसी परिस्थिति मे गोपियों को यमुना जी से बाहर आने मे श्रीकृष्ण ने विवश किया तो फिर नलकुवर, मणिग्रीव के प्रसंग मे और इस प्रसंग मे क्या अन्तर रह जायेगा? इसी के समनान्तर परिस्थिति मे नारद ने वहाँ श्राप दिया और यहाँ किसी देवता ने या और किसी ने स्पष्ट विरोध क्यों नहीं किया? वहाँ तो नलकुवर, मणिग्रीव के चरित्र पर थू–थू हुई यहाँ श्रीकृष्ण के चरित्र पर थू–थू क्यों नहीं की? इससे भी यह सिद्ध होता है कि नलकुवर, मणिग्रीव के घटना की पुनरावृति भगवान् श्रीकृष्ण कैसे करेंगे और गोपियाँ कैसे करेंगी? मुझे टीकाकारों की टीकाओं पर बहुत आक्रोश है। उन्होंने इस परिस्थिति की गम्भीरता का अध्ययन क्यों नहीं किया? श्रीधर से लेकर वंशीधर पर्यन्त टीकाकार और बीसवीं सदी के बड़े–बड़े धुरन्धर परमहंस परिव्राजकाचार्य व्याख्याकार इस

परिस्थिति को जिस घिनौने रूप मे प्रस्तुत करते रहे हैं निश्चित रूप से उससे सनातन धर्म का बहुत अपमान हुआ है। आगे के प्रसंग को भी देखना यहाँ बहुत अनिवार्य होगा और मे यहाँ के किसी भी विषय–वस्तु को छिपाने के पक्ष मे नहीं हूँ। पुस्तक खुली होनी चाहिए, निर्णय करना जनता जनार्दन का अधिकार है। हमारा कर्त्तव्य तो केवल वस्तु स्थिति को जनता के सामने ठीक–ठीक से परोस देने का ही है। भगवान श्रीकृष्ण अकेले नहीं आये थे।

''भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेस्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये।।''

अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छहों विशिष्ट गुणों की समग्रता के एकमात्र आधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों के व्रत की पूर्णता का अभिप्राय समझकर भगवती कात्यायनी की पूजा से संतुष्ट होकर गोपियों के उस कर्म की सिद्धि के लिए अपने मित्रों के साथ यमुना जी के तट पर पधारे। गोपियाँ तन्मय होकर यमुना जी मे स्नान कर रही थीं। उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान् को यमुना जी के तट पर विराजमान नहीं देखा और श्रीकृष्ण उनके कर्म की सिद्धि के लिए एक सुन्दर सा उपाय सोचकर आये। वे जानते थे कि इन्हें यदि मेरे साथ खेलना है, इन्हें मेरे भाव मे रम जाना है तो इसके लिए गोपियों के पांचभौतिक शरीर बहुत उपयोगी नहीं होंगे। जैसे अपने श्रीविग्रह का दर्शन कराने के लिए भगवान् को अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान करने की आवश्यकता पड़ गई और उन्होंने स्वयं कहा कि **''न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।''** अर्थात् हे अर्जुन! तुम इस साधारण नेत्र से तो मुझे नहीं देख सकते इसलिए स्वयं को दिखाने के लिए मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे रहा हूँ। इससे तुम मेरे ऐश्वर्य सम्पन्न रूप को देख सकोगे। ठीक उसी प्रकार भगवान् ने यहाँ भी निर्णय लिया कि गोपियाँ हाड़–माँस से बने हुए इस पांचभौतिक शरीर से तो मेरे साथ नहीं रम सकती। **''देवो भूत्वा देवं यजेत्''** देवता बनकर देवता की पूजा करनी चाहिए। इसलिए गोपियों को दिव्य रूप देना पड़ेगा। अतएव गोपियों के वस्त्रों मे और गोपियों के उस चुनरी मे उनके पांचभौतिक शरीर का उन्होंने संकल्प किया, आह्वान किया और गोपियों के चुनरी और उनके स्नान के पश्चात् पहने जानेवाले वस्त्रों के माध्यम से ही गोपियों के शरीर से उनकी पांचभौतिकता भगवान् ने समाप्त कर दी। पंचरंगी चुनरी ले ली और गोपियाँ भगवान् के सम्बन्ध मे यही गा रही थीं जिसे मीरा ने गाया **''कृष्णं गायन्त्यः सलीले मुदा विजह्रुः''** श्रीकृष्ण को गाती हुई गोपियाँ प्रसन्नतापूर्वक जल मे विहार करने लगीं। कैसे गाया होगा? **''कृष्णं गायन्त्यः''** का लगता है मीरा जी ने पूर्ण साक्षात्कार किया होगा जो गोपियों ने गाया, क्योंकि मीरा भी तो गोपी थीं। शास्त्र की आज्ञा है कि मीरा जी कोई साधारण महिला नहीं थी। वे भगवती राधा जी की आठ सखियों मे चम्पकलता नामक सखी हैं जो कलियुग में मीरा के नाम से प्रस्तुत हुईं और मीरा जी के पूर्व अवतार की चर्चा तो भक्तमालकार श्री नाभा जी ने किया। **''प्रगट गोपिका प्रेम सबहि कलयुगहिं देखायों''**। इसलिए द्वापर के गोपियों का पूर्ण साक्षात्कार मीरा जी के चरित्र में हो जाता है। गोपियों ने लोकलाज का परित्याग किया उसी प्रकार मीरा जी ने भी किया। जैसे गोपियाँ निर्भय रहीं उसी प्रकार मीरा भी **''लोक लाज कुलश्रृंखला तज मीरा गिरिधर भजी''**। थोड़ा सा अन्तर पड़ा गोपियाँ गोवर्धन धारण के पूर्ववाले भगवान् का आनन्द करती थीं अर्थात् गोपियाँ मुरलीधर भगवान् को भजती थीं और मीरा ने गिरिधर को भजा। गोपियों को मुरली हाथ मे लिए हुए भगवान् भाते थे और मीरा को गोवर्धन हाथ मे लिए हुए भगवान् भाये परन्तु बात दोनों की एक ही है। एक ही श्याम वह मीरा के भी हैं और राधा के भी। इसलिए गोपियाँ

जो श्री यमुना जी मे स्नान करती हुई गा रही थीं कदाचित् उसका पूर्ण साक्षात्कार मीरा जी ने किया और गाया–

"श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया.....२
लाल न रंगाउँ मैं तो हरी न रंगाउँ,
श्यामल रंग में रंग दे चुनरिया २
श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया।।"

अपने श्याम पिया से गोपियाँ अपनी चुनरी रंगने की प्रार्थना कर रही हैं और कहती हैं कि ऐसे रंग की जिस रंग को कोई छुड़ा नहीं सके–

"ऐसे रंग दे जो कभी नहीं छुटे,
धोबिया धोये चाहे.....२
सारी उमरिया रंग दे चुनरिया,
श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया।।"

उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब तक चुनरी रंग नहीं दोगे मैं घर नहीं लौटूँगी "

बिना रंगाये मैं तो घर नहीं जाऊँगी,
बितिही जाये चाहे.....२
सारी उमरिया रंग दे चुनरिया,
श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
हरि चरनन मे २
लागी नजरिया रंग दे चुनरिया,
श्याम पिया मोरी रंग दे चुनरिया।।"

वस्तुतः गापियों के पांचभौतिक शरीर को रंगने के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके वस्त्र ले लिए। वहाँ का वाक्य देखिए, **"तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः"** भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों के वस्त्र का उपादान अर्थात् स्नान के पश्चात् जिन वस्त्रों को गोपियाँ पहनना चाह रही हैं उन वस्त्रों को तो भगवान् श्रीकृष्ण ले गए। वो भी कदम्ब वृक्ष के ऊपर ले गए। उसको वहाँ नीप शब्द से सम्बोधित किया। **"नितरां इं काम वासनां पिवति"** अथवा, **"नीचां वासनां पिवति इति नीपः"** जो नीच वासना को पी जाता है जो शुद्ध श्रीकृष्णचन्द्र को ही अर्पित करता है वह है नीप जिसे कहते हैं कदम्ब। उस कदम्ब पर भगवान् विराजमान हो गये। वहाँ गोपियों से उन्होंने परिहास किया। इसका एक ही तात्पर्य है जो बहुत स्पष्ट है। यह घटना श्रीमद्भागवत जी के दशम स्कन्ध के २२वें अध्याय की है और मुझे लगता है कि २२वें अध्याय मे शुकाचार्य जी ने इस घटना का उल्लेख इसलिए किया क्योंकि गीता जी के द्वितीय अध्याय के २२वें श्लोक के महातात्पर्य को यहाँ प्रकट करना था। गीता जी के द्वितीय अध्याय के २२वें श्लोक मे भगवान् श्रीकृष्ण ने शरीर को वस्त्र माना है–

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार से मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार यह जीवात्मा भी पुराने अर्थात् जीर्ण प्रारब्धों वाले शरीरों को छोड़कर नये शरीर धारण कर लेता है। भगवान् आज गोपियों से यही कह रहे हैं कि आगे चलकर तुम्हें हमारी पत्नी बनना है तो पत्नी को पति प्रथम भूमिका मे वस्त्र देता है। इसलिए अब मैं आपको ऐसे वस्त्र दे रहा हूँ जो न कभी फटेंगे और न कभी गन्दे होंगे।

कबीर चदरी की बात करते हैं **''झीनी–झीनी बिनी चदरिया''** और उन्हें गौरव है कि और सबने इस चदरी को ओढ़–ओढ़कर गन्दी कर दी पर भगवान् के दास इसे इतना यत्न करके ओढ़ते हैं कि उसको जैसी की तैसी भगवान् को लौटा देते हैं–

''सोइ चदरी सुर नर मुनि ओढ़ी,
मैली – मैली कर दिन्हीं चदरिया,
किन्तु दास कबीर जतन कर ओढ़ी,
ज्यों की त्यों धर दिन्हीं चदरिया।।''

परन्तु गोपियों का भगवान् के साथ कान्ताभाव है वे चदरी से संतुष्ट नहीं होंगी उन्हें तो चुनरी चाहिए। वो भी रंग–बिरंगी क्योंकि उनका अखण्ड सौभाग्य है। वे जानती हैं कि–

''ऐसे वर को को वरै जो जनमे और मर जाये,
मीरा वरै गोपाल को जहाँ चूड़ो अमर हो जाये।।''

वे अखण्ड सौभाग्यवती रहेंगी, अनन्तकाल तक उन्हें अखण्ड सौभाग्यवती रहना है। इससे उनको रंगीन चुनरी चाहिए। सफेद चुनरी से वे संतुष्ट होनेवाली नहीं हैं। अतएव गोपियों ने भगवान् से प्रार्थना की हे प्रियतम! हमारी चुनरी को रंग दो और भगवान ने भी गोपियों की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इसलिए चुनरी रंगने के लिए ही उसे ले गए। सामाजिक दृष्टि से भी यहाँ भगवान् का एक तात्पर्य रहा होगा। वह युग आतंकवाद का युग था दानवी शक्तियाँ सक्रिय होकर सनातन धर्म और सनातन धर्मावलम्बियों की क्षति करने मे लग गई थी। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने कदाचित् विचार किया होगा ये सभी हिन्दू संस्कृति से पाली–पोषी हिन्दू संस्कृति मे रची–बसी भारतीय ललनायें हैं, इनकी चुनरी को कहीं यदि किसी दानव ने स्पर्श भी कर लिया तो हिन्दू संस्कृति का बहुत बड़ा अपमान होगा। अतएव भगवान् ने कहा करोड़ों राक्षस आकर भी अब तुम्हारी चुनरी को स्पर्श नहीं कर सकेंगे। इसको हमने ले लिया है और एक संकेत था आप सबको इस प्रकार इस असहाय अवस्था मे एकान्त मे स्नान करने के लिए नहीं आना चाहिए। किसी न किसी सहायक को लेकर आना चाहिए। गोपियों ने कहा हमनें कोई गलती नहीं की। क्यों? भगवान् कहते हैं, आप तो अबला हैं– **''अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** हे अबलाओं! यहाँ आकर **''कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** निश्चित रूप से अपने–अपने वस्त्र ले जाइये। **''प्रकर्षेण गृह्यताम्''** अब ये चुनरिया रंग दी गई हैं। अब इनका रंग कभी नहीं छूटेगा। ये कभी अब तुमसे अलग नहीं होंगी। भुशुण्डी जी की भाँति हमने तुम्हें अमर कर दिया है। अब शरीर परिवर्तन का कोई झंझट नहीं होगा। अतः **''कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** विष्णु सहस्रनाम मे काम भगवान् का भी एक नाम है **''कामः कामप्रदः''** विष्णुसहस्रनामस्तोत्र ४५.। यहाँ एक संकेत है **''कामं वासः''** कामात्मक वास अर्थात् अब आपके वस्त्र भगवन्मय हो गये। अब आपके वस्त्र मे मैं प्रविष्ट हो गया। अब मैं ही वस्त्र हूँ, इसलिए इन वस्त्रों को ले जाने मे अब कोई आपत्ति नहीं है, आप यहाँ आकर ले जाइये। आप यमुना जी के जल से बाहर निकल आइए। गोपियों ने कहा, तुम झूठ बोल रहे हो। कहा, नहीं **''सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः''** भगवान् गोपियों को आमंत्रण देकर कहते हैं कि, मैं सत्य कहूँगा, (**''लोट् च''** पा.अ.३/३/१६२. सूत्र से आमंत्रण अर्थ मे लोट्लकार हुआ है), असत्य तो मैं बोलता ही नहीं। आप व्रत से कर्शित हो गई हैं, व्रत के कारण दुर्बल हो गई हैं। अब ये व्रत का फल आपको मिल रहा है। 'काम' शब्द जो विष्णुसहस्रनाम मे भगवान् के नाम के रूप में आया है कि व्याख्या करते हुये जगद्गुरुआद्यशंकराचार्यजी ने अपने भाष्य मे कहा कि भगवान् का नाम काम इसलिए है कि

'क' अर्थात् ब्रह्मा, **'आ'** अर्थात् विष्णु, **'म'** अर्थात् शंकर ये तीनों ही भगवान् के नियंत्र्य हैं, भगवान् के अधीन हैं। ये तीनों जहाँ विराजते हैं उसे कहते हैं काम। **''कः ब्रह्मा अः विष्णु मः शिवः एते त्रयः सन्ति अस्य''** तीनों ही जिसके सेवक हैं उन परिपूर्णतम परात्पर परब्रह्म परमात्मा आनन्दकन्द मुकुन्द शतत मुनिजनपरिपीतचरणारविन्दामंदमकरन्द सच्चिदानन्द करुणाकन्द शोभावृन्द परमानन्द नन्दनन्दन वसुदेवनन्दन श्रीशिखिपीच्छमौलि वृन्दावनविथीविहरण परायण नटवर नन्दनागर वृजेन्द्रनन्दन नवनीतचोर श्रीनन्दकिशोर श्रीराधामुखचन्द्रचंचलचकोर श्रीकृष्णचन्द्र कामरूप मे यहाँ व्याख्यायित हो रहे हैं। **''अत्रागत्याबला कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** इस वस्त्र को हमनें ग्रहण कर लिया है। अब ये नष्ट नहीं होंगे। मैं सत्य बोल रहा हूँ, **''सत्यं ब्रवाणि''** झूठ नहीं बोल रहा हूँ। सत्य अर्थात् **''सद्भ्यो हितं सत्यं''** आज मैं वह बोल रहा हूँ, जो सन्तों के लिए हितैषी होगा, क्योंकि आप लोग व्रत से कर्शित हो गई हैं, इसलिए आप आकर ही ले जाइए। **''अत्र आगत्य''** का तात्पर्य क्या है? भगवान् कहते हैं कि वस्त्र इसलिए चाहती हैं आप मुझसे क्योंकि आपका मरण दूर हो जाए और मरण भय तब दूर होगा जब आप मेरी शरण आयेंगी, क्योंकि भगवान् की शरणागति ही जीव की मरणागति को रोक सकती है। **''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** गीता जी ने कहा सम्पूर्ण कर्मों को छोड़कर मेरी शरण मे आ जाओ। यही कर्त्तव्य है और इसलिए भगवान् ने वहाँ व्रज का उदाहरण दिया। **''सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** व्रज का तात्पर्य क्या है? **''व्रज इव आचर''** जैसे श्रीव्रजांगनायें सब कुछ छोड़कर मेरी शरण मे आईं उन्होंने लोक वेद किसी की भी चिन्ता नहीं की। वे जानती थीं की भगवान् जो कह रहे हैं वह सब, लोक वेद सम्मत है। वहाँ तर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार भगवान् यहाँ भी कहते हैं कि **''अत्र आगत्याबला''** अर्थात् यहाँ आकर वस्त्र ले जाइए। मेरी शरण मे आकर वस्त्र ले जायेंगी तो आपका मरण समाप्त हो जायेगा, आप नित्य हो जायेंगी। जीव तभी नित्य हो पाता है जब परमात्मा के शरण मे आता है। यों जीव नित्य है, परन्तु उसका शरीर बदलता रहता है और यहाँ पूर्ण नित्यता चाहिए। **''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विद्धाति कामान्''** कठोपनिषद २/१३. भगवती श्रुति कहती हैं कि नित्य जीवों के बीच भगवान् नित्य हैं अर्थात् जीवों की नित्यता गौण है और भगवान् की नित्यता प्रधान है। जीव आत्मावच्छेदेन नित्य है परन्तु उसका शरीर बदलता रहता है। शरीर नया–नया होता रहता है। अतः शरीरावच्छेदेन वह अनित्य भी हो जाता है और भगवान् कि नित्यता यह है कि भगवान शरीरतः भी नित्य हैं और शरीरी रूप से नित्य तो हैं ही। भगवान् के शरीर का कभी विनाश नहीं होता। भगवान् का शरीर चिदानन्दमय है **''चिदानन्दमय देह तुम्हारी, बिगत विकार जान अधिकारी''** मानस २/१२७/५. इसलिए भगवान् कहते हैं– **''अत्रागत्याबला कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** अपना–अपना वस्त्र ले जाइए। कैसे ले जायें? भगवान् कहते हैं– देखिए जैसा आपका मन हो **''एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः''** भगवान् ने कहा या तो एक–एक कर ले जाइए अथवा एक साथ ले जाइए। मुझे कोई अन्तर नहीं पड़ता। भगवान् कहते हैं कि जरा विश्वास करके प्रतीतिपूर्वक इन की इच्छा कीजिए। आप ये विश्वास कीजिए कि अब इन वस्त्रों का कभी नाश नहीं होगा और हम निरन्तर भगवान् की सेवा की अधिकारिणी नित्य परिकर, बनी रहेंगी। आज भगवान् गोपियों को नित्य परिकर बनाना चाह रहे हैं, इसलिए ले लिया। तो वस्त्रापहरण वास्तव मे भगवान् ने वस्त्रहरण नहीं किया लोगों को लग रहा है। **''तासां वासांस्युपादाय''** उपादाय क्रिया यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ दो उपसर्गों का प्रयोग हुआ है। 'उप' और 'आ' आदाय भी कह सकते थे 'उपादाय' क्यों कहा? इसका तात्पर्य है कि भगवान् यहाँ कुछ और कह

रहे हैं और भागवतकार की भी कुछ और विवक्षा है। मुझे तो ऐसा लगता है यहाँ उप शब्द का अन्वय वासांसि के साथ होगा और अब वाक्य बनेगा **''तासां उपवासांसि आदाय''**। भगवान् गोपियों के उपवस्त्रों को लेकर के कदम्ब पर गये और उपवासांसि का अर्थ होता है चुनरी। उपवस्त्र, जिसे ओढ़ा जाता है उसे उपवस्त्र कहते हैं और जिसे बाँधकर पहना जाता है उसे वस्त्र कहते हैं तो भगवान् उपवस्त्र ले गए। भगवान् **''तासां उपवासांसि आदाय''** और इसी प्रकार जहाँ–जहाँ वासांसि का प्रयोग हो वहाँ–वहाँ उपवासांसि समझ लेना चाहिए। जैसे **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** भगवान् कन्धे पर वस्त्र लटका कर आये। यहाँ भी उपवस्त्र समझना चाहिए। **''वस्त्राणि चैवापहृतानि''** भगवान् वस्त्र ले गए तो वहाँ उप शब्द को समझ लेना चाहिए। **''उपवस्त्राणि''** गोपियों के उपवस्त्र को भगवान् ले गए। **''तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः''** और यहाँ जो सबसे रोचक बात है वो यह है कि यदि श्रीकृष्ण भगवान् को वस्त्र ले जाने ही होते तो मित्रों के साथ क्यों आते? और यदि ऐसा करना ही होता तो प्रभात काल का ब्राह्ममुहूर्त समय क्यों चूनते। क्योंकि दम्पति की अंतरंग क्रीड़ायें तो एकान्त की है। वो सार्वजनिक तो नहीं की जा सकती। जैसा कि हम कह चुके हैं जहाँ ऐसे संवेदनशील प्रकरण सार्वजनिक किये जाते हैं वहाँ ऋषिगण उन्हें दण्ड देते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि नारद जी ने जैसे नलकुवर और मणिग्रीव को शाप दिया क्योंकि उन्हें वे साधारण देव मानते थे और भगवान् श्रीकृष्ण को शाप देने मे डरते होंगे? जी नहीं, ऋषिगण किसी से नहीं डरते और सनातन धर्म के विपरीत होने पर वे भगवान् को भी शाप देते हैं इसके प्रमाण पुराण हैं। श्रीमद्रामचरितमानस मे भी दो कल्प में भगवान् को शाप मिला और एक कल्प में जय–विजय को। जालन्धर कल्प मे वृन्दा ने भगवान् को शाप दिया–

''छल करि टारेउ तासु व्रत, प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहि जान्यो मरम तब, शाप कोप करि दीन्ह।।''

नारद जी ने भगवान् को शाप दिया। **''तासु श्राप प्रभु कीन्ह प्रमाना''** और भगवान् श्रीकृष्ण को भी शाप मिले हैं। महाभारत का प्रसंग है कि स्वयं गांधारी ने भगवान् श्रीकृष्ण को शाप दिया और उस शाप का भगवान ने पालन भी किया। इसलिए ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए कि ऋषिगण भगवान् को शाप देने मे डरते होंगे। जिन नारद की बात हम यमलार्जुन के प्रसंग मे कर रहे हैं उन्हीं नारद ने तो भगवान् श्रीराम को शाप दिया–

''नारद श्राप दीन्ह एक बारा।
कलप एक तेहि लगि अवतारा।।''

और नारद जी स्वीकार करते हैं–

''मोर श्राप करि अंगीकारा।
सहत राम नाना दुख भारा।।''

यदि रामावतार मे नारद प्रभु को शाप दे सकते हैं तो कृष्णावतार मे क्यों नहीं शाप देंगे और वे पात्रता भी रखते हैं। भगवान् को उनके शाप से कोई आपत्ति नहीं होगी। भगवान् स्वयं ब्राह्मण्यदेव हैं। जो भगवान् अपने वक्ष पर भृगु के लात को स्वीकार कर सकते हैं उन्हें नारद जी के शाप से क्या आपत्ति होनी चाहिए। चूँकि नारद जी ने भगवान् को शाप नहीं दिया इससे यह निश्चय होता है कि भगवान् के साथ ऐसी घटना नहीं घटी। यदि घटी होती तो नारद जी शाप देने मे कोई संकोच नहीं करते। इससे हमारे पक्ष की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है कि श्रीकृष्णलीला मे नलकुवर, मणिग्रीव जैसी परिस्थिति नहीं है।

''भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये।।

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन बालैः परिहासमुवाच ह।।''

भा.१०/२२/८,९.

श्रीव्रजांगनायें आज अपने फल को प्राप्त करने के लिए पूर्णरूपेण उद्यत हो चुकी हैं और प्रथम की भाँति ही उन्होंने अपने सूखे वस्त्रों को ओढ़नियों के सहित श्रीयमुना जी के तट पर पधराया और अवभृथ स्नान करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का गान करती हुई प्रेम से विहार करने लगीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका अभिप्राय जान लिया क्योंकि वे योगेश्वर सनकादिकों के भी ईश्वर हैं। इसलिए यहाँ वेदव्यास जी ने भगवान् के लिए योगेश्वरेश्वर शब्द का प्रयोग किया। ''योगेश्वराणामपि ईश्वरः'' और वे कृष्ण भी हैं **''कृषति दुखं''** जो दुःख को समाप्त कर देते हैं।

**''कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते।।''**

इसलिए वे अपने मित्रों के सहित उस स्थान पर आये और तुरन्त **''तासां वासांसि उपादाय''** **''तासां उपवासांसि आदाय''** गोपियों के उपवस्त्रों को उठा लिया और तुरन्त कदम्ब पर चढ़ गये। गोपियों के इस व्यवहार को देखकर श्रीकृष्ण के मित्र बालक भी हंसने लगे। यहाँ पर ''वयस्यैः'' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। जो भगवान् के समान वयस्क बालक थे प्रभु ने उनको साथ लिया था। वे सब सन्त थे और गोपियाँ नित्य सिद्धायें थीं। यहाँ लगता ये है कि पूतना ने जिन बालकों को मार डाला था, वे ही फिर कृष्ण भगवान् के चरणों का आनन्द लेने के लिए व्रज मे जन्मे और उनको भवबन्धन से मुक्त करने के लिए उनमे विशुद्ध रस का संचार करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें आज नित्यसिद्ध व्रजांगनाओं के पास ले आये। यहाँ यह संकेत है कि ये गोपियाँ आचार्या हैं और जब तक जीव को आचार्य नहीं मिलते तब तक उन्हें भगवद्प्राप्ति भी नहीं होती। **''आचार्यवान् पुरुषो वेद''** आचार्यवान् शब्द मे श्रुति ने प्रशस्त अर्थ मे मतुप् प्रत्यय किया है अर्थात् जिन्हें प्रशस्त आचार्य मिलते हैं वे ही परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर पाते हैं। गोपियों जैसा प्रशस्त आचार्य और कौन मिलेगा इन्हें? इसलिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने साथवाले बालकों को भी आज गोपियों के पास ले आये। अद्भुत आनन्द है। हम कह चुके हैं कि २२वें अध्याय की यह लीला जो दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध मे प्रस्तुत हो रही है यह पूर्णरूपेण गीता जी के द्वितीय अध्याय के २२वें श्लोक के महातात्पर्य को कहती है। जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर व्यक्ति नये वस्त्र धारण करता है। उसी प्रकार अनन्तकालीन रासलीला के क्रम मे गोपियों के ये पांचभौतिक शरीररूप वस्त्र जीर्ण न हो जायें इसी दृष्टि से प्रभु ने इन्हें नया अनन्तकालीन नित्यसिद्ध करने के लिए उठा लिया है, हरण नहीं किया, चुराया नहीं। 'हृञ्' धातु का अर्थ प्रापण होता है **''हृञ् प्रापणे''** तात्पर्य यह है कि अब तक जो पांचभौतिक शरीर काम के पास थे उसे प्रभु ने श्याम के पास पहुँचा दिया। अब वे अनन्तकालीन हो जायेंगे नित्य हो जायेंगे। रंग दिया गोपियों के चुनरियों को श्याम पिया ने। भगवान श्रीकृष्ण ने गोपियों को देखा और उनसे विनोद करते हुये एक बात कही **''अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्''** अबलाओं यहाँ आकर अपने वस्त्रों को प्रेमपूर्वक ले जाइये। अबला शब्द कितना मधुर है और भगवान् का यहाँ कितना गोपनीय संकेत भी है कि अब तक तो अबला शब्द की व्याख्या हो रही थी **''नास्ति बलं यासां ता अबलाः''** जिनके पास बल न हो वे अबलायें हैं, परन्तु भगवान्

श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा नहीं अब तो **''अकारो वासुदेवः बलं यासां ता अबलाः''** जिनके स्वयं आनन्दकन्द, व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र जी ही बल हैं, ऐसी हैं आज सौभाग्यवती व्रज की महिलायें। यहाँ अबला शब्द नारी परक नहीं है, क्योंकि ये हैं कुमारिका और वे भी पांच वर्ष से न्यून। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने वस्त्र के ग्रहण करने मे भी ग्रह धातु का प्रयोग किया। उसमे भी 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग किया। ग्रह उपादाने और वहाँ कहा **''प्रगृह्यताम्''** अर्थात् गोपियों अब तक ये तुम्हारे शरीर संसार के कार्य के उपादान रहे होंगे, परन्तु मेरी भक्ति के उपादान नहीं थे। पर आज सौभाग्य से ये मेरी भक्ति के लिए भी प्रकृष्ट उपादान बन चुके हैं, साधन बन चुके हैं। कालीदास ने शरीर को धर्म साधन कहा **''शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं''** (कुमारसंभवम्) परन्तु आज भगवान् की कृपा से गोपियों के शरीर परमधर्म परमप्रेममयी विलक्षणा भक्ति के प्रकृष्ट साधन बन गये हैं। अतः **''प्रगृह्यताम्''** अब ये तुम्हारे भजन मे विरोधी नहीं बनेंगे प्रत्युत् अपूर्व सहायक बनेंगे। मैं सत्य कह रहा हूँ **''सत्यं ब्रवाणि नो नर्म''** मैं असत्य बोलता ही नहीं। तुम सब जानती तो हो। कोई प्रतिबन्ध नहीं है रोक–टोक नहीं है। एक–एक करके ले जाइये अथवा एक साथ आकर ले जाइये। मुझे टीकाकारों और व्याख्याकारों की बुद्धि की दुर्बलता पर दया आती है कि इस परमपावन प्रसंग को उन्होंने काम क्रीड़ा के पूर्व भूमिका के रूप में कैसे व्याख्यायित किया होगा? क्या यही काम का समय है, ब्राह्ममुहूर्त का समय सुन्दर प्रभात बेला जिसमे साधारण भोगी व्यक्ति का भी मन सात्विक हो जाता है। यहाँ तो उपस्थित हो रहे हैं योगेश्वरेश्वर महायोगी परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् कहते हैं इन वस्त्रों को ले जाओ। मैंने कभी असत्य नहीं कहा ये सब जानते हैं **''अनृतं तदिमे विदुः''** मैं असत्य बोलता ही नहीं **''तद् इमे विदुः''** ये सब जानते हैं, अर्थात् ये सन्त हैं सन्त मेरी वास्तविकता को जानते हैं, क्योंकि

''सोई जानइ जेहिं देहु जनाई।
जानत तुमहीं तुमही होइ जाई।।
तुम्हरी कृपा तुमही रघुनंदन।
जानही भगत भगत उर चंदन।।'' मानस २/१२७/३,४.

जिसे परमात्मा अपना वैभव बताना चाहते हैं वही इसे जान पाता है और प्रभु को जानकर साधक प्रभु के लिए हो जाता है। यहाँ 'तुमहीं' शब्द 'तुभ्यं' का तद्भव रूप है। 'तुभ्यं' अर्थात् आपके लिए हो जाता है। आपकी ही कृपा से भक्तगण आपको जानते हैं। ऐसा श्रीरामचरितमानस मे महर्षि वाल्मीकि कह रहे हैं। व्रज के बालक परम भागवत भक्त हैं, अतएव मुझे जानते हैं। मैं कभी भी असत्य नहीं बोलूँगा, ले जाओ। **''तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः''** गोपियाँ प्रेमरस मे भर गयीं, लज्जित भी हुईं। एक–दूसरे को देखा भी। उन्हें प्रभु की इस करूणा पर हँसी आई, परन्तु जल से बाहर नहीं निकली। आकण्ठ जल मे विराजमान होकर प्रभु की इस प्रेम परवशता को वीरांगनायें प्रणाम करने लगीं, अरे! प्रभु की यह कैसी लीला? हम कह चुके हैं कि गोपियों ने अपनी रात्रिकालीन वस्त्र धारण करके ही रखा है। वे निर्वस्त्र स्नान करने यमुना मे कभी नहीं गयीं और न जा सकती थीं। उन्हें यमलार्जुन की घटना का पूर्ण ज्ञान तो था ही और वे इस मर्म से परिचित थीं कि रातकालीन पहने हुए वस्त्रों के द्वारा कभी भी पूजन विधि का संपादन नहीं किया जा सकता। इसलिए निर्वस्त्र होकर स्नान करना तो गोपियों ने कभी सोचा ही नहीं था, यह अफवाह कैसे उड़ाई गई, ये तो उसके उड़ानेवाले ही समझें। गोपियों ने कहा, हे श्यामसुन्दर! हम आपकी दासियाँ हैं जो आप कहेंगे हम वही करेंगीं, **''श्यामसुन्दर ते दास्यः''** यहाँ कुछ टीकाकारों ने 'श्याम' शब्द के स्थान पर दन्त्य पाठ मान कर 'स्याम' कह दिया, उसका भी अर्थ बड़ा अनुकूल है, बड़ा सुन्दर विशेषण है। गोपियाँ कहती हैं, हे

सुन्दर! "**ते दास्यः स्याम**" और हम आपकी दासी बन जायें। यह प्रयोग 'विधिलिङ्' लकार में हुआ है। वो आमंत्रित करती हैं "**विधि निमंत्रणामंत्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्**" पा.अ. ३/३/१६१.यहाँ विधान भी है। जीवात्मा तो परमात्मा का दास है ही। "**दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः**" समस्त प्रत्यगात्मा परमात्मा श्री भगवान् के दास ही तो है। गोपियों का मानना है, अब तक हम संसार की दासियाँ थीं अब तक हम काम की दासियाँ थीं और अब हम आप श्याम की दासियाँ बन जायें "**श्याम ते दास्य स्याम**" यही सुन्दर विशेषण तो कुब्जा ने भी दिया था, "**दास्यस्म्यहं सुन्दर कंस संमता**" भागवत १०/४२/३. हे सुन्दर! मैं कंस के द्वारा सम्मत हूँ फिर भी मे तुम्हारी दासी हूँ। कुब्जा ने जो विशेषण श्याम को दिया वही तो गोपियाँ दे रही हैं। भले ही पूर्व के आलोचकों, टीकाकारों या व्याख्याकारों ने कुब्जा के प्रेम को कुछ न्यून माना हो, पर मैं इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हूँ। कुब्जा का प्रेम न्यून नहीं है। भगवान् के पास पहुँचकर कोई भी भाव अपवित्र हो ही नहीं सकता। अरे जिन प्रभु के श्रीमच्चरणारविन्द मकरन्दभूता रिंगतुंगतरंगा विहितकलिमलभंगा शंकरजटारंगा भगवती गंगा मे गन्दा जल भी मिलकर पवित्र हो जाता है तो उन प्रभु के पास पहुँचकर कोई भाव अपवित्र कैसे हो सकेगा? और यह भी निश्चित है कि जहाँ भाव होता है वहाँ वासना नहीं होती है। भाव और भव मे तो एक ही अन्तर है। जब हमारी भावना संसार से जुड़ती है तो वासना बन जाती है और जब वह भगवान् से जुड़ती है तब उपासना बन जाती है। जिस प्रकार गोपियों का भाव निर्दोष है, उसी प्रकार कुब्जा का भी भाव निर्दोष है। भाव शब्द की यदि पाणिनीय तंत्र के अनुसार व्याख्या की जाये तो इसका यही अर्थ होगा "**भवो नष्टो येन स भावः**" 'शेषे' (पा. अ.४/२/६२.) इस सूत्र से तृतीयान्त भाव प्रकृति से अण् प्रत्यय होगा, अर्थात जिसके द्वारा संसार नष्ट कर दिया जाता है, संसार की वासना नष्ट कर दी जाती है उसे ही तो भाव कहते हैं। शान्त, दास्य, वातसल्य, सख्य तथा मधुर इन पाँचों मे से कोई भी भाव भगवान् के प्रति समर्पित होगा तो वहाँ कोई भी वासना हो ही नहीं सकती। जैसे कुब्जा कामुक है यह कहना भगवदीय दृष्टि से पूर्ण अन्याय है। जैसे गोपियाँ अवतीर्ण हैं गोपियों के बारे मे कहा जा सकता है। गोपियाँ चार प्रकार की हैं, उनमे से कुछ गोपियाँ श्रुतिरूपा हैं, कुछ ऋषिरूपा हैं, कुछ देवकन्यारूपा हैं और कुछ गोपकन्यायें हैं, जो गोलोक की नित्य निवासिनियाँ हैं, इनमे मनुष्यबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

"गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयः ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथंचन।।"

इसी प्रकार, कुब्जा का भी अवतार है भगवती पृथ्वी ही कुब्जा के रूप मे भगवान् के यहाँ सेवा करने के लिए उपस्थित हो रही हैं। उनको दैत्य शासकों ने त्रिवक्रा कर दिया है, विकलांग बना दिया है और वह अब परामात्मा को प्राप्त करके पूर्ण होंगी। अस्तु, कुब्जा के प्रति भागवत मे जो दुर्भगा शब्द का प्रयोग आया है—

"सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अंगरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत।।"भा.१०/४/८८.

यहाँ 'दुर्भगा' शब्द का अर्थ समझने मे भी हम भूल कर रहे हैं। वेदव्यास जी जैसा दूरदृष्टि व्यक्ति, शुकाचार्य जैसा परमहंस, परिब्राजकों का पूज्य चरण क्या उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि भगवान् के पास से आकर कोई भी व्यक्ति अपवित्र नहीं हो सकता, पवित्र ही हो जाता है। यदि गटर का जल भी गंगा जी मे मिलकर पवित्र हो सकता है तो कुब्जा भगवान् के पास आकर अपवित्र कैसे रह जायेगी? अतः वहाँ उन्होंने 'दुर्भगा' शब्द का प्रयोग बहुत जान बूझकर किया है "**दुर्बोधो भगो यस्याः**" 'भग' शब्द का अर्थ यहाँ माहात्म्य

है **"भग श्री काम माहात्म्ये"** अर्थात् जिसके महात्म्य को साधारण लोग नहीं समझ सके वह है दुर्भगा **"दुर्ज्ञेयो भगो यस्याः"**। अस्तु गोपियों ने कहा, हम आपके दासियाँ बन जायेंगी। आप जो कहेंगे हम वही करेंगी, हे धर्मज्ञ! आप हमे वस्त्र दे दें। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत अच्छी बात कही है। **"भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ"** यदि आप हमारी दासियाँ हैं और जो हम कहेंगे आप वही करेंगी, तो हमारी आज्ञा है आप श्रीयमुना जी से बाहर आयें और इस कदम्ब के पास आकर वस्त्र ले लें। गोपियाँ वही कर रही हैं। वस्तुतः यही तो समर्पण है। गोपी भगवान् को पी रही हैं **"गोभिः पिबन्ति"**। गोपियाँ अपनी इन्द्रियों से भगवान् के रस को पी रही हैं, यही तो है गोपियाँ और **"गाः गोरसं पाययन्ति"** इन्द्रियों का रस भगवान् को भी पिलाना चाहती हैं। वस्तुतः भगवान् को भी प्यास है। गोपियों को प्यास है भगवत्रस की और भगवान् को प्यास है भजनरस की। उन्हें भजन का रस नहीं मिलता। नाना प्रकार के नैवेद्य उन्हें कराये जाते हैं। उन्हें भोजन के रस से क्या लेना, वे तो स्वयं रसरूप हैं। रस किसी रस के लिए क्यों आकर्षित होगा? परन्तु श्रुति ने व्यवस्था दी कि परमात्मा रसरूप हैं, परन्तु परमात्मा को भी भक्त के भजनरस की प्यास रहती है। वे रस हैं **"रसो वै सः"** आगे श्रुति ने कहा, **"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"** अयं पद दोनों ओर उचित हो सकता है, अयं अर्थात् जीवात्मा। जीवात्मा उस रसरूप परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दवान हो जाता है और 'अयं' शब्द का यदि परमात्मा के लिए भी अर्थ किया जाये तो कोई आपत्ति नहीं होगी **"रसं ह्येवायं लब्ध्वा"**। 'अयं' हमारे अत्यन्त निकट संबन्धी परमात्मा रस को प्राप्त कर आनन्दित हो जाते हैं अर्थात् भक्ति के रस की प्यास भगवान् को भी लगती है, इसलिए गोपियाँ भगवत् भजन करते–करते उनके इन्द्रियों मे जो रस आ गया है उसे वह भगवान् को पिलाना चाहती हैं। अब वह अपना गोरस संसार को पिलाना नहीं चाहती। इसीलिए तो श्रीव्रज मे यह दोहा प्रसीद्ध है वो कहती हैं–

"चलो सखी तहँ जाइये जहँा बसत व्रजराज।
गोरस बेचत हरी मिले एक पंथ दो काज।।"

वो गोरस बेचेंगी, पर किसको? संसार को बेचने का तात्पर्य है इसका मूल्य देना पड़ेगा। उनके गोरस का मूल्य तो श्रीकृष्ण ही दे सकते हैं संसार उसका मूल्य नहीं चुका सकता है। अतएव रसखान के शब्दों मे गोरस बेचनेवाली को देखकर कन्हैया ने कह दिया,

"आई हो आज नई व्रज मे दधि बेचन
जाओ तो जान न पाइहौ।
लइहौं चुकाय सबै दिन की रसखान
भरी मन मे पछितैहौ।।"

गोपी ने तुरन्त उत्तर दिया–

"आये तेरी न चेरी न तेरी बाबा की
तो क्यों मोहि घेर के पेरी लरइहौ।
जानते हो गोरस चाहो तो खा लो लला
पर ओरस चाहो तो जीति न पाइहौ।।"

गोपी से भगवान् गोरस लेंगे, विल्वमंगल स्वयं इस मंगल क्रीड़ा को देखकर प्रणाम करते हुए कह पड़े–

''विक्रेतुकामा किलगोपकन्या मुरारिपादार्पितचित्तवृत्तिः।
दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति।।''

तीन विशेषणों को देकर गोपियाँ कुछ कहना चाहती हैं, प्रभु! ले लीजिए ये गोरस ले लीजिए। यह तीन प्रकार का गोरस है प्रभु! संसार की दृष्टि से प्रवृत्ति का गोरस, ज्ञानियों की दृष्टि से निवृत्ति का गोरस और वस्तुतस्तु भक्तों की दृष्टि और परमार्थ रूप मे प्रपत्ति का गोरस। गोविन्द यदि हम आपको प्रवृत्ति का गोरस देना चाहते हैं तो लीजिए इसे निवृत्ति की ओर ले जाइये और यदि आप हमारा निवृत्ति का गोरस लेना चाहती हैं तो दामोदर ले लीजिए। जैसे सभी रस्सियों को आपने अपने पेट मे बाँधा वैसे ही हमारे प्रवृत्तियों को ऊपर पेट मे नहीं हृदय मे ले जाइये और यदि प्रपत्ति का गोरस है तो माधव! आप माधव हैं, यह प्रपत्ति का गोरस है इसे ले करके आस्वाद लीजिए। अस्तु गोपियों ने प्रभु की आज्ञा मानी।

''ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः।।''

भा. १०/२२/१७

भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा मान कर गोपियाँ शीत से काँप रही हैं ''वेपिताः'' काँप रही हैं अथवा काँप गई। गोपियाँ क्यों काँपी भगवान् की कृपा तथा अपनी तुच्छता की तुलना कर काँपी। अरे! इतने बड़े कृपालु प्रभु मुझे बुला रहे हैं अपने पास, मैंने क्या किया है? इस जीवन मे कभी–कभी भगवान् की कृपालुता पर भक्त काँप जाता है। जैसे श्रीरामचरितमानस मे अत्रि ने भगवान् के साक्षात् दर्शन किये तो बोल पड़े–

''तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुख पंकज दिये।
मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मे दीख जप तप का किये।।''

मानस ३/६/११.

हमने कौन सा जप–तप किया था जो परमात्मा के दर्शन कर रहे हैं? ये परमात्मा की अहैतुकी कृपा है हमने कुछ नहीं किया है। इसी प्रकार आज कृष्णचन्द्र, व्रजेन्द्रनंदन, श्रीशिखिपीच्छमौलि, रसिकशेखर की इस सहजता और सरलता को देखकर गोपियाँ उनकी कृपालुता पर काँप गई और **''पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य''** और यह शब्द भी बहुत मार्मिक है और दुर्भाग्य है कि इन तीन शब्द को न जानने से सनातन धर्म के सम्बन्ध मे बहुत से बवण्डर उठे और आदरणीय पूर्व टीकाकारों ने भी इन शब्दों के साथ न्याय नहीं बरता। क्योंकि व्यक्ति तो व्यक्ति है, मनुष्य निरन्तर अपने स्तर से ही सोचा करता है। उसकी सोच के लिए उसकी एक निश्चित सीमा होती है। उसकी सीमा दूसरा कोई नहीं बनाने आता है उसकी वासना ही उसकी सीमाओं का निर्धारण कर लेती है। मनुष्य जिस परिवेश मे जीता है उसी परिवेश के अनुसार सीमाओं का निर्धारण कर लेता है। यहाँ 'योनि' शब्द कोई अपवित्र नहीं है, चूँकि जीव भोगवादी है, इसलिए योनि का प्रथम अर्थ उसने स्वीकार कर लिया स्मरागार अर्थ, परन्तु योनि के और भी तो अर्थ हैं। **''योनि स्मरागारे जातावाकरजन्मनोः''** 'योनि' शब्द जाति, आकर और जन्म अर्थ मे भी है। यह मैं पूर्ण आत्मविश्वास से निवेदन कर रहा हूँ कि यहाँ प्रयुक्त 'योनि' शब्द आकर और जन्मस्थान अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। **''पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य''** और यहाँ 'पाणि' शब्द भी बहुत महत्वपूर्ण है। पाणि और हस्तः इन दोनों शब्दों मे शास्त्रकारों ने बहुत अन्तर माना है। हाँ इनको

देखने की आवश्यकता है 'पाणि' शब्द किसे कहते हैं और 'हस्त' किसे कहते हैं इस पर शास्त्र ने एक व्यवस्था दी है। भगवान् पाणिनी भी पाँचवे अध्याय के दूसरे पाद मे हस्त शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि **"हस्ताज्जातौ"** (पा. अ. ५/२/१३३.) 'हस्त' शब्द से जाति अर्थ मे 'इनि' प्रत्यय होकर हस्ती बनता है। हस्त एक वस्तु के ग्रहण का साधन है, वो मनुष्य के हाथ के लिए प्रयुक्त होता है और हाथी के सूँढ़ के लिए भी प्रयुक्त होता है, इसीलिए तो इसे हस्ती भी कहते हैं। वही हाथ यदि मनुष्य के पास होगा तो उसे हस्तवान् कहते हैं, परन्तु 'पाणि' शब्द जो है वह केवल मनुष्य के लिए प्रयुक्त होता है और उसकी व्यवस्था है, **"पाणिर्ज्ञेयं तदेवांगं आस्कन्धं मध्यमांगुलेः"** कन्धे से लेकर मध्यमा अंगुली तक के अवयवों को पाणि कहते हैं और हाथ **"अरत्नेश्च समारभ्य यावच्च मध्यमांगुलेः"** केहुनी से लेकर मध्यमा अंगुलीपर्यन्त भाग को हस्त कहते हैं, इसीलिए कोई वस्तु जब नापी जाती है तो हाथ से नापी जाती है पाणि से नहीं। अतः गोपियों ने अपनी योनि अर्थात भावों की खानिरूप हृदय को अपनी पाणियों से ढ़ँक लिया अर्थात् उस अंग का प्रयोग किया जो समग्ररूप से हृदय को चिपक सके। आज जब बहुत ठंडी लगती है जब बहुत शीत का प्रकोप बढ़ जाता है तो व्यक्ति अपने हृदय को बचाने के लिए दोनों हाथों को अर्थात् स्कन्ध से लेकर अंगुलीपर्यन्त दोनों हाथों का एक साथ प्रयोग करता है और यों वक्ष के दोनों भागों को अपने दोनों पाणियों से ढ़ँक लेता है। वहाँ हाथ का प्रयोग नहीं होता पाणि का प्रयोग होता है। **"पाणौ महासायकचारुचापं"** पाणि उस अंग को कहते हैं जहाँ पर स्कन्ध से लेकर अंगुली तक सम्पूर्ण अंगों का प्रयोग हो रहा हो। भोजन करते समय हाथ का प्रयोग होता है पाणि का नहीं, परन्तु धनुष चलाते समय पाणि का प्रयोग होता है इसलिए **"पाणौ महासायकचारुचापं"** इसी पाणि का पर्याय भुज है, पाणि, भुज, बाहु, किन्तु पाणि को हाथ नहीं कह सकते। पाणि एक व्यापक है और हस्त एक व्याप्य अंग है। इसलिए दोनों पाणियों से गोपियों ने योनि अर्थात् भावों की खानिरूप अपने हृदय को ढ़ँक लिया। अथवा **"पाणिभ्यां"** गोपियों के हृदय मे भगवान् विराजते हैं और इस समय कड़ाके की ठंड लग रही है तो गोपियों को ये लगता है कि यदि हम बाहर आयेंगी तो कदाचित् हमारे हृदय मे रहनेवाले भगवान् को कोई देख न ले, इसलिए उन्होंने दोनों हाथों से ढ़ँक लिया अपने योनि **"शास्त्रयोनित्वात्"** सम्पूर्ण शास्त्रों के जन्मस्थान रूप, जगत् के जन्मस्थान रूप परमात्मा को। **"पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य"** गोपियों ने अब दोनों पाणियों से अर्थात् दोनों हाथों से अपने हृदय को क्यों ढ़ँक लिया? हम कह चुके हैं कि ये गोपियाँ हैं इन्हें गोपनीयता प्रिय है। अतः ये कह रही हैं कि हम परमात्मा को दोनों भावों से ढ़केंगी, लोक के व्यवहार से भी और वैदिक विचार से भी। दोनों से प्रभु को ढ़ँका जिससे लौकिक लोग हमे भोगिनी समझें और वैदिक लोग योगिनी समझें। वस्तुतः गोपियाँ न भोगिनी हैं न योगिनी हैं। वे तो हैं श्यामसुन्दर की वियोगिनी। इस भाव को कोई जान न सके इसलिए दोनों लोक और वेद इन दोनों व्यवहारों से परमात्मा रूप जगत् योनि को **"जन्माद्यस्य यतः"** के महातात्पर्य को ढ़ँक लिया। **"प्रोत्तेरु शीतकर्शिताः"** **"शीतं कर्शितं याभिः"** शीत भी जिनके द्वारा कर्शित हो गया। अब गोपियाँ भगवान् के पास उपस्थित हो गईं। भगवान् श्यामसुन्दर ने गोपियों को निहारा–

> "भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
> स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्।।"
>
> भा. १०/२२/१८.

आज भगवान् गोपियों को देख रहे हैं। वहाँ **''भगवानाह ता वीक्ष्य''** आहता शब्द की भी जिस विभत्स भावना के साथ टीकाकारों ने व्याख्या की उसे देखकर मुझे आश्चर्य होता है। यहाँ आहता का क्या अर्थ है? शीत से आहत गोपियों को भगवान् ने देखा है। वे शीत से आहत हो चुकी हैं, काँप रही हैं। उनके शुद्ध भाव से भगवान् प्रसन्न हो गये। उनमे प्रीति की यमुना का प्रवाह उमड़ पड़ा। वे मुस्कुराने लगे और गोपियों के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण को इतना बड़ा आदर हुआ कि उन्होंने उनके वस्त्रों को अपने कन्धे पर ले लिया **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** और दूसरी दृष्टि से **''हन् हिंसागत्योः''** (पा. धातुपाठ १०१२) आज भगवान् देखने के लिए आहत हैं अर्थात् 'हन्' धातु के दोनों अर्थों का प्रयोग यहाँ समुचित ही है, परन्तु 'हन्' का जब प्रथम अर्थ माना जाये तो वहाँ भूतकाल मे तृतीया के करण के अर्थ मे 'क्त' प्रत्यय होगा। **''कृत्य ल्यूटो बहुलं''** (३/३/११३.) सूत्र मे बहुल ग्रहण के कारण 'क्त' प्रत्यय भी करण मे होगा जैसे ल्यूट प्रत्यय करण मे होता है। **''आहन्यन्त संसार वासना याभिः ताः आहताः''** जिनके द्वारा संसार की वासना का आहनन कर दिया गया है। इन्होंने अपने भजन रस के प्रताप से संसार की वासना को नष्ट कर दिया है। अब इनमे संसार नहीं है अब तो इनमे केवल साँवले सरकार विराज रहे हैं। अतः **''भगवान् आहता वीक्ष्य''** उनको विशेष रूप से भगवान् ने देखा कि अब तो ये परम भागवत चूड़ामणि हैं अथवा **''भगवान् आहता वीक्ष्य''** भगवान् ने यह देखा कि ये आहत हैं अर्थात् **''आदरेण आगताः'' ''हन् हिंसागत्योः'' 'आघ्नन्'** अर्थात् **''आगच्छन् इति आहताः''** ये आदरपूर्वक मेरी शरण मे आ गयी हैं। गोपियाँ अब संसार की सम्पूर्ण मान्यताओं को छोड़कर आदरपूर्वक भगवान् की शरण मे आ गयी हैं। इसीलिए तो यमुना जल से निकल आयी हैं कि अब हम आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करेंगी।

''बाला मे बैरागीन होंगी,
जेही भेषा मेरे साहिब रीझै,
सोई भेष धरूँगी................।''

मीरा के इस गीति ने आज यहाँ अक्षरशः अपने को प्रस्तुत किया **''शुद्धभावप्रसादितः''** भगवान् गोपियों के इस पवित्र भाव से प्रसन्न हो गये। अथवा **''शुद्धः भावः प्रसादितः येन''** आज गोपियों के इस शुद्ध भाव को भगवान् ने प्रसाद बना लिया। धन्य हो गया यह शुद्ध भाव, कान्ताभाव। जो कान्ताप्रेम संसार मे निन्दित माना जाता था वह कान्ताप्रेम आज धन्य हुआ। आदर अतिशय से गोपियों के वस्त्रों को भगवान् ने अपने कन्धे पर रख लिया। कन्धे पर रखने का तात्पर्य क्या है? भगवान् के स्कन्ध मे शंकर भगवान् का निवास होता है वृषभकंध और काम के शत्रु हैं भगवान् शंकर। भगवान् ने गापियों के वस्त्रों को स्कन्ध पर रखकर मानो कह दिया कि लीजिए आप मे कोई काम तो है नहीं यदि वह आना भी चाहता हो तो उसकी व्यवस्था मैंने कर दी है। अब कामारि को सौंप दिया है वह उसकी व्यवस्था कर लेंगे। भगवान् शिव कामारि हैं आपके भजन मे यदि काम बाधा डालेगा तो भगवान शंकर ही उसको समाप्त कर देंगे, मुझे कोई आवश्यकता पड़ेगी ही नहीं। **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** अथवा भगवान् स्कन्ध पर धारण कर रहे हैं। भगवान् का श्रीविग्रह वेदमय है आज गोपियों के वस्त्रों को स्कन्ध पर धारण करके भगवान् संकेत कर रहे हैं कि गोपियों अब आपका शरीर पूर्ण रूप से वैदिक हो गया है। अथवा **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** आज भी लोक मे कहा जाता है आप मुझे अपना कन्धा दे दीजिए अर्थात् जैसे व्यक्ति निरालम्ब को कन्धे का सहारा देता है, उसी प्रकार भगवान् ने गापियों के इस भावनात्मक वस्त्र को

अपने सबल कन्धे का सहारा दे दिया। अब आप निर्बल नहीं हैं, अब आपके बल को सब लोग प्रणाम करेंगे। प्रसन्न हुये भगवान् और मुस्कुराकर बोले–

''यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
बद्ध्वांजलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा
नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्।।''

भगवान् इन्द्रवंसा छन्द का यहाँ प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि वे स्वयं गोकुलेन्द्र हैं। प्रभु ने कहा गोपियों! **''यूयं विवस्त्रा''** आपने विशिष्ट वस्त्र धारण करके अर्थात् ऊपरी वस्त्र छोड़कर कटि वस्त्र धारण करके, व्रत धारण करके जल मे बहुत देर तक स्नान किया है ये वरुण देवता का अपमान है इसलिए मस्तक पर अंजलि रखकर अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर और उन्हें मस्तक पर रखकर इस पाप के प्रायश्चित के लिए नीचे साष्टांग कर शिर झुकाकर फिर अपना वस्त्र धारण कर लीजिए। ''विशिष्टं वस्त्रं यासां ताः विवसत्राः, अथवा विपर्यस्तानि वस्त्राणि यासां ताः विवसत्राः''। यहाँ भगवान् का अभिप्राय यह है कि हे व्रजांगनाओं! आप लोगों ने मेरी प्राप्ति की इच्छा से एक कात्यायनी पूजनरूप अत्यन्त महत्वपूर्ण व्रत धारण किया है, उसमे यमुना स्नान तो विहित् है, परन्तु जल–विहार नहीं। जब कि आप लोग ऐसी जलक्रीड़ा करती थीं, जिससे आपके वस्त्र भी अस्त–व्यस्त हो जाते थे **''विजह्रुः सलिले मुदा''**(भा. १०/२२/७) वह भी विहार थोड़ी देर तक नहीं, आप लोग बहुत देर तक करती थीं, जिसमे यमुना जल को मथ डालती थीं **''व्यगाहतैतत्''** (भा. १०/२२/१६) **''गाहू बिलोड़ने''**(पा. धातुपाठ ६४६) यह आपने जल के देवता भगवान् वरुण का बहुत बड़ा अपमान किया है, जो मेरी ही विभूति हैं **''वरुणो यादसामहं''** (गीता १०/२६) इस लिए आप लोग इस घोर पाप के प्रयश्चित्त के लिए अपने मस्तकों पर अंजलि धारण करके पृथ्वी पर साष्टांग दण्डवत करके वस्त्र ले जाइये। लौकिक दृष्टि से यह परमात्मा नटखटापन कर रहे हैं। कोई बालक जब किसी को चिढ़ाता है सताता है तो कहता है चलो हाथ जोड़ो शिर झुकाओ। इसी से कभी–कभी विद्यार्थी को व्यायाम सिखाते समय उसका शिक्षक जैसा करत है उसे वही करना पड़ता है। आज भगवान् भी वही कर रहे हैं, यह भक्ति का व्यायाम ही तो है। भगवान् ने कहा हाथ जोड़ो जोड़ लिया। हाथ जोड़कर उसे मस्तक पर ले आओ। ले आयीं। चलो नीचे झुको। झुक गईं। प्रणाम करो। प्रणाम कर लिया। अब अपना काम करो। इसका एक ही तात्पर्य है, भगवान् **''यूयं ह्यवस्त्रा''** नहीं कह रहे हैं। यदि गोपियों ने निर्वस्त्र स्नान किया होता तो भगवान् कह देते **''अवस्त्राः''** तुमने वस्त्रहीन होकर स्नान किया है। **''यूयं निर्वस्त्रा''** ये भी भगवान् ने नहीं कहा। **''निर्वस्त्र देहा''** ये भी भगवान् ने नहीं कहा। भगवान् कहते हैं **''यूयं विवस्त्रा''** तात्पर्य यह है कि आपसे थोड़ी सी भूल हुई है। यमुना जी मे आप स्नान कर रही थीं स्नान अलग वस्तु है और विहार अलग ये विहार का समय नहीं था। विहार तो पति के साथ किया जाता है न। अभी तो हम आपको प्राप्त होनेवाले थे इसके पहले आपने विहार करना प्रारम्भ किया। **''विजह्रुः सलिले मुदा''** ये गड़बड़ किया यही पाप हुआ। आप कटि वस्त्र पहनकर बहुत देर तक स्नान करती रहीं क्रीड़ा करती रहीं ये व्रत की पूर्ति का समय था यह क्रीड़ा का समय नहीं था। आपका यज्ञ आज पूर्ण हो रहा था। अवभृथ स्नान का यह समय था। तो व्रत मे आपने क्रीड़ा को क्यों जोड़ा? अपराध आपका ये था, इसीलिए इस श्लोक को इस प्रकार लगाना चाहिए **''यूयं धृतव्रता यूयं अपः अलं व्यगाहत''** व्रत धारण करके भी आप लोगों ने जल मे बहुत देर तक स्नान किया इसे मथ डाला **''गाहु बिलोड़ने''** (पा. धातुपाठ ६४६)

जल मे स्नान करने के कारण आपके वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गये **''व्यस्तानि वस्त्राणि यासां ताः''** जल की स्नान क्रिया के कारण आपके वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गये। इतना काल तो जल मे स्नान नहीं करना चाहिए था। इसलिए यह थोड़ा सा वरुण देवता का अपमान हुआ है। **''तदु देवहेलनम्''** आप इस पाप की समाप्ति के लिए इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए हाथ जोड़कर **''अधो नमः कृत्वा''** पृथ्वी पर नमस्कार करके **''वसनं प्रगृह्यताम्''** आप अपने वस्त्र ले लीजिए। गोपियों ने वही किया, वे अपने पाप को समझ गईं **''इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला''**। यहाँ भी वेदव्यास जी भगवान् श्रीकृष्ण के लिए 'अच्युत' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। इस परिस्थिति मे भी जो च्युत नहीं हुए, वे अपने स्वरूप और स्वभाव मे यथावत स्थित हैं, उनका च्यवन नही हो रहा है। भगवान अच्युत हैं और गोपियों को भी अब अच्युत बनाना चाह रहे हैं। इसलिए उनकी व्रत च्युति का भगवान् उनको प्रायश्चित करा रहे हैं **''मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम्''** गोपियों ने समझ लिया कि **''विवस्त्राप्लवन''** व्यस्त वस्त्रों के साथ विशिष्ट वस्त्रों के साथ हमनें स्नान किया यह हमारे व्रत की च्युति हुई। स्नान करते समय हमारे वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गये ऐसा नहीं होना चाहिए था। इसलिए उन्होंने व्रत की च्युति मानकर भगवान् को प्रणाम किया। **''तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः''** अपने व्रत पूर्ति के लिए और उस व्रत के निमित्त किये हुये सम्पूर्ण कर्मों की पूर्ति के लिए गोपियों ने सम्पूर्ण फलों के साक्षात्कारकर्ता अथवा सम्पूर्ण कर्मों के साक्षात्कार फल रूप परमात्मा को ही प्रणाम कर लिया। उन्होंने कहा कि हम आपके अतिरिक्त और किसी को प्रणाम नहीं करेंगी और किसी के चरण मे हमारे शिर नहीं झुकेंगे।

''श्रवणन और कथा नहीं सुनिहौं
रसना और न गैहौं।
रुकिहौं नैन बिलोकत औरहिं
शीश ईशहीं नैहौं।।'' विनयपत्रिका १०४.

गोपियों ने कहा, प्रभु! हम आपके अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करेंगी, आप ही हमारे सब कुछ हैं। हम अपने कानों से आपके अतिरिक्त और किसी की कथा नहीं सुनेंगी। हम अपनी रचना से आपके अतिरिक्त किसी को नहीं गायेंगी। हम इन नेत्रों से आपके अतिरिक्त और किसी को नहीं देखेंगी। **''बावरी वे अखियाँ जर जायें जो श्याम बिहाय बिलोकति औरहीं।''** और हमारे मस्तक तो आपके श्रीचरणों मे ही झुकेंगे। यहाँ वेदव्यास जी ने अच्युत शब्द का प्रयोग करके एक बहुत मनोहर बिम्ब प्रस्तुत किया है।

''इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला मत्वा
विवस्त्रप्लवनं व्रतच्युतिम्।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं
नेमुरवद्यमृग् यतः।।''

''व्रजाबलाः अच्युतेन अभिहिताः'' भगवान् अच्युत ने ब्रजसिमन्तिनियों को अविधा वृत्ति से यही कहा कि, आप शिर पर हाथ जोड़कर अंजलि रखें और साष्टांग दण्डवत् करके भगवान् को प्रणाम करें। 'अच्युत' शब्द से वेदव्यास जी एक गम्भीर व्यंजना की ओर भक्तों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रत्येक कर्मकाण्ड की समाप्ति पर कर्मकाण्डी गण एक मंत्र बोलते हैं–

''यस्य स्मृत्या च मनोक्त्या तपो यज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्।।''

जिन प्रभु की स्मृति से और जिन प्रभु के नाम संकीर्तन से कर्मों की न्यूनता भी सम्पूर्णता मे परिवर्तित हो जाती है अर्थात् त्रुटिपूर्ण कार्य भी पूर्ण मान लिए जाते हैं ऐसे अच्युत को मैं वन्दन करता हूँ। यहाँ तो साक्षात् अच्युत ही पधारे हैं फिर अच्युत की उपस्थिति मे व्रतच्युति कैसी? हाँ, प्रभु ने कहा कि आप ने जल मे बहुत देर तक विहार किया है और विहार करने के कारण आप विवस्त्रा हो गई हैं अर्थात् जल की तरंगों के कारण आपके वस्त्र इधर–उधर हो गये हैं, यही देवता का अपमान है।

''यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता।
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनं।।''

''यद यूयं धृतव्रताः सत्योऽपि अपः व्यगाहत'' यहाँ विवस्त्राओं के अवगाहन रूप मे तात्पर्य नहीं है, विहार का निषेध है। अवभृथ स्नान मे जल विहार नहीं करना चाहिए। आपने इसको धार्मिक कृत्य न मान कर एक क्रीड़ा मान लिया है यहाँ संकेत यही है। यमुना जी भी भगवान् की प्रिया है और यमुना जी के साथ भगवान् का विहार ही उचित है न कि अन्य गोपियों का, कदाचित् इसीलिए भगवान् ने गोपियों के विहार करने पर उनको दण्ड विधान किया है। उन्होंने प्रभु का अधिकार छिन लिया है और गोपियों को यह बात समझ मे आ गई इसीलिए उन्होंने अपने व्रत की पूर्ति की इच्छा से और एक महिनापर्यन्त चलाये गये सम्पूर्ण सत्कर्मों की पूर्णता की इच्छा से उन सम्पूर्ण सत्कर्मों के साक्षातकर्ता प्रभु को ही शिर पर अंजलि धारण करके साष्टांग नमन कर लिया। **''साक्षात्कृतं नेमुः''** अशेष कर्मों के साक्षात्कारकर्ता भगवान् ही हैं। भगवान् ने सभी कर्मों को देखा है और वही अवद्य के मृग भी हैं अर्थात् नाशक भी हैं। **''अवद्यानि मार्ष्टि इति अवद्यमृग्''** जो जीवों के सम्पूर्ण अवद्यों (दोषों) को समाप्त कर देते हैं ऐसे प्रभु आज बहुत प्रसन्न हो रहे हैं और प्रेम से अपने स्कन्ध पर लटके हुए वस्त्रों को भगवान् ने गोपियों को समर्पित कर दिया। **''वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्''** गोपियाँ भी धन्य हो गईं और सुन्दर वस्त्रों को पहन कर अपने प्राणधन, सच्चिदानन्दघन, वृन्दावनवीथीविहरणपरायणतरुणव्रजपुरन्ध्रीजन– जेगीयमानदिव्यदिव्यगुणगण, सनातनधर्मरक्षणसक्षणक्षण प्रभु मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, व्रजकुल चन्दन, यशेदानन्दवर्धन प्रभु को निहार कर उनके नेत्र लज्जायित हो उठे। प्रभु के द्वारा उनके चित्त चुरा लिये गये थे। इससे अब आगे चलना नहीं चाह रही थीं। प्रभु ने आज अपने दर्शनों से गोपियों के मनोरथों की पूर्णता कर दी है और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने यह भी जान लिया कि गोपियों का संकल्प और गोपियों का व्रत केवल प्रभु के चरणारविन्द की स्पर्श की कामना के लिए है। सांसारिक अंग–संग की कामना गोपियों के मन मे मनागपि नहीं है। गोपियों के मन मे काम नहीं है और यदि वह है भी तो इन्द्रिय प्रीति पर्यवशायी नहीं है। **''कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया''** गोपियों की यदि कामना है तो एकमात्र मुरलीमनोहर गोवर्धन धर प्रभु के श्रीचरणारविन्द की सेवा की, इसलिए आज दामोदर प्रभु ने अबलाओं से कहा–

''तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः।।''

यहाँ बोल रहे हैं दामोदर और सुन रही हैं अबलायें। कैसा विलक्षण रूप है? मानो यमलार्जुन के उद्धारलीला की प्रभु पुनरावृत्ति कर रहे हैं। वहाँ तो वृक्षों का उद्धार किया था, देवपुरुषों का उद्धार किया था, यहाँ व्रजदेवियों का श्रृंगार करेंगे भगवान्। वहाँ **'दामोदर'** सम्पूर्ण रस्सियाँ ही भगवान् के उदर मे आ गई थी और यहाँ दाम नहीं प्रत्युत गोपियों का प्रेम ही प्रभु मे समाहित होने जा रहा है। अब तक वे दामोदर थे अब प्रेमोदर बनने जा रहे

हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा, गोपियों मैंने जान लिया है आपके संकल्प का मैंने अनुमोदन भी किया है। अब वह सत्य हो जायेगा

''संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति।।''

गोपियों! जिनकी बुद्धि मुझमे आविष्ट हो जाती है उनकी कामना किसी दूसरी कामना को जन्म नहीं देती है, जैसे उबली हुई या भूनी हुई गुड़धाना पुनः दूसरे बीजों को उत्पन्न नहीं करती है अर्थात् जब धान्य उबाल लिया जाता है अथवा भून दिया जाता है तब उसमे से किसी तण्डुल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह बीज के लिए प्रयुक्त नहीं होता, उसमे अंकुर नहीं निकलते। उसी प्रकार, जब भक्त की इच्छा मेरी विरह ताप मे भून जाती है तब उससे संसार का सृजन नहीं होता है। भगवान् प्रसन्नतापूर्वक कह रहे हैं, हे व्रजाबलाओं! अब आप शुद्ध हो चुकी हैं। पधारिये व्रज को, श्रीव्रज मे पधार जाइये **''याताबला ब्रजं सिद्धा''**। क्या लेकर जायें प्रभु? प्रभु ने सहजता से कह दिया **''मयेमा रंस्यथ क्षपाः''** भगवान् का भी अब संकल्प हो रहा है। गोपियों के संकल्प के पूर्ति के साथ ही भगवान् की जो संकल्पित रात्रियाँ हैं जिन्हें प्रभु अपने विहार के उपकरण के रूप मे स्वीकारेंगे वे रात्रियाँ भी सेविका के रूप मे प्रभु के समक्ष उपस्थित होंगी। अतः उन रात्र्याभिमानी देवताओं को निहारकर भगवान श्यामसुन्दर ने अंगुल्या निर्देश करते हुए कह दिया कि **''इमाः क्षपाः रंस्यथ''** ये देख रही हो आपके समक्ष पधार गयी हैं उसी महारात्रि के अभिमानी देवतायें। मैं वचन देता हूँ मेरे साथ आप सब इन रात्रियोंपर्यन्त रमण करेंगी। जब तक ये रात्रियाँ रहेंगी तब तक आप मेरे साथ रमण करती रहेंगी। यहाँ 'रमण' शब्द भी बड़ा महत्वपूर्ण है। आधुनिक भारतीय मनीषा का दुर्भाग्य भी यही है कि उसने गम्भीर विषयों पर गम्भीरता से विचार नहीं किया। वही कहावत है कि कान नहीं देखा और कौआ कान ले गया चिल्लाने लगे। अरे! यहाँ के विषयों का अध्ययन नहीं किया और कहने लगे श्रीकृष्ण भगवान् ने चीर चुराया। मैं आत्मविश्वास के साथ कह रहा हूँ कि यहाँ जो क्रियायें प्रयुक्त हैं श्रीवेदव्यास जी के द्वारा वे चुराने के अर्थ मे कदापि नहीं है। 'चुर' धातु का यहाँ प्रयोग भी नहीं हुआ है। न तो 'चुर' धातु का प्रयोग हुआ है और न ही 'मुस' धातु का प्रयोग हुआ है। प्रयोग है केवल 'आदाय' का और **'वासांसि चैवापहृतानि'** का भगवान् ने गोपियों के वस्त्र ले लिए थे, और 'हृत्' अर्थ होता है प्रापण **''हृञ् प्रापणे''** (पा. धातुपाठ ८९९)'हृञ्' धातु का अर्थ है स्थानान्तरण। उन्हें भगवान् ने दूसरे स्थान पर स्थापित कर दिया था अर्थात गोपियों के जो पांचभौतिक शरीररूप वस्त्र अब तक काम के अधीन थे अब वे श्याम के अधीन हो गये हैं। जिन पर काम का शासन था उन पर अब श्याम का शासन हो गया है। यही है गोपियों का वस्त्रहरण। और इस तथ्य की भी हम चर्चा कर चुके हैं कि जब गोपियाँ निकलती हैं श्रीयमुना से वहाँ वेदव्यास जी का वचन है **''पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य''** अपनी दोनों हाथों से योनि अर्थात् आकर यानी सम्पूर्ण भावों के आकर हृदय को ढ़ँक करके गोपियाँ आईं। आज भी जब व्यक्ति ठंड से ठिठुरता है सिकुड़ता है तो दोनों हाथों से छातियों को दबा लिया करता है। 'योनि' शब्द का यहाँ आकर (खानि) अर्थ है। **''जातावाकरजन्मनोः''** जिनका मन संसार की वासनाओं मे भटकता रहता है वे प्रत्येक शब्द को अपनी वासना के अनुसार ही व्याख्यायित करते हैं। जिनको पीलिया हो जाता है वे चन्द्रमा को भी पीले वर्ण का देखते हैं। वस्तुतः हमारी दृष्टि मे दोष है, परमात्मा की सृष्टि मे दोष नहीं है। भगवान् ने बड़ा मधुर संकेत किया और वहाँ 'क्षपा' शब्द का प्रयोग किया है। इन क्षपाओं मे गोपियाँ मेरे साथ रमेगी अर्थात् खेलेंगी। **''रमु क्रीडायां''**(पा. धातुपाठ

८५३) 'रमण' शब्द पर विचार तो पश्चात् करेंगे अभी प्रसंगोपाक परिस्थिति के अनुसार इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'क्षपा' शब्द मे द्वितीया है, वह भी **''कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे''**(पा. अ. २/३/५) इस पाणिनी सूत्र के अनुसार अत्यन्त संयोग मे किया है। भगवान् का गोपियों के साथ भी अत्यन्त संयोग होगा। 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ है जो अन्त को पार कर चुका हो **''अतिक्रान्तः अन्तं इति अत्यंतः''**। **''अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया''** इस वार्तिक की सहायता से 'अति' शब्द का 'अन्त' शब्द के साथ **''कुगतिप्रादयः''** (पा. अ. २/२/१८) इस सूत्र से द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ है। आज रात्रियों के साथ भी भगवान् का अत्यन्त संयोग है और गोपियें के साथ भी भगवान् का अत्यन्त संयोग ही है। **''क्षपा क्षपयन्ति इति क्षपाः''** भगवान् कहते हैं ये साधारण रात्रियाँ नहीं हैं इनका चिन्तन करने मात्र से जीव के कल्प–कल्पान्तर, युग–युगान्तर, जन्म–जन्मान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं। ये क्षपा है, 'क्षपयन्ति' ये पाप को नष्ट कर देती हैं, और यदि 'क्षपा' शब्द को गोपियों का भी विशेषण बना दिया जाये तो भी कोई आपत्ति नहीं है। हे क्षपा! आपके चिन्तन से जीव के जन्म–जन्मान्तर, कल्प–कल्पान्तर, युग–युगान्तरों के पाप नष्ट हो जाते हैं। आप परम आचार्या हैं जो **''क्षपयन्ति इति क्षपाः''** आप भावुक साधक जीव के सम्पूर्ण पाप–ताप, सांसारिक वासना आधि–व्याधि को नष्ट कर देती हैं, इसलिए आप अबला हैं, क्योंकि **''अकारो वासुदेवो बलं यासां ताः''** आप का बल मैं हूँ, आप सिद्ध हो चुकी हैं, परिपक्व हो चुकी हैं, जैसे **''सिद्धं अन्नं''** जैसे अन्न सिद्ध हो जाता है ताप से उसी प्रकार आप मेरे विरह ताप से मेरी साधना मे सिद्ध हो चुकी हैं, और आप क्षपा हैं आपके चिन्तन मात्र से जीवों के सम्पूर्ण पाप–ताप नष्ट होंगे।

''वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।।''

भागवत १०/४७/६३.

श्रीउद्धव जी कहते हैं कि जिन गोपियों का हरिकथोद्गीत गोपी गीत सम्पूर्ण भुवनों को पवित्र कर रहा है ऐसी नन्दराज के व्रज की स्त्रियाँ सिमन्तिनियों के चरणधूलि के एक कण की मैं निरन्तर वन्दना करता हूँ। अथवा यहाँ 'मया' शब्द मे श्लेष का प्रयोग हुआ है। 'मया' शब्द 'इदं' शब्द की तृतीया मे भी बनेगा और 'मा' शब्द की तृतीया मे भी बनेगा तो पहला अर्थ तो हो चुका, जिसका तात्पर्य है कि इन रात्रियों मे तुम सब मेरे साथ रमण करोगी और अब दूसरा अर्थ है **''मयेमा रंस्यथ क्षपाः, इमाः क्षपाः यूयं मया रंस्यथ''** इन रात्रियों पर्यन्त आप लोग 'मा' अर्थात् राधा जी के साथ मुझसे रमण करेंगी अर्थात् आपकी इस क्रीड़ा मे राधिका जी भी सहायता करेंगी **''मा राधा तया मया''**। गोपियाँ भगवान् का निर्देश प्राप्त करके बड़े क्लेश के साथ व्रज की ओर लौट रही हैं, क्योंकि उनका मन तो मनामोहन ने चुरा लिया है, उन्हें अब आठ महिने प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और की भी। आठ संख्या भगवान् को बहुत प्रिय है। 'छान्दोग्य उपनिषद' के अनुसार भगवान् मे मुख्य आठ गुण हैं ''अपहतपाप्मत्व, विमृत्युत्व, विजरत्व, विशोकत्व, अविजिघत्सत्व, अपिपासत्व, सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व'' भगवान् के द्वारा जीवों के सम्पूर्ण पाप नष्ट कर दिये जाते हैं, इसलिए वे 'अपहतपाप्मा' कहे जाते हैं। भगवान् के पास कभी मृत्यु आ नहीं सकती, इसलिए वे 'विमृत्यु' कहे जाते हैं। भगवान् कभी वृद्ध नहीं होते, जड़ाग्रस्त नहीं होते इसलिए उन्हें श्रुति ने विजर कहा। भगवान् के पास कोई शोक नहीं होता, इसलिए वे 'विशोक' हैं। भगवान् को कभी भूख नहीं लगती इसलिए उन्हें 'अविजिघत्स' कहा। भगवान' को कोई पिपासा भी नहीं सताती इसलिए अन्हें 'अपिपासा' कहा–

"जाते लागी न छुधा पिपासा।
अतुलित बल तन तेज प्रकाशा।।"

भगवान् की इच्छा भी सन्तों के लिए होती है इसलिए उन्हें सत्यकाम कहा और भगवान् का संकल्प भी सन्तों के लिए होता है इसलिए उन्हें सत्यसंकल्प कहा गया। और भगवान् भू, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार इन आठों प्रकृतियों से परे हैं। संयोग से भगवान् देवकी जी के आठवें पुत्र भी हैं और गर्भाधान के आठवें महिने मे भगवान् का आविर्भाव होता है। स्वयं अष्टसिद्धि देनेवाले हैं। अष्टांग योग साधन से भगवान् सम्पन्न हैं अतः उन्हें आठ बहुत प्रिय है। स्वयं प्रभु का जन्म भी भाद्र कृष्णपक्ष अष्टमी को होता है अतएव गोपियों ने भगवान् के आदेश से आठ महिने प्रतीक्षा कर ली।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। प्रथम पुष्प सम्पन्न।।

।। अथ द्वितीय पुष्प।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस –
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

अब आ गई शारदीय पूर्णिमा। शरद पूर्णिमा की वह मंगलमय रात्रि जिसे 'राका' कहते हैं, जिसको गोस्वामी जी ने भगवान् की भक्ति कहा–

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन विमल बसहु भगत उर व्योम।।

मानस ३/४३ क.

इसी राका को नरसी ने गाया "**हरि भगति मने देजो पूर्णिमा जोवी**"। यह पूर्णिमा अब आ गई है। पूर्ण चन्द्रमा उदित हो गये, अब प्रतीक्षा पूरी हुई और अब भगवान् भी श्रीव्रजांगनाओं को बुलाने का निश्चय कर रहे हैं। यहाँ गोपियों और श्रीकृष्ण की इस रहस्यमयी लीला को प्रस्तुत करने के लिए वेदव्यास जी ने भागवत जी मे पाँच अध्याय लिखे। आचार्यों का मानना है कि सम्पूर्ण पुराणों मे श्रेष्ठ है श्रीमद्भागवतम्। जब सत्रह पुराणों को लिखने पर भी वेदव्यास जी सन्तुष्ट नहीं हुए तब नारद जी की प्रेरणा से उन्होंने श्रीमद्भागवतम् की रचना की इसलिए सत्रह पुराण साधन और श्रीमद्भागवतम् साध्य है। और इस भागवत मे भी उत्कृष्ट है दशम स्कन्ध और दशम स्कन्ध मे भी महत्वपूर्ण है पूर्वार्द्ध (प्रथम अध्याय से ४६वें अध्याय तक) और पूर्वार्द्ध मे भी महत्वपूर्ण हैं ये रास के पाँच अध्याय। श्रीमदभागवतम् के दशम स्कन्ध के २६वें अध्याय से ३३वें अध्यायपर्यन्त। इन्हीं को कहा जाता है "रासपंचाध्यायी"। यहाँ पाँच अध्यायों मे रासलीला क्यों कही गई? इसके बहुत से हेतु कहे जा सकते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण भक्तों के आनन्द के लिए कतिपय हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं। भगवान् के भक्ति मार्ग मे पाँच भाव स्वीकारे गये हैं, शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, इसे माधुरी और कान्ताभाव भी कहते हैं। इन्हीं पाँच भावों के प्रतिपादन के लिए रासलीला के पाँच अध्याय कहे गये। गोपियाँ पाँच वृत्तियों के साथ भगवान् के समक्ष उपस्थित हो रही हैं जिनको मानसकार स्वयं कहते हैं–

"चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूंजत विहग नचत कलमोरा।।"

मानस १/२२७/५.

चातकवृत्ति, कोकिलवृत्ति, कीर अर्थात् शुकवृत्ति, चकोरवृत्ति और मयूरवृत्ति। चार प्रकार के पक्षी बोलते हैं, चातक, कोकिल, तोता और चकोर और मयूर नाचता है। रासपंचाध्यायी मे भी गोपियों के इन पाँचों वृत्तियों के दर्शन होते हैं। रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय में गोपियाँ चातक की भाँति श्यामघन श्रीकृष्ण के रूप स्वाति बिंदु के लिए तरसती हैं। प्रथम अध्याय मे गोपियों के चातकवृत्ति का वर्णन हुआ। द्वितीय अध्याय मे गोपियाँ कोकिल की भाँति कुहु–कुहु करके अन्तर्धान हुए प्रभु के संबन्ध मे वृक्षों लताओं, पृथ्वी और हरिण पत्नियों से पूछती हैं। अतः द्वितीय अध्याय मे गोपियों के कोकिलवृत्तिका परिचय मिलता है। तृतीय अध्याय मे गोपियाँ तोते की भाँति गोपीगीत गाती हैं। चतुर्थ अध्याय में चकोर की भाँति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को गोपियाँ निहारती हैं और पाँचवें अध्याय में श्रीकृष्ण मेघ को निहारकर मयूर की भाँति गोपियाँ तन्मयता से नाचती हैं, और श्रीसुबोधिनी जी मे बल्लभाचार्य महाप्रभु ने भगवान् के रमण की पाँच विधाओं की चर्चा की है। भगवान् गोपियों के पाँच उपकरणों के साथ रमण करते हैं। प्रथम अध्याय मे गोपियों की आत्मा के साथ

भगवान् का रमण होता है। द्वितीय अध्याय मे मनमोहन, मदनमोहन प्रभु गोपियों के मन से रमण करते हैं। तृतीय अध्याय मे वागीश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों के वाणी से रमण करते हैं। चतुर्थ अध्याय मे इन्द्रियातीत होकर भी ऋषिकेश प्रभु गोपियों के इन्द्रियों से रमण करते हैं और पंचम अध्याय मे भौतिक शरीर से दूर होकर भी श्यामशरीर भगवान् गोपियों के शरीर से रमण करते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार भगवान् के मुख्य पंचोपचार पूजा होती है। गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये पाँच अध्याय भावमय भगवान् की पूजा के पाँच उपचार भी हैं। अतः क्रमशः प्रथम अध्याय में भगवान की गन्धोपचार पूजा। द्वितीय अध्याय मे भगवान् की पुष्पोपचार पूजा। तृतीय अध्याय मे धूपोपचार पूजा। चतुर्थ अध्याय मे दीपोपचार पूजा और पंचम अध्याय मे भगवान् की नैवेद्योपचार पूजा प्रस्तुत होती है। गोपियों ने आज भगवान् को अपनी पाँच वस्तुयें सौंपी है, जिनमे से पंचप्राण, पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें और पंचज्ञानेन्द्रियॉ तथा पाँचकर्मेन्द्रियाँ हैं, इसलिए भी यहाँ पाँच अध्याय कहे गये। भगवान् आनन्दकन्द पाँच रूपों मे जीव के समक्ष उपस्थित होते हैं, पर, विभव, व्यूह, अर्न्तयामी और अर्चा। इनका प्रतिपादन करने के कारण रासलीला के पाँच अध्याय ही कहे गये। भगवान् श्रीकृष्ण पर पँचबाण काम का आक्रमण हो रहा है।

''ब्रह्मादिजयसंरूढ़दर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपिरासमण्डलमण्डनः।।''

रासपंचाध्यायी पर टीका प्रारम्भ करते हुए भागवत के वरिष्ठतम् टीकाकार श्रीधर स्वामी जी ने मंगलाचरण करते हुए कहा कि ब्रह्मादि देवताओं के विजय से उत्पन्न हुए अहंकार वाले कामदेव के दर्प को नष्ट करनेवाले रासमण्डल के आभूषण, ऐसे भगवान् श्रीपति श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो। इसका तात्पर्य यह है कि काम भगवान् पर पंचबाणों से आक्रमण करता है तो रास के पाँच अध्यायों से उसके पंचबाणों का क्रमशः उत्तर देते हुए खण्डन कर डालते हैं। हम यहाँ कह रहे हैं कि गोपियों के पांचभौतिक शरीर को भगवान् दिव्य बना रहे हैं। अतः क्रमेण पाँचों अध्यायों मे एक–एक अध्याय से गोपियों के एक–एक महाभूत को भगवान् ने दिव्य बनाया। प्रथम अध्याय से गोपियों के क्षीतितत्त्व, पृथ्वीतत्त्व की शुद्धि की। द्वितीय अध्याय से गोपियों के जलतत्त्व की शुद्धि की, चिन्मय बनाया। तृतीय अध्याय से गोपियों के अग्नितत्त्व को दिव्य बनाया। चतुर्थ अध्याय से गोपियों के वायुतत्त्व को महान बना दिया और पंचम अध्याय से गोपियों के आकाशतत्त्व को भी महाकाश बनाया, अपने चरणों मे अवकाश दे दिया। श्रीवैष्णवदर्शन मे अर्थपंचक की अपनी एक विचित्र विशेषता है। शास्त्रों का मानना है कि अर्थपंचक का कर्तव्य ही भगवान् के प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर सकता है। हमारे यहाँ पाँच अर्थ जानने योग्य होते हैं–

''प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्तयुपायं फलं चैव तथा प्राप्ति विरोधि च।।''

अर्थात् स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, फलस्वरूप और विरोधिस्वरूप, इन पाँच स्वरूपों का ज्ञान ही अर्थपंचक का ज्ञान है। 'स्वस्वरूप' का अर्थ है जीव के स्वरूप का ज्ञान परस्वरूप का अर्थ है परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान और उपायस्वरूप का अर्थ है परमात्मा को प्राप्त करने के उपाय का ज्ञान, फलस्वरूप का अर्थ है परमात्मा के प्राप्ति के फलस्वरूप का ज्ञान और विरोधिस्वरूप का अर्थ है परमात्मा के प्राप्ति मे विरोधियों के स्वरूप का ज्ञान। इस रासपंचाध्यायी मे महर्षि वेदव्यास जी ने क्रमशः प्रथम अध्याय मे जीव के स्वरूप का वर्णन किया। द्वितीय अध्याय मे ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया। तृतीय अर्थात् गोपीगीत वाले अध्याय मे ब्रह्म के प्राप्ति के उपायों के स्वरूप का वर्णन किया और चतुर्थ अध्याय में

अर्थात् दशम स्कन्ध के ३२वें अध्याय मे प्राप्तिफल का वर्णन किया। **''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः''** और पंचम अध्याय मे भगवान् ने प्राप्ति विरोधि माया का वर्णन करके उसका निषेध किया और सत्य कहा, **''रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः''** जिस प्रकार से छोटा बालक अपने प्रतिबिम्बों के विलास से रमण करता है, खेलता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के साथ खेल रहे हैं। हम यह कह रहे हैं कि आज भारतीय मानस ने 'रमण' शब्द को बहुत ही अर्थहीन सन्दर्भ मे ले लिया है। रमण स्त्री–पुरुष के मिलन को नहीं कहते। **''रमु क्रीडायां''** (पा. धातुपाठ ८५३) रमण कहते हैं निर्दोष क्रीड़ा को। वो भी साधारण क्रीड़ा को भी रमण नहीं कहते। वस्तुतः **''रमु क्रीड़ायां''** का प्रयोग होता है निर्दोष क्रीड़ा मे। जहाँ क्रिड़क किसी से कोई अपेक्षा नहीं करता अपने आनन्द के लिए खेलता है वहीं 'रम' का प्रयोग होता है। रमते दोनों लोग हैं, या तो योगी रमता है या तो बालक।

''रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।''

पूर्वरामतापनीयोपनिषद १.

उन अचिन्त्य सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् मे योगी रमण करते हैं इसलिए उन्हें 'राम' कहते हैं और बालक भी रमते हैं। गुजराती मे कहते हैं **''बाडक रमकड़ाउने साथे रमे छे''** बालक खिलौनों के साथ रम रहा है। संयोग से भगवान् मे दोनों ही योग्यताएँ हैं। भगवान् योगेश्वरेश्वर हैं, योगियों के भी ईश्वर हैं, इस आधार पर वे योगी भी हैं और **''तमद्भुतं बालकं''** (भा.१०/३०/१०) बालक भी। अतः उन्हें दोनों प्रकार से गोपियों के साथ रमण की योग्यता प्राप्त है। कामी रमण नहीं करता उपभोग करता है वह्र याभ करता है और संयोग से भागवत जी मे भगवान् के प्रति इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग कभी नहीं हुआ। भगवान् ग्राम्यधर्म से दूर होते हैं, क्योंकि भगवान् भगवान् हैं उनमे छः भग निरन्तर विराजते हैं–

''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।''

विष्णु पुराण ६/५/७४.

भगवान् ईश्वर हैं काम व्यक्ति को अनिश्वर बना देता है, असमर्थ बना देता है स्वयं वह अनिश्वर है भी। वह भगवान् शंकर के नेत्रान्त से जला और भगवान् के दर्शन को निरन्तर शिव आते हैं यहाँ तक कि वहाँ तो शिवजी के नेत्र के कोने को उघड़ते ही काम जल गया और यहाँ श्रीरामअवतार मे श्रीमिथिला वर यात्रा द्वार पर पधारते ही भगवान् श्रीराम को शिवजी ने अपने पन्द्रहों नेत्रों से देखा।

शंकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदश अति प्रिय लागे।।

मानस १/३१७/२.

जो शिवजी के नेत्र पहले अंगार बरसाया करते थे वे ही आज श्रीराम को देखकर परम शीतल जलधार बरसा रहे हैं। जहाँ से अनल निकलता था वही नेत्र आज परमपावन ब्रह्मानन्द सारसर्वस्वरूप जल का समुद्गिरण कर रहे हैं। क्या सौभाग्य है एक सामान्य रूप से भगवान् शिव के आग्नेय नेत्र के कोने के खुलते ही काम जल गया और यहाँ तो भगवान् ने पन्द्रह नेत्र प्रकट किये हैं अर्थात् पंचमुखी भगवान् शिव प्रकट हुए हैं। इस समय अग्निमय पाँच नेत्र हैं, सूर्यमय पाँच नेत्र हैं, चन्द्रमय पाँच नेत्र हैं। उनके आज तो दस–दस आग्नेय नेत्र एक साथ खुलकर भी दशरथनन्दन दशावतारों के भी अवतारी भगवान् श्रीराम के एक रोम को भी नहीं जला पा रहे हैं। यह सब कुछ इसलिए इस पंच बाणात्मक काम की क्रीड़ा के समरांगण मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उपस्थित हो रहे हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पंच देवमय हैं और रासपंचाध्यायी के द्वारा पंचदेवों की पूजा करनी होगी,

सनातन धर्म के पाँच देवताओं का सम्मान करना होगा। इसलिए यहाँ पाँचों देवताओं के भावों का दर्शन कराने के लिए शास्त्रों मे रासपंचाध्यायी का वर्णन हुआ। जैसे गणपति जीव को निर्विघ्न करते हैं, उसी प्रकार रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अपने चरणों मे आनेवाली गोपियों के सारे विघ्नों को नष्ट कर दिया। जैसे गणपति के अनन्तर सूर्य भगवान् के द्वारा प्रकाश होता है और वस्तु का अन्वेषण होता है उसी प्रकार द्वितीय अध्याय मे गोपियों का विरह सूर्य उदित हो उठा है। पंचदेवताओं में तीसरे हैं भगवान् शिव और शिव ब्रह्मविद्या के अधिष्ठाता हैं **"विद्या कामं शिवं यजेत्"** इसीलिए 'गोपीगीत' साक्षात् शिवस्वरूप प्रभु की पूजा करते हुए दिव्य–दिव्य सम्पूर्ण विद्याओं के साज को प्रकट करता है और चतुर्थ भवानी की पूजा की जाती है। इसी प्रकार यहाँ चतुर्थ अध्याय मे साक्षात् कात्यायनी के व्रत की सफलता के दर्शन हो रहे हैं गोपियों को। पंचम विष्णु की पूजा सबसे अन्त में होती है और इधर भी रासपंचाध्यायी मे वैष्णवी पूजा का पूर्ण दिग्दर्शन हो रहा है, किन्तु रासपंचाध्यायी पंचमुखी भगवान् शंकर की भी पूजा है इसलिए यहाँ नृत्य भी है। भगवान शंकर को नृत्य प्रिय है। यहाँ नृत्य भी है, गान भी है, वाद्य भी है, कीर्तन भी है और जप भी है। रासपंचाध्यायी भगवान् की पाँच विशेषताओं की भगवान् के पाँच वाङ्मय की पूजा चारों वेद और पंचम वेद के रूप मे इतिहास पुराण की भी पूजा है। रासपंचाध्यायी का प्रथम अध्याय ऋग्वेद का सार है, द्वितीय अध्याय यजुर्वेद का महातात्पर्य है, तृतीय अध्याय मधुर होने से सामवेद का परम तात्पर्य है, चतुर्थ अध्याय अथर्ववेद के समान है और पंचम अध्याय इतिहास पुराणों का सारसर्वस्व है। इससे रास के पाँच अध्याय कहे जा रहे हैं। ये भागवत स्वयं पंचामृत हैं।

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रुपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारूण्यत–
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि।।

भागवत १२/१३/१६.

भगवान् ने नारायण रूप मे भागवत ब्रह्मा जी को सुनायी, ब्रह्मा जी के रूप मे नारद जी को सुनायी, नारद जी के रूप मे वेदव्यास जी को सुनायी, वेदव्यास जी के रूप मे शुकाचार्य जी को सुनायी और शुकाचार्य जी के रूप मे महाराज परीक्षित को सुनायी। यही है भागवत का पंचामृत। इसी प्रकार ये रासपंचाध्यायी भी इस पंचामृत का सारसर्वस्व है, जिसमे यहाँ भावमय श्रीकृष्ण जी का अभिषेक है। प्रथम अध्याय दुग्धाभिषेक, द्वितीय अध्याय दध्याभिषेक, तृतीय अध्याय जिसे गोपी गीत कहते हैं घृताभिषेक जिसमे स्नेह की पराकाष्ठा है, चतुर्थ अध्याय प्रभु की प्राप्ति के कारण मध्वाभिषेक और पंचम अध्याय शर्कराभिषेक इसलिए भी रास के पाँच अध्याय कहे जा रहे हैं। भगवान् की पाँच लीलाओं के दर्शन होते हैं इनमे शिशुलीला, बाललीला, पौगण्डलीला, कौमार्यलीला और कैशोरलीला। इन पाँचों लीलाओं के भी इस रासपंचाध्यायी मे दर्शन होते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि गोपियाँ पाँच प्रकार की हैं–

"गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथंचन।।"

गोपियों के पाँच वर्ग हैं, प्रथम नृत्यप्रेयसी वर्ग, श्रीराधा जी का वर्ग, दूसरा श्रुतिरूप गोपियों का वर्ग, तीसरा है ऋषिरूप गोपियों का वर्ग, चतुर्थ देवकन्या गोपियों का वर्ग तथा पंचम गोपकन्या गोपियों का वर्ग। इन पाँचों वर्गों की संतुष्टि के लिए भगवान् वेदव्यास जी इस रासपंचाध्यायी का प्रस्ताव कर रहे हैं। गोपियों के पाँचों प्राण आज धन्य होंगे। प्राण, अपान,

उदान, व्यान, समान और उनके लिए यही रासपंचाध्यायी साधन है। धन्य हो रही है गोपियाँ और धन्य हो रहे हैं हम सब।

अब हम भगवान् श्रीसीताराम जी की कृपा एवं भगवान् श्रीराधागोविन्द जी की परम पावनी अनुकम्पा से रासपंचाध्यायी का द्वितीय वक्तव्य पुष्प श्रीमद्व्रजांगनाओं के चरणकमलों मे अर्पित करने जा रहे हैं।

''भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।'' भा. १०/२६/१

अर्थात् षड़ैश्वर्य सम्पन्न व्रजेन्द्रनन्दन, वृन्दावन बिहारी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी शरदकाल मे विक्षित मल्लिकाओं से युक्त उन रात्रियों को निहारकर अपनी अचिन्त्य शक्ति योगमाया एवं अपनी अत्यन्त प्रिय मुरली तथा अपनी परम आह्लादिनी राजराजेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी, नित्यनिकुंजेश्वरी, कीर्तिविजित, निलिम्पनिर्झरी, ज्ञानगम्भीर, चेतस्वती, भास्वति भगवती, भक्तिस्वरूपिणी, वृषभानुनन्दिनी श्रीराधारानी का आश्रय लेकर श्रीमद्ब्रजांगनाओं के साथ रमण करने का मन बनाया अर्थात् मन के बिना संकल्प संभव नहीं है और संकल्प के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं हो पाता। अतएव **''अप्राणो ह्यमना शुभ्रः''** यद्यपि उपनिषद् के अनुसार भगवान् के यहाँ प्राण नहीं है, मन नहीं है क्योंकि भगवान् तो सबसे ऊपर हैं, तथापि उन्होंने अपनी लीलाशक्ति के द्वारा एक नूतन मन की सर्जना की जिससे नूतन संकल्प हो सके और इन संकल्पों के आधार पर ही श्रीमद्व्रजांगनाओं के सत्संकल्पों की पूर्ति हो सके। श्रीमद्रासपंचाध्यायी के वक्तव्य के पूर्व एक जटील प्रश्न का समाधान कर देना अत्यन्त आवश्यक है। समान्य रूप से सहस्राब्दियों से यह कहा जा रहा है कि श्रीमद्व्रजांगनाओं के साथ भगवान् का जो यह रमण है वह गोपियों के संकल्पित काम की पूर्ति है और यह भी कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के मन मे भी गोपियों के प्रति काम है। इसलिए वे दोनों की पूर्ति के लिए ऐसी लीला की सर्जना मे अपना मन बना रहे हैं। इस प्रसंग पर मुझे इन्हीं विशिष्ट बिन्दुओं पर गम्भीरता से विचार करना होगा और कदाचित् इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए वेदव्यास जी ने रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ और उसके विश्राम मे 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया है। प्रारम्भ मे 'भगवत्' शब्द प्रथमा के एकवचन मे उपस्थित हुआ और विश्राम मे यही 'भगवत्' शब्द सप्तमी के एकवचन मे।

''भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः''

और विश्राम मे

''भक्तिं हरौ भगवति प्रतिलभ्यं''

इसका एक मधुर तात्पर्य है कि इस रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ में भगवान् कर्ता के रूप मे उपस्थित हो रहे हैं और विश्राम मे अधिकरण के रूप मे। अर्थात् वही इस लीला के कर्ता हैं और वही इस लीला के आधार भी क्योंकि **''आधारोऽधिकरणं''** (पा. अ.१/४/४५) पाणिनि कहते हैं, आधार ही अधिकरण होता है। आधार तीन प्रकार का होता है, अभिव्यापक, वैषयिक और औपश्लेषिक। भगवान् श्रीमद्व्रजांगनाओं की इस लीला मे तीनों प्रकार के आधारो के रूप मे उपस्थित होते हैं। भगवान् गोपियों के अभिव्यापक आधार हैं, अर्थात् गोपियों मे भगवान् व्याप्त हैं और गोपियाँ भगवान् मे, जैसे **''तिलेषु तैलं''** जैसे तिल मे तेल व्याप्त है उसी प्रकार गोपियों के रोम–रोम मे भगवान् व्याप्त हैं। भगवान् के अतिरिक्त गोपियों के यहाँ कुछ भी नहीं है और 'वैषयिक' भगवान् ही गोपियों के विषय हैं उनका कोई विषय ही नहीं है। इसी रासपंचाध्यायी के द्वितीय अध्याय के ४३वें श्लोक मे भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं–

''तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः।।''

अर्थात् गोपियों का मन भगावान् मे है और भगवान गोपियों के मन मे ''तन्मनस्काः'' **तस्मिन् मनः यासां ताः** अर्थात् गोपियों का मन भगवान् मे है और भगवान् गोपियों के मन मे हैं। ''तदालापाः'' **तद् विषयकाः आलापाः यासां** गोपियाँ भगवान् के सम्बन्ध मे ही अपनी बातचीत करती हैं। ''तद्विचेष्टाः'' **तस्य विचेष्टः चेष्टाः यासां** गोपियाँ भगवत्सम्बन्धी चेष्टाओं का ही अपने जीवन मे प्रयोग कर रही हैं। ''तदात्मिकाः'' **तस्मिन् आत्मा यासां ताः** गोपियों की आत्मा भी भगवान् मे है। **''तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः''** इसलिए गोपियाँ भगवान के ही गुणों का गान करती हुई, न अपनी आत्मा का स्मरण कर पाती हैं और न अपने घरों का। इसका तात्पर्य यही है कि इस रासलीला के कर्ता भी भगवान् हैं और इस रासलीला के अधिकरण भी भगवान् हैं। गोपियों के औपश्लेषिक आधार भी भगवान् ही हैं। उनका उपश्लेष है गोपियों के साथ। उपश्लेष व्याकरण मे दो प्रकार से माना गया है, संयोग सम्बन्ध से और सामीप्य सम्बन्ध से। भगवान् गोपियों के साथ भी हैं और गोपियों से चिपके हुए भी हैं, संयुक्त भी हैं। **''आसने तिष्ठति''** और **''गुरौ वसति''** इन दोनों क्रियाओं मे औपश्लेषिक आधार का प्रयोग ही है और औपश्लेषिक आधार मे ही यहाँ अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हुई है। अतएव यह रासलीला तो शालग्राम की भाँति भगवत् शब्द के सम्पुट के दोनों पल्लों के बीच विराजमान हो रही है। यदि भगवान् शब्द के अन्य निर्वचनों पर विचार किया जाए तो भगवान् के कोशों मे बहुत से अर्थ कहे गए हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए ही वेदव्यास जी ने इसका प्रथम प्रयोग किया है अर्थात् इस रासलीला के नायक हैं भगवान् और नायिकायें हैं भगवती गोपियाँ। 'भगवान्' शब्द का अर्थ विष्णु पुराण के अनुसार बहुत ही विचित्र है

''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणाः।।''

विष्णु पुराण ६/५/७४.

अर्थात् भगवान् वेदव्यास के अनुसार छः वस्तुओं को भग कहा जाता है। भग का मूल अर्थ है भाग्य। छः प्रकार का भाग्य जिनमे निरन्तर विद्यमान होता है उन्हीं को भगवान् कहते हैं। यहाँ 'समग्र' शब्द छहों भगों में अन्वित होता है अर्थात् जिनमे सम्पूर्ण ऐश्वर्य निरन्तर विद्यमान होता है, जिनमे सम्पूर्ण धर्म नित्य विराजता है, जिनमे सम्पूर्ण यश का नित्य आश्रय हो, जिनमे सम्पूर्ण शोभा और सम्पूर्ण लक्ष्मीं निरन्तर विराजमान रहती है, जिनमे सम्पूर्ण ज्ञान नित्य विद्यमान रहता है और जो सम्पूर्ण वैराग्य के नित्य आश्रय स्वरूप हैं वही हैं भगवान्। श्रीराम से अभिन्न हैं श्रीकृष्ण। भगवान् दोनों ही हैं, श्रीराम भी भगवान् हैं और श्रीकृष्ण भी। श्रीकृष्ण, राम से अभिन्न हैं, अतएव **''कृष्णश्चैव बृहद्बलः''** (वा. रा. ६/११७/१६) वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड के ११७वें सर्ग मे भगवान् ब्रह्मा जी ने स्पष्ट कहा कि आप ही विशाल सेना सम्पन्न श्रीकृष्ण भी हैं। श्रीराम ही श्रीकृष्ण हैं, श्रीसीता ही श्रीराधा हैं। श्रीराम से श्रीकृष्ण का कोई भेद नहीं है, दोनों ही परिपूर्णतम, परात्पर परब्रह्म हैं दोनों ही परिपूर्णतम अवतार हैं। दोनों मे से किसी को किसी से बड़ा या छोटा कहना यह घोर शास्त्रीय अपराध है। हाँ, इतना अवश्य है कि श्रीराम की लीला श्रवणीय होने के साथ–साथ अनुकरणीय है और भगवान श्रीकृष्ण की लीला केवल श्रवणीय है, वह अनुकरणीय नहीं है, क्योंकि इसमे कुछ ऐसे लोकोत्तर प्रकरण है जो मनुष्य के द्वारा अनुकरण नहीं किये जा सकते और इसका निषेध स्वयं रासपंचाध्यायी के अन्त मे योगेन्द्र

भगवान् शुकाचार्य जी ने किया है कि अनिश्वर को मन से भी इस लीला के अनुकरण का विचार नहीं करना चाहिए। क्योंकि ''**विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्**'' इसका आचरण करके व्यक्ति उसी प्रकार नष्ट हो सकता है जैसे शिवजी से भिन्न व्यक्ति विष पीकर। विष शिवजी पचा सकते हैं और सामान्य व्यक्ति तो उसे नहीं पचा सकता तो जिसमे शिवजी जैसा सामर्थ्य न हो उसे विष पीने का दुस्साहस क्यों करना चाहिए? इसी प्रकार श्रीकृष्ण की लीला का अनुकरण घोर अपराध है और मनुष्य के द्वारा सम्भव भी नहीं है। श्रीकृष्ण शैशवावस्था मे ही पूतना का विषपान कर लेते हैं आज का व्यक्ति क्या सायनाइड की गोली पचा सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण दावाग्नि पान करते हैं अर्थात् अग्नि को पी जाते हैं, क्या आज का सामान्य व्यक्ति एक जलती हुई मोमबत्ती को भी मुख मे डाल सकता है? भगवान श्रीकृष्ण सात वर्ष की अवस्था मे अपनी वाम हस्त की कनिष्ठिका पर गोवर्धन उठा लेते हैं आज का सप्तवर्षीय बालक क्या दस किलो का पत्थर भी सहजता से उठा सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कनिष्ठिका पर गोवर्धन उठा कर सात दिनपर्यन्त निद्रा, भूख, पिपासा का त्याग करते हुए श्रीव्रजवासियों की रक्षा करते हैं क्या आज का सप्तवर्षीय बालक अथवा कोई भी सबल से सबल व्यक्ति दस किलो का पत्थर अपनी कनिष्ठिका पर उठाकर एक भी घण्टे स्थिर रह सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण कालिय का दमन करते हैं, कालिय के फन पर नाचते हैं, क्या आज का व्यक्ति छोटे से सर्प को लेकर निर्भीक रह सकता है? तो इन लीलाओं का यदि सामान्य व्यक्ति अनुकरण नहीं कर सकता तो फिर उसे रासलीला के संबन्ध मे अनुकरण की इच्छा क्यों करनी चाहिए? यह केवल श्रवणीय है अनुकरणीय नहीं। अतएव शुकाचार्य जी ने इसका निषेध किया कि ईश्वर की वाणी का अनुसरण करना चाहिए, ईश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहिए, उनकी चेष्टाओं के अनुकरण का कभी साहस नहीं करना चाहिए। इससे अनर्थ की सम्भावना बढ़ जाती है और आज यही हो रहा है भगवान् श्रीकृष्ण की अन्य लीलाओं के अनुकरण का तो कोई साहस नहीं करता और श्रीरासलीला को सुनकर व्यर्थ का तर्क किया जाता है कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण ने सहस्रों गोपियों के साथ नाचा तो आज क्लब में महिलाओं के साथ नाचते हुए लोगों को उन्हें क्यों निषेध किया जाता है? तो इसका एक ही उत्तर है कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण के रासलीला का अनुकरण की बात है तो अन्य लीलाओं का भी तो अनुकरण करना चाहिए। यदि तुम श्रीकृष्ण के समान विष नहीं पी सकते, यदि तुम उनके जैसे दावाग्नि का पान नहीं कर सकते, यदि तुम उनके जैसे गोवर्धन को नहीं उठा सकते, यदि तुम उनके जैसे अनन्त रूप नहीं धारण कर सकते तो फिर रासलीला के अनुकरण का क्यों आग्रह करते हो? इसका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के अनुकरण मे हठ न करके प्रभु के श्रीचरण रेणुओं के अनुसरण की इच्छा करनी चाहिए। भगवान् अनुसरणीय हैं अनुकरणीय नहीं। उनकी कृपा कादम्बिनी की प्रतीक्षा करते रहना चाहिए। अतएव मैंने निवेदन किया कि 'भग' शब्द का मूल अर्थ है भाग्य और इसी लिए सौभाग्य शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् ''**शेभनं भगं भाग्यं यस्य स सुभगः सुभगस्य भावः सौभाग्यं**''। ''**अनुशतिकादीनां च**'' (पा. अ. ७/३/२०) इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ उभय पद वृद्धि अर्थात् 'सु' मे 'उ' और 'भ' मे 'अ' की वृद्धि हुई अतः सौभाग्य शब्द बन गया है। आज कल लोग 'दुर्भाग्य' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः यह अनुचित है, जैसे सौभाग्य उसी प्रकार दौर्भाग्य का प्रयोग करना चाहिए। 'भग' शब्द संस्कृत मे भाग्य के अर्थ में है और 'भाग्य' शब्द को वेदव्यास जी ने छः रूपों मे देखा। किसे कहते हैं भाग्य? उन्होंने उत्तर दिया, जहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य हो। ऐश्वर्य क्या है? पतंजली कहते हैं, ईश्वर उसे कहते हैं जो ''**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः**'' जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष

अमिनिवेश पाँचों प्रकार के क्लेश न हो। जहाँ कर्म के परिणामों को भोगने की विवशता न हो, जहाँ पूर्व संस्कारों का प्रभाव न हो, उसी व्यक्तित्व को भाग्य कहते हैं। उसी व्यक्तित्व को ऐश्वर्य कहते हैं, उस ऐश्वर्य से जो निरन्तर सम्पन्न हो वही है भगवान् अर्थात् भाग्यवान्। **''कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः ईश्वरः''** जो सब कुछ कर सकता है। जो जगत् की उत्पत्ति करता है, जगत् का पालन करता है, जगत् का संहार करता है, अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार का जो सामर्थ्य है, वही है ऐश्वर्य वही है ईश्वरत्व जो भाग्य का पर्यायवाची है। यहाँ समस्त धर्म को भी भाग्य कहते हैं। दुर्भाग्यशाली व्यक्ति धर्मात्मा नहीं हो सकता। दुर्भाग्यशाली व्यक्ति को यश की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यश भी भाग्य का एक भेद है। दुर्भाग्यशाली व्यक्ति कभी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि श्री भी भाग्य का एक भेद है, वह सौभाग्यशाली व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकता है। अभागा व्यक्ति ज्ञानवान नहीं हो सकता। वह तो केवल भाग्यवान् को ही प्राप्त होता है और भाग्यहीन व्यक्ति कभी वैराग्य से संपन्न नहीं हो सकता, वह तो संसार की चाकचीक्य मे भूला–भटका हुआ बिलबिला कर मरता रहता है। भगवान् भाग्यशाली हैं अतः उनके पास ये छहों सौभाग्य निरन्तर विराजते हैं। भगवान् मे ईश्वरत्व है। ईश्वर सर्वसमर्थ होता है, स्वाधीन होता है, स्वतंत्र होता है। उसमे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और मृत्यु इन पाँचों का भय नहीं होता है। यदि ईश्वर मे शरीर का क्लेश नहीं होता तो फिर वहाँ काम क्यों? क्योंकि काम, क्रोध आदि अविद्या के ही विकार हैं। अविद्या पंचपर्वा होती है, जिसे योगशास्त्र ने तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र का नाम दिया है। जब जीवन मे अन्धकार होता है तभी तो काम का विकार होता है। ईश्वर कभी काम से ग्रस्त नहीं हो सकता। जिन भगवान् आनन्दकन्द, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणकमल के नखमणि चन्द्रिका के परमाणु को प्राप्त करके शिव महेश्वर बन बैठे और उसी महेश्वरत्व के आधार पर शिवजी ने काम को भस्म कर डाला उन परमात्मा पर काम का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? शिव एक लोक के महेश्वर हैं और भगवान् सर्वलोक के महेश्वर **''भोक्तारम् यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्''**। शिव योगी हैं भगवान् योगेश्वरेश्वर हैं, इसलिए वहाँ तो काम की गन्ध भी नहीं आ सकती। सबसे रोचक बात तो यह है कि यहाँ 'काम' शब्द के अर्थ पर भी विप्रतिपत्तियां है। 'काम' शब्द संस्कृत वाङ्मय मे दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है, एक तो काम का अर्थ इच्छा और दूसरा काम का अर्थ है जो आज की दृष्टि से प्रचलित है वह है स्त्री पुरुष का एक वैषयिक संयोग। भगवान् मे वैषयिक काम की कभी कल्पना नहीं करनी चाहिए। काम प्रमाथि है और भगवान् निश्छल स्वभाव के हैं, वहाँ काम कैसा? 'काम' धातुज होता है और भगवान् सातों धातुओं से ऊपर हैं। भगवान् मे रस नहीं है वे स्वयं रसरूप हैं। भगवान् मे रक्त नहीं होता, भगवान मज्जा, मांस, मेद्य, अस्थि और शुक्र से ऊपर हैं। ये सातों धातुयें शरीर के विकार हैं, अतः भगवान् धातुमान नहीं हैं प्रत्युत भगवान् स्वयं धातु स्वरूप हैं, इसलिए विष्णुसहस्रनाम मे धातु भी भगवान् के एक नाम के रूप में परिगणीत हुआ है ''विधाता धातुरुत्तमः'' (विष्णुसहस्रनाम १८)। अतएव इस प्रकार की कुत्सित कल्पना भगवान् के संबन्ध मे कदापि नहीं करनी चाहिए। भगवान् मे जब छहों भग हैं और काम दौर्भाग्य का लक्षण है तो यहाँ अनन्त सौभाग्य संपन्न परमात्मा मे काम की कैसी गन्ध? यद्यपि श्रीधराचार्य जी ने रासपंचाध्यायी के संबन्ध मे एक विलक्षण बात कही है। उनका ये कहना है कि जब बाल्यकाल मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने सभी देवताओं पर विजय प्राप्त कर ली यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे परम भागवत और सम्पूर्ण देवताओं के पिता के मन मे भी जब सृष्टि रचना का गर्व प्ररूढ़ हुआ तो उस गर्व को भी भगवान् ने वत्स बालहरण लीला की व्याज से समाप्त कर डाला। ब्रह्मा को लग गया कि सृष्टि की रचना मैं ही करता हूँ। मेरे

अतिरिक्त कोई सृष्टि की रचना कर नहीं सकता, प्रभु ने मुझे ही सामर्थ्य दिया है। इस गर्व को समाप्त करने के लिए भगवान् ने एक लीला रच दी और ब्रह्मा जी के मन मे एक विचित्र संकल्प आ गया कि मे भगवान् श्रीकृष्ण के बछड़ों और बालकों को चुरा लूँ और वही किया उन्होंने, किन्तु जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने देखा कि ब्रह्मा जैसे परमभागवत का अहंकार दूर करना परम आवश्यक है तब **''उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः''** (भागवत १०/ १३/१८) अपने को ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने दोनों रूप मे परिणत कर दिया अर्थात् जितने बालकों का ब्रह्मा जी ने हरण किया था उन बालकों के रूप मे प्रस्तुत हो गये गोपाल और जितने बछड़ों का ब्रह्मा जी ने हरण किया था उन बछड़ों के रूप मे प्रकट हुये साक्षात् परिपूर्णतम् परात्पर परब्रह्म परमेश्वर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण। क्या अद्भुत लीला प्रकट की। स्वयं भगवान् शुकाचार्य जी कहते हैं, जरा देखो तो इस नटखट को, ब्रह्मा जी ने सोचा होगा कि बालकों के अपहरण से श्रीकृष्णचन्द्र खिन्न हो जायेंगे परन्तु हमारे कन्हैया ने कहा, नहीं खिन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं। और यह लीला भी विशिष्ट भक्तों के संकल्प का ही तो परिणति है। प्रत्येक गोपी ने जो यशोदा समान भावना से युक्त थी संकल्प किया था कि भगवान् मेरे बालक बन जायें, कन्हैया मेरे नन्हें–मुन्ने बालक बन जायें, पुत्र बन जायें और श्रीव्रज की गौओं ने भी एक संकल्प किया था कि भगवान् मेरे बछड़े बन जायें। श्रीरामावतार मे भगवती सुमित्रा जी ने भी एक गीत गाते हुए कहा था कि **''ललन लोने लेरूआ बलि मैया''** वही सुमित्रा देवी रोहिणी के रूप मे प्रस्तुत हुई थीं कृष्णावतार मे तो भगवान् ने सोचा कि लेरूआ का अर्थ होता है गाय का बछड़ा, मैं कैसे गाय का बछड़ा बनूँ? कैसे प्रत्येक गोपी का बालक बनूँ? अतएव गौओं और मातृतुल्या गोपियों के संकल्प की पूर्ति के लिए ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने ब्रह्मा जी के मन मे वत्स बालहरण करने का संकल्प करा दिया। ब्रह्मा जी ने बछड़े और बालक को चुराया और भगवान् बन गये बछड़े तथा बालक। वहाँ का चित्रण देखिये कैसा अद्भुत है यह नटखट नन्दनागर–

''यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्रयादिकं
यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङगवदजः सर्वस्वरूपो बभौ।।''

भागवत १०/१३/१९

जिस बालक की जैसी आकृति, जिस बालक का जैसा शील, जिस बालक का जो आभूषण, जिस बालक की जैसी लाठी, जिस बालक का जैसा शिकहर सब कुछ उसी प्रकार से भगवान् ने प्रस्तुत किया। जो बछड़ा जैसा था, उसी प्रकार वो प्रकट हुए। यहाँ तक कि मान लो कोई बछड़ा बहुत चंचल था, बहुत उछलता था तो उसी प्रकार उछलने का भगवान् ने अभिनय किया। कोई बछड़ा बहुत मन्दगति से चलता था, प्रभु उसी प्रकार से चले अर्थात् किसी को प्रभु ने यह अनुभव नहीं होने दिया कि उसके बछड़ों और बालकों को किसी ने चुरा लिया है। एक वर्षपर्यन्त **''चिक्रीडे वनगोष्ठयोः''** व्रज मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजते रहे। केवल उनके साथ बलराम जी थे और कोई नहीं था। एक वर्षपर्यन्त वृन्दावन की कैसी स्थिति बनी होगी। सर्वत्र गोपाल ही गोपाल दिख रहे थे, वहाँ और कोई था ही नहीं। तात्पर्य यह कि भगवान् ने वत्स बालहरण लीला के व्याज से ब्रह्मा जी का भी अहंकार समाप्त कर दिया। जब अग्नि को गर्व हुआ कि मैं सबको भस्म कर सकता हूँ तो भगवान् ने दावाग्नि पान करके यह सिद्ध कर दिया कि तुम्हें भस्म करने की

शक्ति दी है किसने, तुम इसे भूल गये। वरुण के दूतों ने नन्दबाबा को चुराया, नन्दबाबा को उठाकर ले गये वरुणलोक। तो वरुण के शक्ति को भी हराकर भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिताश्री नन्दबाबा को वरुणलोक से ले आये। भिन्न–भिन्न लीला द्वारा पंचभूतों पर भी भगवान् ने विजय पायी और गोवर्धन धारण के माध्यम से देवेन्द्र इन्द्र को भी गर्वहीन कर दिया। इस प्रकार सभी देवताओं पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने बाल्यकाल मे ही विजय प्राप्त कर ली तो कदाचित् काम के भी मन मे एक जिज्ञासा हुई। काम ने सोचा कि मुझे भी श्रीकृष्ण जीत लें तो मैं उनको भगवान् मान लूँगा, क्योंकि काम के संबन्ध मे यह कहा जाता है कि **''स्वयं चैकोऽनंगः सकलभुवनं व्याकुलयति''** भोजप्रबन्ध मे एक श्लोक प्रसिद्ध है–

''धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशां,
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः।
स्वयं चैकोऽनंगः सकल भुवनं व्याकुलयति,
क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।।''

कहते हैं भगवान् की जो महान् विभूतियाँ हैं उनके सत्व और संकल्प मे, क्रिया की सिद्धि रहती है साधन मे नहीं। जैसे काम के पास पुष्प का धनुष है और उस पुष्प धनुष की जो डोरी है वो भँवरमय है, भँवरों से व्याप्त है। उसके पास जो बाण है, उसमे नारियों के नेत्र का कोना ही उसका बाण है। उसका मित्र जडात्मा चन्द्रमा है, वह अंगहीन होकर भी केवल पुष्प धनुष से ही सारे संसार को व्याकुल कर देता है। श्रीरामचरितमानस मे भी श्री गोस्वामी जी कहते हैं–

"काम कुसुम धनु सायक लीन्हें।
सकल भुवन अपने बस कीन्हें।।" मानस १/२५६/१.

स्वयं नैषधकार श्रीहर्ष ने नैषधीयचरितम में एक कल्पना की–

''स्मर! नृशंसतमस्त्वमतो विधिः सुमनसः
कृतवान् भवदायुधम्।
यदि धनुर्दृढ़माशुगमायसं तव सृजेत्
प्रलयं त्रिजगत् व्रजेत्।।''

नैषध ४/८६

कहते हैं कि तुम इतने क्रूर हो कि स्वयं ब्रह्मा ने पुष्प को तुम्हारा आयुध बना दिया। यदि तुम्हारा धनुष लोहे का होता और तुम्हारा बाण लौहमय होता तो कदाचित् ही तुम तीनों लोकों को प्रलय के घाट उतार दिये होते। इसका तात्पर्य यह है कि काम ने स्वयं को सबसे प्रबल समर्थ मान लिया था। उसने ब्रह्मा और शंकर को भी परास्त करने मे कोई संकोच नहीं किया। यदि बड़े–बड़े देवताओं को उसने ऐसी की तैसी कर डाली तो सामान्य जीव की क्या बात करें। कहा गया संस्कृत के एक पद में–

''मत्तेभदर्पदलने भुवि केऽपि सूरा केचि –
द्भवन्ति मृगराजवधे विदग्धाः।
किन्तु ब्रवीमिवलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरलाः समर्थाः।।''

मतवाले हाथियों को मारने मे कुछ लोग वीर देखे जाते हैं और सिंह को भी कुछ लोग मार सकते हैं, परन्तु मैं बलवानों के समक्ष कह रहा हूँ कि कन्दर्पदर्प के दलन मे कोई समर्थ नहीं होता उसमे कोई होंगे तो विरले ही होंगे। सौभाग्य से कोटि–कोटि

कन्दर्पदर्पदलन का सामर्थ्य यदि किसी मे है तो आनन्दकन्द मुकुन्द, व्रजेन्द्रनन्दन, यशोदानन्दवर्धन प्रभु वृन्दावनवीथीविहारण परायण कोटि–कोटि नारायणसमानावदात भगवान् श्यामसुन्दर श्रीशिखिपीच्छशेखर श्रीकृष्ण मे है। अतएव काम के मन मे एक संकल्प आया कि मैं श्रीकृष्ण को समग्र विश्वविजयी नहीं बनने दूँगा, मैं उन्हें परास्त करूँगा। इसलिए उसके अहंकार को समाप्त करने के लिए भगवान् ने रासलीला का प्रस्ताव किया और श्रीधराचार्य जी रासपंचाध्यायी के टीका के प्रारम्भिक मंगलाचरण मे यह कह रहे हैं कि **''ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा। जयति श्रीपतिर्गोपिरासमण्डलमण्डनः।।''** अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं के विजय से उत्पन्न हुए अहंकार से युक्त कामदेव के दर्प को भी नष्ट करनेवाले, रासमण्डल के आभूषण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की जय हो। अतएव इसी काम विजय की परिणति बनी रासपंचाध्यायी। काम पंचबाण है अतः उसके पाँचों बाणों को विफल करने के लिए पाँच अध्याय प्रस्तुत है रासपंचाध्यायी के, परन्तु यह पक्ष भी परमार्थ से दूर है। वस्तुतस्तु श्रीधराचार्य जी ने जो अन्तिम बात बहुत प्रामाणिक कही **''वस्तुतस्तु श्रृंगारापदेशेन निवृत्तिपरेयं रासपंचाध्यायी इति तत्र तत्र स्फुटि करिष्यामः।''** श्रीधराचार्य जी कहते हैं कि वास्तव मे श्रृंगार भी एक बहाना है, श्रृंगार वर्णन के बहाने यह रासपंचाध्यायी निवृत्तिपरक है, अर्थात् संसार के संभावित प्रपंच से निवृत्त होकर जीव भगवान् के शरण मे कैसे जा सकता है? वह प्रपंच की प्रवृत्ति से कैसे छुटकारा पाये? इसी के उपाय के वर्णन के लिए ही इस रासपंचाध्यायी का प्राकट्य किया भगवान् वेदव्यास जी ने। प्रवचन किया भगवान् शुकाचार्य जी ने। श्रीधराचार्य जी का यह पक्ष बहुत ही प्रामाणिक है और बहुत ही मधुर है। यहाँ श्रीधराचार्य जी को प्रणाम करके मेरा भी कुछ निवेदन करने का मन है। सामान्य लोगों के पक्ष से श्रीरासपंचाध्यायी प्रवृत्तिपरक है। श्रीधराचार्य जी के पक्ष से रासपंचाध्यायी निवृत्तिपरक है, पर मेरी अवधारणा, मेरी मान्यता के आधार पर, मेरे मत मे, रासपंचाध्यायी प्रपत्तिपरक है अर्थात् संसार की दृष्टि से यह प्रवृत्तिपरक होगी, श्रीधराचार्य जी की दृष्टि से इसका निवृत्ति अवसान होगा किन्तु मेरी दृष्टि मे तो श्रीरासपंचाध्यायी प्रपत्तिपरक है। भगवान् की शरणागति जीव को कैसे प्राप्त हो सकती है, इसी के उपायों का वर्णन है रासपंचाध्यायी और लगता भी यही है। भगवान स्वयं कहते हैं **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** (गीता १८/६६) यहाँ व्रज कहने का क्या तात्पर्य था, व्रज का अर्थ यहाँ गच्छ नहीं है, यहाँ आचारार्थ मे 'क्वीप्' प्रत्यय हुआ है अर्थात् 'व्रज' शब्द व्रजबालाओं का उपलक्षण है और उनके समान आचरण करनेवाली क्रिया को व्रज कहते हैं, **''व्रज इव आचरति इति व्रजति''** और **''व्रज इव आचर इति व्रज''**। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि संपूर्ण कर्त्तव्यों की चिंता छोड़कर तुम व्रजबालाओं के समान आचरण करो, जैसे व्रजबालायें संपूर्ण कर्तव्यों की चिन्ता किये बगैर मेरी शरण मे आयीं, उसी प्रकार तुम मेरी शरण मे आओ **''मामेकं शरणं व्रज''**। वहाँ भी शरणागति मे व्रजबालायें प्रमाण होंगी। मेरी आज्ञा का पालन करके उन्होंने लोक–वेद किसी की चिन्ता नहीं की और मेरे पास चली आईं, उसी प्रकार तुम मेरी आज्ञा का पालन करके लोक वेद की चिन्ता न करते हुए उठाओ गाण्डीव और करो युद्ध महाभारत का। अर्जुन ने प्रश्न किया, मुझे पाप लगेगा तो? भगवान् ने उन्हीं से प्रश्न कर दिया कि जो मेरी शरण मे आता है क्या उसे पाप लगता है? क्या श्रीमद्व्रजांगनाओं को पाप लगा? इसलिए **''अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः''**। वस्तुतस्तु यह रासपंचाध्यायी प्रपत्तिपरक ही है, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। संसार इसे प्रवृत्तिपरक मान ले, भले अद्वैती इसे निवृत्तिपरक मानते हों, पर श्रीवैष्णव के मत मे तो रासपंचाध्यायी प्रपत्तिपरक ही है। किस प्रकार जीव भगवान् के चरणों मे प्रपन्न हो उसी विधा के निरूपण के लिए श्रीरासपंचाध्यायी भगवान् वेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवतम् मे

प्रस्तावित किया और भगवान् शुकाचार्य जी ने इसका वर्णन किया। यहाँ एक बात जो बहुत महत्व की है उस पर हम सबको ध्यान देना चाहिए। यदि कोई यह कहे कि काम का वर्णन रासपंचाध्यायी मे है तो उसका यह कथन अत्यन्त सारहीन, निरर्थक और हठधर्मिता से पूर्ण होगा। इसलिए यहाँ कि जो परिस्थिति है उस परिस्थिति का पर्याकलन करने से किसी भी स्थिति मे भगवान् अथवा व्रजांगनाओं को कामुक नहीं कहा जा सकता। इन पारिस्थितिक बिन्दूओं पर आज हम कुछ क्षणों तक विचार करेंगे। प्रथम तो श्रीमद्भागवतम् का प्रतिपाद्य क्या है? भगवान् श्रीवेदव्यास जी ने श्रीमद्भागवतम् के प्रथम स्कंध के प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक मे कह दिया कि श्रीमद्भागवतम् के दो प्रतिपाद्य हैं–

''धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्रपरमो निर्मत्सराणां सतां,
वेद्यं वास्तवमत्रवस्तुशिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।''

अर्थात् श्रीमद्भागवतम् का प्रथम प्रतिपाद्य है परमधर्म और द्वितीय प्रतिपाद्य है परब्रह्म। और परमधर्म कैसा, विशेषण दिया **''प्रोज्झित कैतवः''** जहाँ किसी प्रकार का कपट नहीं हो। **''उज्झित कैतवः''** नहीं कहा, **''प्रोज्झित कैतवः''** कह रहे हैं। 'कैतव' का अर्थ होता है कपट और 'प्रोज्झित' का अर्थ होता है त्याग करना। अतः जहाँ किसी प्रकार का कपट नहीं है उसी परमधर्म की यहाँ चर्चा है अर्थात् वही परमधर्म भागवत का प्रतिपाद्य है। तात्पर्य यह है कि परमधर्म भक्तों का विषय है, परब्रह्मत्व भगवान् का गुण। यहाँ भक्तों का धर्म प्रतिपाद्य है, उस धर्म के आशय के रूप मे भगवान् का गुण प्रतिपाद्य है। 'प्र' शब्द की व्याख्या करते हुए श्रीधराचार्य जी ने कहा है कि 'प्र' शब्द से यहाँ मोक्ष की अभिसन्धि का भी तिरस्कार हुआ है। श्रीमद्भागवतम् मे उस धर्म का प्रतिपादन हुआ है जहाँ मोक्ष को भी किसी प्रकार का आश्रय नहीं दिया जाता है। श्रीमद्भागवतम् के परमभक्तशिरोमणि श्रीपृथु तो यहाँ तक कहते हैं कि, हे नाथ! हम उस मोक्ष को भी नहीं चाहते जहाँ आपके श्रीचरणकमल के परमपावन परिमल प्रसृमर मकरन्द की पान का सौभाग्य नहीं मिलता। **''न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युस्मच्चरणांबुजासवः।''** (भागवत ४/२०/२४) और द्वितीय प्रतिपाद्य है परब्रह्म। जिसके लिए कहा, **''निर्मत्सराणां सतां वेद्यं''** जो 'मत्सर' हीन सन्तों द्वारा वेद्य है, जो तीनों तापों का नाशक है, उन्मूलक है जो वास्तववस्तु हो, जहाँ 'परमधर्म' और 'परब्रह्म' प्रतिपाद्य हो वहाँ बीच मे दाल–भात मे मूसरचन्द की भाँति काम कैसे आ जायेगा? और दूसरा पक्ष यह है कि किसी भी वस्तु का विचार करने के पहले उसकी परिस्थिति पर विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ की परिस्थिति क्या है? यह ग्रन्थ किसके समक्ष कहा जा रहा है और कहाँ कहा जा रहा है तथा किसके द्वारा कहा जा रहा है? श्रीमद्भागवतम् का प्रवचन हो रहा है श्रीगंगातट पर। आज भी प्रचण्ड भौतिक वादि भी गंगातट पर जाकर वैराग्य की अनुभूति करता है काम की अनुभूति नहीं करता। श्रीगंगातट पर जाकर उसे शान्ति अनुभूति होती है। वह भी समय है प्रभातकाल सूर्योदय का जहाँ सामान्य मन मे भी सात्विकता का संचार होता है और वहाँ उपस्थित हैं बड़े–बड़े परमहंस परिव्राजकाचार्य, मुक्तात्मा, दिव्यात्मा, अमलात्मा, महात्माजन यहाँ किसी भी पक्ष से कुत्सित भाव की संभावना का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ वक्ता, वाच्य और श्रोता इन तीनों की परिस्थितयों का भी विचार कर लेना आवश्यक होगा। श्रीमद्भागवतम के वक्ता हैं परमवीतराग, परमवैराग्यसंपन्न श्रीकृष्णचरणार– विन्दप्रपन्न, व्युत्पन्न, योगीन्द्र, मुनीन्द्र, परमहंस, परिव्राजकों के भी वन्दनीय श्रीचरणकमल विमलात्मा, महात्मा, चक्रवर्ती, चक्रचूड़ामणि, सर्वभूतात्मा, परमपूतात्मा श्रीशुकाचार्य जी महाराज। इनके संबन्ध मे श्रीमद्भागवतम् के प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे एक बहुत ही प्रेरक प्रसिद्ध और परमपावन संस्मरण समुपस्थित हुआ है। अब प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय मे भी जहाँ

शुकाचार्य जी की परिव्रज्या का वर्णन किया गया है वह भी बड़ा ही प्रेरणापूर्ण प्रसंग है। तो पहले शुकाचार्य जी के परिव्रज्या का वर्णन करते हैं, थोड़ी चर्चा करते हैं इसके पश्चात् उस संस्मरण की भी चर्चा करेंगे जिसका अभी–अभी संकेत दिया है। कहा ये जाता है कि भगवान् शुकाचार्य अपनी माँ के गर्भ मे सोलह वर्षपर्यन्त निवास की। वे बाहर आना ही नहीं चाहते थे। वेदव्यास जी के बहुत अनुनय–विनय करने पर भी उन्होंने एक संविदा रखी कि मैं गर्भ से बाहर तभी आऊँगा जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के मुझे प्रथम दर्शन होंगे। वेदव्यास जी ने श्रीकृष्णचन्द्र जी को मनाकर ऐसा करने के लिए सहमत कर लिया। फिर शुकाचार्य भगवान् का आविर्भाव हुआ। प्रथम–प्रथम भगवती वसुन्धरा पर पदार्पण करते ही जब शुकाचार्य जी ने अपने निर्निमेष नेत्रों से कोटि–कोटि कन्दर्पकमनीय, साभिराम–रमणीय, परमनिखिल, लोकलावण्यलक्ष्मीलालितश्रीमच्चरणारविन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की भुवनमोहिनी मूर्ति के दर्शन किये उसी समय शुकाचार्य जी को दृढ़ वैराग्य जग गया और नाल छेदन के पूर्व ही शुकाचार्य जी परिव्राजक बन बैठे। सबको छोड़कर चल दिये और वेदव्यास जी ने बहुत करूण श्लोक प्रस्तुत किया है–

"यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो
विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूत–
हृदयं मुनिमानतोऽस्मि।।" भाग. १/२/२

अर्थात्

"अनुपेतं अपेतकृत्यं प्रव्रजन्तं यं द्वैपायनः
विरहकातरः पुत्र इति आजुहाव
तन्मयतया तरवः पुत्र इति अभिनेदुः तं
सर्वभूतहृदयं मुनिं आनतोऽस्मि।
अनुपेतं न उपेतं दुग्धं पातुं मातरं,
न उपेतं जातकर्मकारयितुं पितरं न
उपेतं क्रीडितुं मित्राणि,
न उपेतं अध्येतुं आचार्यान्।।"

अनुपेतम् का तात्पर्य यह है कि शुकाचार्य जी दुग्धपान करने के लिए माता के निकट नहीं गये, जातकर्म कराने के लिए पिता वेदव्यास जी के निकट नहीं आये, खेलने के लिए मित्रों के पास नहीं पधारे और विद्या अध्ययन के लिए गुरु की उपसत्ति नहीं स्वीकारी, क्योंकि उनकी सम्पूर्ण कृत्य अपेत, समाप्त हो चुके थे। ऐसे सब कुछ छोड़कर एकान्त मे जाते हुए जिन शुकाचार्य जी को देखकर द्वैपायन द्विप मे जिनका अयन है, ऐसे द्विप मे जिनका जन्म हुआ है, ऐसे वेदव्यास जी भी विरह से व्याकुल होकर 'पुत्र–पुत्र' इस प्रकार कहकर उच्च स्वर से चिल्लाने लगे और वेदव्यास की भावना से सम्मिलित होकर वे वृक्ष जो अपने फलों को संसार को देते समय आह नहीं भरते 'पुत्र–पुत्र' कहकर चिल्ला पड़े। अर्थात् जिन शुकाचार्य पर वृक्षों को भी पुत्र वात्सल्य जग गया, ऐसे संपूर्ण जीव प्राणियों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करनेवाले मुनिवर शुकाचार्य के चरणों मे मैं आदरपूर्वक नमन करता हूँ। **"सर्वभूतानां हृदयानि यस्मिन् स सर्वभूतहृदयः तं सर्वभूतहृदयं"** जो जन्म से उत्कट वैराग्य संपन्न हो गया, जन्म लेते ही जिसमे परिव्रज्या की गुह्य संस्कार जैसे प्रबल हो उठे, वह माता के यहाँ दूध पीने भी नहीं गया इतना उत्कृष्ट वैराग्य संपन्न व्यक्ति काम कथा का प्रवचन करेगा? अब उनके परिव्रज्या यात्राकालीन संस्मरण पर विचार करते हैं। प्रथम स्कंध के चतुर्थ अध्याय मे स्वयं शौनकजी ने सूतजी से पूछा कि महाराज वेदव्यास

जी के पुत्रवर्य शुकाचार्य जी को भागवत कंठस्थ करने का या प्रवचन करने का अवसर कैसे मिला? वे तो महायोगी, समदर्शी निर्विकल्प समाधि मे तन्मय श्रीकृष्णचन्द्र मे अविचल बुद्धि संपन्न **''उन्निद्रः''** वे लोगों को कैसे प्राप्त हो गये? और इस पर एक संस्मरण सुनाया–

**''दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रियापरिदधुर्नसुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।।''**

भाग. १/४/५

भगवान् शुकाचार्य जी द्रुत गति से माता–पिता को छोड़कर चले जा रहे हैं, वेदव्यास जी उन्हें बुलाने के लिए, उन्हें पकड़ने के लिए पीछे–पीछे चले जा रहे हैं। शुकाचार्य जी ने कोई वस्त्र धारण नहीं किया है। वेदव्यास जी ने कम से कम लंगोटी तो लगा ही रखी होगी। मार्ग मे जब नन्दनवन का सरोवर उपस्थित हुआ जहाँ देवांगनायें स्नान कर रही थीं, उन्होंने शुकाचार्य को देखा उन्हें कोइ अन्तर नहीं पड़ा स्नान करती रहीं, किन्तु जब उनके पीछे उन्हीं को पकड़ने के लिए आते हुए वेदव्यास जी को देवांगनाओं ने निहारा तो उन्हें लज्जा की अनुभूति हुई। उन्होंने शीघ्रता से स्नान के पश्चात धारण किए जाने वाले सूखे वस्त्र धारण कर लिए। तब वेदव्यास जी ने पूछा, देवियों मेरा पुत्र बहुत सुन्दर युवक और वस्त्रहीन था, उसे देखकर आपने वस्त्र नहीं धारण किया। मैं तो वृद्ध, कुरूप और वस्त्र भी धारण किये था, पर मुझे देखकर आपको लज्जा की अनुभूति हुई ऐसा क्यों हुआ? युवक और वस्त्रहीन पुत्र को देखकर आपको लज्जा नहीं हुई और वृद्ध वस्त्रयुक्त कुरूप पुरुष को देखकर आपको लज्जा हुई। देवांगनाओं ने निर्भीकता से उत्तर दिया **''तव स्त्रीपुंभिदा अस्ति''** किन्तु **''विविक्तदृष्टेः सुतस्य सा नास्ति''** देवांगनाओं ने उत्तर दिया, बाबा! भले ही तुम चिता का आरोहण कर रहे हो फिर भी तुमको स्त्री और पुरुष के भेद का ज्ञान है। तुम जानते हो कि किसे कहते हैं स्त्री और पुरुष किसे कहते हैं, परन्तु तुम्हारा पुत्र तो इतना अन्तरंग हो चुका है कि उसे स्त्री और पुरुष का ज्ञान हीं नहीं है। तो उसके लिए कौन सी लज्जा? और जो स्त्री और पुरुष के भेद को नहीं जानता ऐसा उच्चकोटि का परमहंस परिव्राजकाचार्य महात्मा शुकाचार्य कामकथा कहने मे क्यों प्रवृत्त होगा? इसलिए भी रासपंचाध्यायी कामकथा मे पर्यवसान नहीं स्वीकारती। यह काम की कथा नहीं कामातीत की कथा है। और अब श्रोता का विचार करते हैं। श्रीमद्भागवतम् के मुख्य श्रोता हैं महाराज परीक्षित जिनके मृत्यु की घड़ी अब केवल दो दिन शेष रह गई। रासपंचाध्यायी भागवत सप्ताह कथा के पंचम दिवस की कथा है। पाँचवे दिन ही अर्थात् आज ही रासपंचाध्यायी का प्रस्ताव हो रहा है। तो परसों परीक्षित का बैकुण्ठ गमन होगा। जिसकी मृत्यु मात्र दो दिन शेष हो और जो अपने संपूर्ण राजवैभव को छोड़कर गंगातट पर प्रायोपवेश के लिए उपस्थित हो जिसने पाँच दिन मे जल भी नहीं पीया हो जो अनशन कर रहा हो और जो शुकाचार्य जैसे सद्गुरु को प्राप्त कर चुका हो और जिसकी मृत्यु की सहायता के लिए उपस्थित हो रहे हैं बड़े–बड़े योगि, मुनि, सन्यासी श्रीवैष्णव, जहाँ नारद, सनक–सनन्दन–सनातन–सनत कुमार, विश्वामित्र, अत्रि, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वसिष्ठ, कश्यप जैसे सप्तर्षि, भृगु आदि ब्रह्मर्षि उपस्थित हों, वहाँ ऐसे शुभ परमभाग्यशाली श्रोता को कामकथा की सुश्रूषा हो यह समझ मे नहीं आता। ऐसी परिस्थिति मे क्या परीक्षित कामकथा सुनना चाहेंगे? अतः वक्ता और श्रोता दोनों की परिस्थितियों का पर्याकलन जब हम करते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ कामकथा का कोई प्रश्न ही नहीं है।

अब विचार करेंगे वाच्य पर, क्योंकि यह तो स्पष्ट हो चुका है कि परीक्षित क्यों अपनी सुन्दर पत्नियों को छोड़ देते हैं। उनके पास सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ रही होंगी, सारे उपकरण रहे होंगे। सारे काम उपभोग के उपकरणों को तिलांजलि देकर और कामिनियों के प्रेमपाश को तोड़कर अपनी भामिनियों की भव्य ममता का प्रासाद ढ़हाकर जो शुकताल मे मोक्ष को आया हो जहाँ उत्कट मुमुक्षा जग गई हो वहाँ बुभुक्षा कैसे संभव है? और अब वाच्य पर विचार करें इस कथा के वाच्य हैं स्वयं नटवर, नन्दनागर, व्रजेन्द्रनन्दन शिखिपीच्छशेखर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्। श्रीकृष्ण की व्यवस्था और अवस्था पर निष्ठापूर्वक विचार करें तो भी यहॉ काम कथा का प्रस्ताव संगत प्रतीत नहीं होता। आइये पहले भगवान श्रीकृष्ण की व्यवस्था का विचार करते हैं। व्यवस्था का तात्पर्य है भगवान् श्रीकृष्ण की ईश्वरत्व से। हम कह चुके हैं कि कामकथा उसे भाएगी जो च्युत हो, भगवान् श्रीकृष्ण अच्युत हैं। वे कभी च्युत ही नहीं होते, आनन्द की उसे भूख होती है जहाँ आनन्द न हो, वो तो स्वयं आनन्द के महासागर हैं और सत्य कहा जाये तो श्रुतियों ने उन्हें आनन्दस्वरूप कहा है। जो स्वयं आनन्दस्वरूप हो उसे आनन्द की आवश्यकता क्या है? जो स्वयं परमानन्द माधव हो उसे दूसरे आनन्द की क्या आवश्यकता और क्या अपेक्षा? इसलिए भी श्रीकृष्ण के विषय मे कामकथा की कल्पना पूर्ण निराधार ही सिद्ध होती है। काम के अधिष्ठान होते हैं इन्द्रिय, मन और बुद्धि **''इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते''** (गीता ३/४१) और भगवान् इन तीनों से परे हैं। श्रीमद्भागवत गीता मे स्पष्ट कहा गया

''इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु सः।।''

(गीता ३/४२)

शरीर से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है मन, मन से परे है बुद्धि, बुद्धि से परे है जीवात्मा और उससे भी परे हैं परमात्मा और कठोपनिषद मे तो परत्व और सूक्ष्मत्व की बहुत लंबी सूची है। वहाँ तो सात परों की चर्चा की गई है।

''इन्द्रियेभ्य पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।

महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुष परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।''

कठोपनिषद ३/१०, ११.

अर्थात् शरीर से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है वे इन्द्रियों के विषय और विषयों से सूक्ष्म और श्रेष्ठ है मन और मन से भी सूक्ष्म है बुद्धि और बुद्धि से सूक्ष्म है यह जीवात्मा और जीवात्मा से भी सूक्ष्म है भगवान् की यह अव्यक्त माया और उससे भी सूक्ष्म हैं परम पुरुष परमात्मा। **''पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः''** पुरुष से न तो कोई श्रेष्ठ है और न ही सूक्ष्म है। वही सबकी सीमा है और वही सबका गंतव्य स्थान है। इस दृष्टि से काम के अधिष्ठान बुद्धि से भी जीवात्मा परे है। उससे परे है भगवान् की योगमाया और उससे परे है भगवान् अतएव भगवान् मे यह काम कैसे आ सकेगा? क्योंकि जब जीवात्मा का ही काम से संबन्ध नहीं तो भगवान् का काम से संबन्ध कैसे हो सकेगा? इस दृष्टि से भी भगवान् मे काम के गन्ध की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इतना ही नहीं यदि भगवान् की अवस्था का चिन्तन किया जाये तब तो यह कल्पना पूर्ण हास्यास्पद ही है। श्रीमद्भागवतम् की कथानक के अनुसार रासपंचाध्यायी रासलीला के समय भगवान् श्रीकृष्ण की अवस्था मात्र आठ वर्ष की है, क्योंकि सातवाँ वर्ष पूर्ण करने पर उन्होंने गोवर्धन

उठाया। **"क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्"** (१०/२६/१४) और भगवान् की गोवर्धन लीला प्रारम्भ हुई कार्तिक शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से उसी दिन भगवान् ने गोवर्धन को अन्नकूट कराया। दूसरे दिन भगवान् ने स्वयं भोजन किया और कार्तिक शुक्ल पक्ष के तृतीया के दिन तृतीया से लेकर अक्षयनवमीपर्यन्त अपने बायें हाथ की कनिष्ठिका के नख पर गोवर्धन को उठा के रखा और कार्तिक शुक्ल दशमी के दिन भगवान् का इन्द्र ने अभिषेक किया। कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन नन्दबाबा ने व्रजवासियों का सन्देह दूर किया। कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को वरुणलोक दर्शन और इसके अनन्तर लगभग नौ महिनेपर्यन्त प्रतीक्षा के पश्चात् यह उपस्थित हुई रासलीला। इस दृष्टि से भगवान् अब आठ वर्ष के हो गये हैं। आज भी जबकि भौतिकता चरम सीमा पर है पश्चिमी संस्कृति का प्रचण्ड ताण्डव भारतीय मानस को झकझोरे दे रहा है इस समय भी क्या आठवर्षीय बालक पच्चीस वर्ष की युवती के साथ काम क्रीड़ा कर सकता है? क्या यह संभव है? यदि आज नहीं तो फिर उस समय कैसे? यदि आप कहें कि भगवान् तो समर्थ हैं तो क्या भगवान् अपने सामर्थ्य का प्रयोग इस निन्दित कार्य के लिए करेंगे? यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि भगवान् की भगवत्ता का प्रयोग तीन परिस्थितियों मे होता है—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।"

श्रीमद्भगवद्गीता ४/८.

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मैं प्रत्येक युग मे संभूत होता हूँ, मेरा संभव होता है अर्थात् मैं अपने ऐश्वर्य और भगवत्ता के साथ प्रकट होता हूँ। क्यों? कहते हैं तीनों समस्याओं के समाधान के लिए, साधुओं का 'परित्राणाय' माने चारों ओर से रक्षण करने के लिए, दुष्कर्म करनेवालों का विनाश करने के लिए, और धर्म की स्थापना करने के लिए। यहाँ विचार कीजिए यह कामकथा क्या भगवान् के तीनों उद्देश्यों मे से किसी उद्देश्य का अंग बनती है। क्या कामकथा सन्तों का परित्राण करती है? क्या कामकथा से दुष्टों का विनाश संभव है? क्या कामकथा से सनातन धर्म की संस्थापना हो सकेगी, जिसके लिए भगवान् असमय मे भी भगवत्ता का परिचय कर आये। इसलिए अष्टवर्षीय बाल्यावस्था मे भगवान् किसी भी मूल्य पर कामकथा की परिणति के लिए अपनी भगवत्ता का प्रयोग नहीं करेंगे। वहाँ श्रीमद्विष्णु पुराण मे कहा गया—

सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः।
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहिताः।। वि.पु.५/१३/६०

इसका तात्पर्य क्या है? भगवान् ने कैशोरक वय का सम्मान किया। 'मानयन्' अर्थात् असमय मे अपनी किशोरावस्था को प्रकट नहीं किया, अभी वे बाल्यावस्था मे हैं। जैसे बालक निर्दोषभाव से खेलता है, उसी प्रकार भगवान् गोपियों के साथ खेल रहे हैं **"रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः"**। क्योंकि बुभुक्षा किशोरावस्था का लक्षण है बाल्यावस्था का नहीं। अतएव गोपियों के साथ खेलते हुए भी भगवान् निर्विकार है। इसीलिए लिखा 'अमेयात्मा' उनकी आत्मा का, उनके मन का कोई माप नहीं है। उनके मन की गम्भीरता की कहीं सीमा नहीं है। अतः 'क्षपासु क्षपिताहितः' इस लीला से उन्होंने शत्रुओं को भी क्षपित किया है। अतएव इस परिस्थिति मे भी भगवान श्रीकृष्ण मे काम का समावेश कथमपि संभव नहीं है। अतः निष्काम भाव से इस रासपंचाध्यायी का प्रारम्भ करते हैं। **"भगवानपि ता रात्रीः"** इस प्रसंग मे बारम्बार **'रेमे' 'अरीरमत्'** इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'रम' धातु का अर्थ है क्रीड़ा वह भी बालक की क्रीड़ा, निर्दोष क्रीड़ा, कामनारहित क्रीड़ा, वासनारहित

क्रीड़ा। और 'रम' शब्द का वस्तुतः राम मे ही सार्थकत्व है, क्योंकि 'रम' धातु से राम ही निष्पन्न होता है। **"रमते इति रामः"** जो रमता है बालक की भाँति उसे राम कहते हैं। **"रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः"** जिसमे योगी लोग रमण करते हैं उसे राम कहते हैं। भाव यह कि भागवत की सर्वश्रेष्ठ रासपंचाध्यायी लीला तब तक परिणति को नहीं प्राप्त हुई जब तक की स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मे रामत्व का आधान नहीं कर लिया। जब तक रामत्व नहीं आता तब तक लीला की परिणति नहीं आती। जब रामत्व आ गया–

"जहाँ राम तहाँ काम नहीं जहाँ काम नहीं राम।
तुलसी नहीं दूर है रवि रजनी एक ठाम।।"

राम और काम का उत्तर समझने के लिए एक रोचक सरणि प्रस्तुत की जा रही है। वर्णक्रम का यदि हम विचार करते हैं तो 'र' व्यंजन वर्णों मे २७वाँ है। पाँच वर्गों के पश्चात 'र' 'य' वर्ग मे आता है, वह भी दूसरे स्थान पर। पंचवर्ग प्रत्येक पाँच–पाँच वर्गों के हैं पच्चीस और 'य' तथा 'र' है २७वाँ और संयोग से जब काम के वर्णों की संख्या पर विचार करेंगे तो 'क' अर्थात् व्यंजन का प्रथम अक्षर 'अ' स्वर का प्रथम अक्षर 'म' व्यंजनवर्ण का २५वाँ अक्षर पच्चीस और दो सताइस अर्थात् जहाँ काम की संख्या समाप्त हो जाती है वही से "राम" का प्रारम्भ होता है। सत्ताइस पर काम की संख्या समाप्त हुई और २७वें अक्षर से "राम" का प्रारंभ हुआ, इसलिए राम रमाते हैं। **"रमयति इति रामः"** और राम का उल्टा है मार। काम मार डालता है **"मारयति इति मारः"**। एक मारता है दूसरा तारता है। एक रमाता है दूसरा भ्रमाता है। इसलिए भी यहाँ काम का प्रश्न ही नहीं उठता। हम पहले भी कह चुके हैं कि भगवान् ने चीरहरण के माध्यम से गोपियों के शरीर को अलौकिक बना दिया है और गोपियाँ भी **"पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरु शीतकर्शिताः"** गोपियों ने यमुना जल मे स्नान किया है जो साक्षात् भगवत्प्रेमरसरूपिणीं हैं। जहाँ भगवत्प्रेम होता है वहाँ काम आ ही नहीं सकता। स्नान करके गोपियाँ भगवत्प्रेममय हो चुकी हैं। चीरहरण के माध्यम से उनका पंच रंगों मे रंगा हुआ चोला दिव्य हो गया है, अब उसमे पंचबााण के प्रवेश की संभावना ही नहीं है। वह श्याममय हो गया। इसलिए यहाँ इस लीला के नायक की भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं भगवान्। भगवान् शब्द भी बहुत सारगर्भित है **"भगश्रीकाममाहात्म्य वीर्ययत्नार्ककीर्तिषु"** जैसा हम कह चुके हैं, यहाँ सम्पूर्ण ऐश्वर्य है, यहाँ धर्म की समग्रता है, यहाँ यश है, यहाँ श्री अर्थात् शोभा है, ज्ञान भी, यहाँ वैराग्य भी है। ये छहों सद्गुण भी काम के विरोधी हैं, क्योंकि जहाँ सम्पूर्ण ईश्वरता होती है वहाँ काम नहीं होता है। जहाँ सम्पूर्ण धर्म होता है वहाँ काम की गन्ध नहीं होती, क्योंकि कामी कभी धार्मिक नहीं हो सकता है। धर्म धारण करता है और काम पतन का कारण बनता है। जहाँ सम्पूर्ण यश विराजमान होता है वहाँ काम का प्रवेश संभव नहीं है, काम यशस्वी नहीं बना सकता। जहाँ सम्पूर्ण श्री होती है वहाँ काम की लेश की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। काम ज्ञानवान के पास नहीं आता, क्योंकि काम का ज्ञान के साथ विरोध है, काम ज्ञानी का नित्य शत्रु है–

"आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।"

गीता ३/३६.

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि काम ज्ञानी का नित्य शत्रु है, उससे ज्ञान ढ़ँक जाता है। भगवान् का ज्ञान काम से कभी नहीं ढ़कता। भगवान् का ज्ञान ही काम से ढ़क जायेगा तो उसमे प्राशस्त्य कैसे होगा, नित्यता कैसे आयेगी? जीव और ब्रह्म मे एक ही अन्तर है,

वह यह कि जीव का ज्ञान अज्ञान से ढ़क जाता है **''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः''** (गीता५/१५) उससे जीव मोहित होता है, भगवान् का ज्ञान किसी भी परिस्थिति मे अज्ञान से नहीं ढ़कता है। इससे उनका ज्ञान अखण्ड है

''ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।
माया वश्य जीव सचराचर।।'' मानस ७/७८/४.

भगवान् का ज्ञान तो भक्त के अन्धकार को दूर करता है।

''तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।'' गीता १०/११

अर्थात् भगवान् आत्मभाव मे उपस्थित होकर ज्ञान के प्रकाश से जीव के अन्धकार को नष्ट कर देते हैं। भगवान् का ज्ञान किसी भी परिस्थिति मे नष्ट नहीं होता, किसी भी परिस्थिति मे अभिभूत नहीं होता। जहाँ काम होता है वहाँ वैराग्य नहीं होता। भगवान् तो नित्य वैराग्यसंपन्न हैं। कामी सर्वज्ञ नहीं हो सकता और भगवान सर्वज्ञ होते हैं। इसलिए भगवान् की दूसरी व्याख्या करते हुए वेदव्यास जी ने विष्णुपुराण मे कहा,

''उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।''

विष्णु. ६/५/७८.

जो जीव की उत्पत्ति, विनाश, अगति, गति, विद्या और अविद्या सब जानते हैं। इसलिए भगवान् उपस्थित हो रहे हैं गोपियों के साथ रमने के लिए। आज भगवान् रमेगे और जो व्यक्ति रम जाता है उसमे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रह जाता। चित्रकूट मे भगवान् राम का मन रमा, **''रमेउ राम मन देवन जाना''**। आज गोपियों के साथ भगवान् का तन भी रमेगा **''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः''**। भगवान् कौन हैं जो भाग्यवान् होता है वही भगवान् होता है और जहाँ काम होता है वहाँ भाग्य बन ही नहीं सकता। आज इस सबसे रोचक बात यह है कि **''को जग काम नचाव न जेहि''** (मानस ७/ ६६/७) काम सबको नचाता है पर आज काम भगवान् को नहीं नचा रहा है बल्कि भगवान् ही काम को नचायेंगे, गोपियों को नचायेंगे। **''गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते''** भगवान् गा रहे हैं और गोपियाँ प्रेम से नाच रही हैं। आज भगवान् नहीं नाचेंगे गोपियाँ स्वयं कहेंगी, **''ऐसी तान सुना कन्हैया मैं नाचूँ तू गा''**। कामकृत्य के लिए एकान्त चाहिए यहाँ अनन्त गोपियों का समूह है और यहाँ योगमाया का साम्राज्य है।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। द्वितीय पुष्प सम्पन्न।।

।। तृतीय पुष्प प्रारम्भ।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस–
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

परिपूर्णतम परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दघन सर्वावतारी सर्वसर्वेश्वर सर्वनियन्ता श्रीमद्सीताराम जी की भुवनपावनी कृपा से एवं नटवर नन्दनागर व्रजेन्द्रनन्दन गोवर्धनधर श्रीराधाकृष्ण भगवान् की अनन्त अनुकंपा से अब हम श्रीरासपंचाध्यायी के अगले प्रकरणों पर विचार करने के लिए तृतीय पुष्प का पुष्पस्तबक प्रभु के श्रीचरणकमलों मे प्रस्तुत करेंगे।

''भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।'' भा.१०/२९/१.

परमहंस परिव्राजकों के भी परम पूज्य विरक्त चूड़ामणि एवं महात्माओं के भी शिखामणि भगवान् श्रीशुकाचार्य जी रासपंचाध्यायी का प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरण के रूप मे भगवान् शब्द का प्रयोग करते हैं और शास्त्रों का मानना है कि–

''मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च
शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि आयुष्मत्पुरुषकाणि
च भवन्त्याध्येतारश्च सिद्धार्थाः यथा स्युः।''

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जिन शास्त्रों के प्रारम्भ मे मध्य मे और अन्त मे मंगलाचरण किया जाता है उन शास्त्रों की बहुत ख्याति होती है। भगवान् शुकाचार्य जी ने इस प्रकरण को एक स्वतंत्र शास्त्र मान लिया है, जैसे महाभारत के मध्य होने पर भी श्रीमद्भगवद्गीता को स्वतंत्र शास्त्र माना गया। उसी प्रकार श्रीमद्भागवत् के अन्तर्गत् होने पर भी रासपंचाध्यायी प्रकरण को स्वतंत्र शास्त्र माना गया और श्रीशुकाचार्य महाराज ने आदि, मध्य और अन्त तीनों मे मंगलाचरण किया। मंगलों का भी मंगल है भगवान् शब्द इससे बड़ा कोई मंगल नहीं हो सकता। अतएव प्रथम मे भी **''भगवानपि''** **''भक्तिं हरौ भगवति''** एवं विश्राम में भी मंगलाचरण करके श्रीशुकाचार्य जी सिद्ध कर रहे हैं कि यह रासपंचाध्यायी प्रकरण परम मंगलमय प्रकरण है। भागवत् जी का पंचप्राणात्मक श्रीविग्रह है और अध्यात्म का श्रेष्ठ उपादान है। विगत प्रवचनों मे हम कह चुके हैं कि 'भगवान्' शब्द यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है और इसी की पर्यालोचनाओं से स्वयं समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता है। भगवान् शब्द के अर्थ की निष्पत्ति मे शास्त्रों ने बहुत से पक्ष दिये हैं। वेद से लेकर आज तक के समस्त आस्तिक ग्रन्थों मे भगवान् की चर्चा है। कौन हैं भगवान्? विष्णु पुराण मे कहा गया–

''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणाः।।''

वि. पु. ६/५/७४.

श्रीपराशर जी कहते हैं कि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य को ही 'भग' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इनमे से एक भी जिसके यहाँ हो उसे भगवान् कह सकते हैं। क्या संयोग है? किसी एक के भी रहने पर भगवान् कहा जा सकता है यहाँ तो छहों निरन्तर और प्रशस्त रूप मे विद्यमान है। भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण इनमे ये छहों भग निरन्तर रहते हैं। ये इनको छोड़ नहीं सकते,

जैसे जल से जल की मिठास को अलग नहीं किया जा सकता है, जैसे सूर्यनारायण से सूर्यनारायण की प्रभा अलग नहीं की जा सकती, जैसे चन्द्रमा से चाँदनी अलग नहीं की जा सकती उसी प्रकार ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य को परिपूर्णतम परमात्मा श्रीमद्रामाभिन्न भगवान् श्रीकृष्ण से अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ इनका क्या संबन्ध हो सकता है? प्रश्न बड़ा मधुर और गम्भीर भी है, क्योंकि नैयायिकों ने गुणों का गुणी से समवाय संबन्ध माना और परमात्मा को भी द्रव्य कोटि मे माना क्योंकि द्रव्य नैयायिकों ने नौ माने हैं **''पृथिव्यप्तेजोवाटवाकाशकालदि– गात्ममनांसि नवैव द्रव्याणि''** इन द्रव्यों मे आत्मा को आठवाँ द्रव्य माना है। आत्मा नैयायिकों की दृष्टि से जाति पर है। जाति कहते हैं किसे? **''नित्यत्वे सत्येकत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं जातित्वं''** जो नित्य होकर, एक होकर अनेक मे समवेत हो उसे जाति कहते हैं। 'आत्मत्व' नित्य है, एक है और अनेक मे समवेत भी है अर्थात् जब तक अनेकत्व का लापन नहीं होगा तब तक जाति सिद्ध नहीं हो सकेगी। इसलिए आत्मा की न्याय में दो भेद माने गए हैं **''ज्ञानाधिकरणमात्मा स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति''** यह ज्ञान का अधिकरण है और इसके दो भेद हैं, जीवात्मा और परमात्मा। आत्मतत्व दोनों मे समवेत है। जीवात्मा के भी शास्त्र मे अनन्त भेद माने हैं, **''तत्र जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च''** जीवात्मा प्रत्येक शरीर में है, अनन्त है, विभु है और नित्य है। **''परमात्मा तु एको विभुर्नित्यश्च''** परमात्मा एक है, 'विभु' अर्थात् सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों का संयोगी होकर व्यापक है और नित्य है इसलिए जीवात्मा के बहुत्व मे नैयायिकों को कोई सन्देह नहीं है और यदि गम्भीरता और निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो श्रुतियों के सिद्धान्तों मे भी जीवात्मा के बहुत्व मे कोई सन्देह नहीं है। श्रुतियों ने भी जीवात्मा को बहुत माना है। इसीलिए कठोपनिषद मे श्रुति स्पष्ट कहती हैं, **''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्''** (कठो.१/२/१३) भगवान् नित्य जीवों के भी नियामक नित्य हैं। 'चेतनश्चेतनानां' चेतन जीवों के नियन्ता स्वयं चेतन हैं। परमात्मा एक हैं जीव बहुत है 'एको बहूनां' एक होकर भी बहुत से जीवों की सम्पूर्ण कामनाओं को परमात्मा पूर्ण करते हैं। इस दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा का निर्वचन करने के लिए श्रुति ने परमात्म पदार्थ के लिए प्रथमा की एक विभक्ति का प्रयोग किया है और जीवात्मा के निर्वचन के लिए षष्ठी के बहुवचन का प्रयोग किया। यहाँ तीन बार षष्ठी करके श्रुति और कुछ कहना चाहती हैं। भगवती श्रुति का मन्तव्य है कि तीन बार षष्ठी के प्रयोग से साधकों को समझ लेना चाहिए कि तीनों काल मे जीव के साथ परमात्मा के संबन्ध हैं। जीवात्मा का जीवात्मा संबन्धी नहीं होता, परमात्मा ही उसके नित्य संबन्धी हैं। जीव तीनों कालों मे परमात्मा का है। जीव जाग्रत, सुषुप्त, स्वप्न इन तीनों अवस्थाओं मे परमात्मा का है। जीवात्मा पदार्थ के साथ षष्ठी लगी है। इसका अर्थ है तीनों कालों मे जीवात्मा के हैं परमात्मा, वे जीवात्मा के शासक हैं, वे जीवात्मा के नियन्ता हैं, वे जीवात्मा के माता–पिता हैं सब कुछ हैं। संसार के जितने संबन्ध हैं संपूर्ण संबन्धों के अनुयोगी परमात्मा ही हैं। जीवाचार्य की भूमिका का निर्वहन करते हुये श्रीरामचरितमानस मे श्रीराम से लक्ष्मण जी कहते हैं, ''सरकार!

''जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई।।
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी।।''

मानस २/७२/५,६

जगत् मे जितने स्नेह और जितने संबन्ध हैं, जगत् मे जहाँ–जहाँ प्रीति और जहाँ–जहाँ विश्वास का वर्णन वेदों ने किया है उन सबका आधार मेरी दृष्टि से आप ही

हैं। संपूर्ण संबन्धों के अनुयोगी आप हैं, आप हमारे हैं, हम आपके हैं। मुंडकोपनिषद् श्रुति ने तो जीवात्मा और परमात्मा का सख्य संबन्ध माना।

''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्ववत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।''

मु. उ. ३/१/१.

श्रुति ने कहा, जीवात्मा और परमात्मा का तो उसी प्रकार का संबन्ध है जैसे दो मित्रों क हुआ करता है। संसार एक वृक्ष है इस पर जीवात्मा और परमात्मा दो मित्र पक्षियों की भाँति विराजमान हैं और दोनों एक–दूसरे से चिपककर मिल रहे हैं, अनादिकाल से मिल रहे हैं ''परिषष्वजाते'' यही तो है रासपंचाध्यायी। रासपंचाध्यायी इसी अवधारणा का विस्तार है। हम पहले ही कह चुके हैं कि श्रीमद्भागवतम् निगम कल्पतरू का गलित फल है। यदि निगम यह कह रहा है कि जीवात्मा का परमात्मा आलिंगन कर रहे हैं, जीवात्मा के साथ परमात्मा चिपके हुए हैं इसी का तो विस्तार है रासपंचाध्यायी। गोपियाँ हैं जीवात्मा और श्रीकृष्ण हैं परमात्मा। अनादिकाल से इन जीवात्मभूत गोपियों के साथ परमात्मा चिपके हुए हैं। **''तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्ववत्त्यनश्नन्– न्योऽभिचाकशीति''** गोपियों को वियोग का अनुभव होता है और परमात्मा इन सबसे तटस्थ रहते हैं। 'परिषष्वजाते' एक–दूसरे से चिपके हुए हैं। जीवात्मा को परमात्मा छोड़ नहीं सकते उसी प्रकार श्रीकृष्ण गोपियों को छोड़ नहीं सकते वे अनन्तकाल से परमात्मा श्रीकृष्ण के द्वारा आलिंगित् हैं, उनसे चिपकी हुई हैं और चिपकी रहेंगी। यही है रासपंचाध्यायी की परिणति। **''गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते''** आज भी हिन्दी और अन्य सभी मे आत्मा को स्त्रीलिंग के रूप मे व्यवहृत किया जाता है। हिन्दी मे तो यहाँ तक कहा जाता है कि हमारी आत्मा यह करने को नहीं कह रही है, हमारी आत्मा ऐसा मानती है तो यदि व्यवहार में जीवात्मा के लिए स्त्री शब्द का प्रयोग होता है उसी व्यवहार की यहाँ पर एक उपस्थिति कर दी श्रीशुकाचार्य जी ने यदि हम व्यवहार मे जीवात्मा के लिए स्त्री शब्द का प्रयोग करते ही हैं आज वही जीवात्मा नारी बनकर नारायण के साथ नित्य आलिंगित् हो रही है। जीवात्मा नारी है और परमात्मा नारायण हैं। परमात्मा नर हैं, जीवात्मा नारी है। ''नरस्य सहचरिता नारी'' इसमे आपत्ति ही क्या हो गई और कहाँ आई यह कुत्सित काम्य भावना की गन्ध? अतएव जीवात्मा का परमात्मा से स्वरूपतः अभेद कभी सिद्ध भी नहीं किया जा सकेगा। जब **''द्वासुपर्णा सयुजा सखाया''** श्रुति ने कह ही दिया और यहाँ भी उन्होंने ''द्वासुपर्णा, सयुजा, सखाया, परिषष्वजाते, तयोः, अन्यः'' अर्थात् एक ही मंत्र मे सात ऐसे शब्द प्रयुक्त किये श्रुति ने जो जीवात्मा के साथ परमात्मा के भेद का प्रतिपादन कर रहे हैं। सात बार श्रुति ने कहा, परमात्मा, जीवात्मा से कभी भी स्वरूपतः अभिन्न नहीं हो सकते। वो जीवात्मा से भिन्न ही रहेंगे, हाँ संबन्धतः उनके अभेद मे किसी को कोई आपत्ति नहीं है। सिद्धान्ततः यह निश्चित हो जाता है कि दोनों संबन्धतः अभिन्न हैं और वही संबन्ध निबन्धना एकता श्रीकृष्ण और गोपियों की है। अतएव मंगलाचरण का जो प्रयोग किया भगवान् शुकाचार्य जी ने तो परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को भगवान् कहा, क्योंकि इनमे ये छहों भग निरन्तर विराजते रहते हैं। किसी भी व्यक्ति या पदार्थ मे ये छहों निरन्तर नहीं रहते हैं। मैं यहाँ यही कह रहा हूँ कि न्याय ने तो स्पष्ट जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न माना ही है और मान करके यह कह दिया कि आत्मतत्त्व द्रव्य है। अब द्रव्य की परिभाषा करने के लिए महर्षि गौतम के मत का पोषण करते हुए न्याय ने एक व्यवस्था दी है। किसे कहते हैं द्रव्य? **''द्रव्यत्वं जातिमत्वं गुणवत्वं समवायिकारणत्वं च''** द्रव्य कौन है? जो द्रव्यत्वजातिमान हो, द्रव्यत्व जाति जिसमे

निरन्तर रहे। प्रश्न है कि जिसका आप लक्षण कर रहे हैं और आपके लक्षण मे उस लक्षतावच्छेदक का भी निवेश हो रहा है, द्रव्यत्व जो है वह लक्षतावच्छेदक है और द्रव्यत्व जातिमत्व लक्षणतावच्छेदक है। दो लक्षणतावच्छेदक मे लक्षतावच्छेदक सन्निविष्ट हो रहा है तब तो अनर्थ होगा, आत्मा से दोष आ जाएगा। इस लक्षण मे अरुचि करते हुए शास्त्रकार ने कहा, 'गुणवत्वं' जिसमे निरन्तर गुण विराजते हैं वह द्रव्य हुआ करता है। पुनः शंका की यदि गुणवान द्रव्य होगा तो प्रथम क्षण मे उत्पन्न होनेवाला द्रव्य गुणवान नहीं होता **''उत्पन्नं स द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति''** उत्पन्न हुआ द्रव्य प्रथम क्षण मे निर्गुण और निष्क्रिय रहता है इसलिए यदि ''गुणवत्वं द्रव्यत्वं'' यह लक्षण किया जाएगा तो प्रथम क्षण मे उत्पन्न द्रव्य मे इस लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी। यह लक्षण वहाँ नहीं जा सकेगा। **''लक्षैकदेशेवृत्तित्वं अव्याप्तित्वं''** अतएव शास्त्रकार को जब यहाँ अरुचि हुई तो उन्होंने कह दिया कि **''समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वं''** जो समवायि कारण होता है उसे द्रव्य कहते हैं। अर्थात् प्रत्येक कार्य जहाँ समवाय संबन्ध से निष्पन्न होता है वही द्रव्य होता है। **''समवायेन कार्यं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणं''** समवाय संबन्ध से कार्य के प्रति तादात्म्य संबन्ध से द्रव्य कारण होता है अर्थात् वहाँ पर समवाय संबन्धावच्छिन्ना, कर्त्तावच्छिन्ना कारणता 'कारणतावच्छिन्ना' द्रव्य मे रहती है। जो–जो कारणता है वह किसी न किसी गुण के साथ है। गुण ही कार्य रूप मे वहाँ द्रव्य मे उपस्थित हो जाता है। **''या या कारणता सा सा यत्किंचित् धर्मावच्छिन्ना यत्किंचित् संबन्धावच्छिन्ना च''** वह किसी न किसी धर्म के साथ होती है और किसी न किसी संबन्ध के साथ होती है। बिना संबन्ध के कारणता रह ही नहीं सकती। जैसे दण्ड यदि घट का कारण है तो वहाँ कोई न कोई संबन्ध है, 'स्वजन्य भ्रमिमत्व' संबन्ध है और वहाँ पर दण्डत्व धर्म भी है। इसी प्रकार यदि आत्मतत्त्व द्रव्य है तो वहाँ कोई न कोई धर्म है और कोई न कोई वहाँ संबन्ध भी है। संबन्ध और धर्म से निरपेक्ष कारणता नहीं हुआ करती न्याय मे। प्रश्न पुनः उपस्थित होता है कि यदि आत्मतत्त्व को द्रव्य माना जाएगा तब तो परमात्मातत्त्व मे यह लक्षण कैसे घटेगा? क्योंकि द्रव्य जो है वह सगुण होना चाहिए और उत्पन्न द्रव्य निर्गुण होता है प्रथम क्षण मे। उत्तर बहुत स्पष्ट है, अरे! उत्पन्न द्रव्य न प्रथम क्षण मे निर्गुण होता है परमात्मा उत्पन्न द्रव्य नहीं हैं। इसलिए वे निरन्तर सगुण ही रहते हैं। वे निर्गुण हो ही नहीं सकते। उत्पन्न पदार्थ प्रथम क्षण मे निर्गुण हो सकता है, परमात्मा अनुत्पन्न पदार्थ है जीवात्मा भी अनुत्पन्न पदार्थ है इसलिए यहाँ निर्गुणत्व की कोई आशंका नहीं करनी चाहिए। अब इच्छादि गुण परमात्मा मे रहते हैं, हाँ, इतना अवश्य है कि उनमें से द्वेष आदि गुण जीवात्मा मे भी आते हैं। द्वेष, संस्कार, अधर्म आदि जीवात्मा मे आ सकते हैं, परन्तु परमात्मा मे इनके आने की न तो कोई आवश्यकता है और न बाध्यता है। परमात्मा मे इच्छा होती है पर सदिच्छा, परमात्मा मे अखण्ड ज्ञान होता है, परमात्मा मे दिव्य धर्म होता है, परन्तु परमात्मा संस्कार, द्वेषादि से दूर होते हैं। इसलिए नैयायिकों के पक्ष का श्रुति ने भी समर्थन किया है। **''सोऽकामयत् एकोऽहं बहुष्याम् प्रजायेय''** परमात्मा ने कामना की यदि इच्छा न होगी तो कामना करेंगे कैसे? परमात्मा ने कामना की, यद्यपि मैं एक हूँ पर बहुत हो जाऊँ और प्रकर्ष पूर्वक जन्म लूँ। वे परमात्मा बहुत कम हो सकेंगे जब उनका अन्तर्यामी स्वरूप होगा, जब वे प्रत्येक शरीर मे जीवात्मा के साथ रहेंगे, इसलिए श्रुति ने परमात्मा को जीवात्मा का सखा बताया। सखा शब्द का अर्थ है, **''सह खेलति इति सखा''** जो साथ–साथ खेलता है उसे सखा कहते हैं। इसलिए जीवात्मा को छोड़कर परमात्मा कहीं रह ही नहीं सकते। जहाँ–जहाँ जीवात्मा रहेगा वहाँ–वहाँ परमात्मा रहेंगे। हाँ, जहाँ–जहाँ परमात्मा वहाँ–वहाँ जीवात्मा ऐसी कोई आज्ञा नहीं है। जीवात्मा के साथ परमात्मा का साहचर्य नित्यसिद्ध है, किन्तु परमात्मा

का जीवात्मा के साथ, जैसे "**यत्र–यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि**" जहाँ–जहाँ धुआँ होगा वहाँ–वहाँ अग्नि होगा, परन्तु "**यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः**" ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अग्नि है पर वहाँ धुआँ नहीं है। यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह पक्ष भी बिल्कुल सिद्ध है। यहाँ जीवात्मा के साथ परमात्मा का नित्य साहचर्य है और परमात्मा के साथ जीवात्मा का नित्य साहचर्य है भले वह प्रकट न हो। जैसे जब सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा प्रकट हुए तब जीवात्मा दिखा नहीं, परन्तु वह परमात्मा के साथ है, अप्रधान रूप से, अप्रकट रूप से इसलिए तो परमात्मा को चिदचिद्विशिष्ट माना जाता है विशिष्टाद्वैत दर्शन मे। परमात्मा चित् और अचित् दोनों से विशिष्ट हैं। ये विशेषण उनको नहीं छोड़ सकते। शरीर संबन्ध से विशेषण उनसे जुड़े हुए हैं। "**यस्य आत्मा शरीरं**" श्रुति कहती हैं कि परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जैसे शरीर को शरीरि नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार परमात्मा को जीवात्मा नहीं छोड़ सकता वो निरन्तर साथ रहता है। तो यहाँ की परिस्थिति मे इतना ही कहना अनिवार्य होगा और अपेक्षित कि भगवान् मे गुण है। न्याय की दृष्टि से और उन गुणों मे से इन छहों भगों को किस गुण की कोटि मे रखा जाए? एक सुन्दर सा प्रश्न है। उत्तर भी बड़ा प्यारा है। मेरी अपनी दृष्टि से यद्यपि इस प्रश्न पर मेरे अतिरिक्त अभी किसी ने विचार नहीं किया है, मैं प्रथम विचार कर रहा हूँ। परन्तु मेरी अपनी दृष्टि और साधना के आधार पर मैं स्पष्ट कह सकता हूँ कि इन छहों भगों को ज्ञान की कोटि मे रखा जा सकता है। क्योंकि परमात्मा ज्ञान के नित्य अधिकरण हैं "**ज्ञानाधिकरणं आत्मा**" आत्मा ज्ञान का अधिकरण है और यदि आत्मा के दो भेद किए जायेंगे तो जीवात्मा के यहाँ तो ज्ञान समवाय संबन्ध से रहता है पर निरन्तर नहीं रहता और परमात्मा के यहाँ ज्ञान समवाय संबन्ध से रहता है और नित्य ज्ञान रहता है। इसलिए परमात्मा का लक्षण किया तर्कसंग्रह की प्रसिद्ध टीका दीपिका के रचयिता श्रीअन्नंभट्ट ने। "**समवायसंबन्धेननित्यज्ञानवत्वं परमात्मत्वम्**" समवाय संबन्ध से जो नित्य ज्ञानवान है उसे परमात्मा कहते हैं। अर्थात् जीवात्मा के ज्ञान को काम आदि ढ़क लेते हैं

"**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**
कामरूपेण कौन्तेय दुस्पूरेणानलेन च।।"

गीता ३/३६

ज्ञानी के नित्य वैरी काम के द्वारा ज्ञान ढ़क गया "**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं**" और उन्होंने कहा कि अज्ञान से भी जीव का ज्ञान ढ़कता है। जीव के ज्ञान को काम ढ़कता है, जीव के ज्ञान को अज्ञान ढ़कता है, पर परमात्मा का ज्ञान किसी भी काल मे किसी भी वस्तु से ढ़कता नहीं है। यही जीवात्मा और परमात्मा का सामान्यतम् लक्षण समझ लेना चाहिए "**आवृतज्ञानवत्वं जीवात्मत्वं, अनावृतज्ञानवत्वं परमात्मत्वं**" जिसका ज्ञान ढ़क जाता है उसे जीवात्मा कहते हैं जिसका ज्ञान कभी नहीं ढ़कता उसे परमात्मा कहते हैं (यह मेरा नया लक्षण है)। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता की सातवें अध्याय के २६वें श्लोक मे भगवान् ने कह दिया कि, मैं सब कुछ जानता हूँ, तुम सब कुछ नहीं जानते।

"**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।**
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।"

गीता ७/२६

अर्थात मेरा ज्ञान त्रिकालाबाधित है, तीनों कालों में बाधित नहीं होता, मेरा ज्ञान सत्य है, मेरा ज्ञान अनावृत है, परन्तु तुम्हारे साथ ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है। तुम्हारा ज्ञान त्रिकालाबाधित नहीं है, तुम्हारा ज्ञान कभी न कभी ढ़कता है, क्योंकि तुमको शोक होता है, मुझे कभी शोक नहीं होता। "**शोक संविग्न मानसः**" तुम शोक से संविग्न हो जाते हो,

उद्विग्न हो जाते हो, परन्तु मैं कभी शोक से उद्विग्न नहीं होता, क्योंकि मुझको श्रुति ने विशोका कहा है। मुझको कभी शोक नहीं होता **''अपहतपाप्मा विमृत्युर्विजरो विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः''** परमात्मा मे आठों गुण नित्य आविर्भूत रहते हैं और जीवात्मा मे कभी–कभी आविर्भूत होते हैं। यही परमात्मा और जीवात्मा का एक मौलिक अन्तर कहा जा सकता है। इसलिए गुण परमात्मा मे समवाय संबन्ध से रहते हैं नैयायिकों की दृष्टि से, परन्तु भारतीय दर्शन में न्याय को अंतिम दर्शन नहीं माना जा सकता। कहीं–कहीं मतभेद हो जाता है। और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कह दिया कि यदि भगवान् को जानना हो तो वे न्याय से नहीं जाने जा सकते। न्याय से अन्य पदार्थों का ज्ञान हो सकता है परन्तु भगवान् न्याय से नहीं जाने जा सकते। भगवान् को जानने के लिए तो वेदान्त की आवश्यकता होगी, इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड के प्रथम मंगलाचरण के द्वितीय चरण मे स्पष्ट कहा कि **''ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनीशं वेदान्तवेद्यं विभुं''** भगवान् विभु होने के साथ–साथ वेदान्त से वेद्य हैं। भगवान् को वेदान्त से जाना जा सकता है। यहाँ 'विद' धातु का जो प्रयोग हुआ है उसमे चारों धातुओं की संगति लगायी जा सकती है। चार धातुओं से 'विद' बन सकता है। **''विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विद् विचारणे''** अर्थात् ''वेदान्तवेद्यं'' परमात्मा की सत्ता वेदान्त में है। ''वेदान्ते वेद्यं'' वेदान्त की दृष्टि से परमात्मा की सत्ता का चिन्तन किया जा सकता है। **''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''** और जब ज्ञान पक्ष लेंगे तो **''वेदान्तेन वेत्तुं शक्यम्''** परमात्मा वेदान्त के द्वारा जाने जा सकते हैं और ''विद्लृ लाभे'' तो **''विन्दतीति विद् वेदान्तेन विन्दन्ति भक्ताः परमात्मनं''** परमात्मा को जीव वेदान्त के द्वारा पा सकता है और ये विचार करने की बात है। विद् विचारेण तो ''वेदान्तेन वेद्यं'' वेदान्त के आधार पर ही परमात्मा का विचार करना चाहिए। क्योंकि प्रथम सूत्र का आविष्कार करते हुए महर्षि वादरायण भगवान् वेदव्यास जी ने कहा **''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा''** अब ब्रह्म की जिज्ञासा करिए अर्थात् मीमांसा के द्वारा कर्म का पूर्ण संपादन करके और अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से अपने मल आवरण विक्षेप का समापन करके अब ब्रह्म की जिज्ञासा करो। अथवा **''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा''** इस प्रक्रिया से स्वयं तुम्हें ब्रह्म की जिज्ञासा होगी। अब तुमको जानने की इच्छा हो जायेगी की परमात्मा कौन है? उनका ज्ञान कैसे किया जाये? क्योंकि **''तमेतं ब्राह्मणाः विविदिशन्ति वेदानुवचनेन यज्ञेन तपसानाशकेन''** अर्थात् वेदानुवचन, यज्ञ, व्रत, तप और उपवास आदि साधनों से जीव के मन मे परमात्मा को जानने की इच्छा जगती है और जब तक परमात्मा को जानने की इच्छा स्वयं नहीं जगती तब तक परमात्मा जाने भी नहीं जा सकते। बिना इच्छा के कैसे जाने जायेंगे? क्योंकि ज्ञान, इच्छा और कृति तीनों का परस्पर संयोग है। **''ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः''** कुछ सामान्य ज्ञान जब होता है तब विशेष जानने की इच्छा होती है। इन साधनों से जीव को इतना तो आभास हो जाता है कि जगत् का कोई नियन्ता है। वो किस रूप मे है? जगत् का कोई नियन्ता है। यहाँ कुछ है, 'यद्किंचित्व' का ज्ञान सामान्य ज्ञान कहलाता है और वह जब जीव को हो जाता है तो विशेष जानने के लिए तब इच्छा जगती है और जब इच्छा जगती है तब उस इच्छा की पूर्ति के लिए व्यक्ति यत्न करता है। इसीलिए यत्न किसके लिए किया जाए तो श्रीमद्भागवतम् मे प्रथम स्कन्ध के पाँचवें अध्याय मे भगवान् नारद जी ने कहा, वेदव्यास जी से–

''तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा।।''

भागवत १/५/१८

कहा कि, सुख और दुःख के लिए कभी यत्न नहीं करना चाहिए। क्यों? इसलिए की वो तो अनिवार्य सत्य है, दुःख के पश्चात् सुख को आना ही पड़ेगा ये काल की गति है। जैसे दिन के पश्चात् रात का आना निश्चित है, उसी प्रकार दुःख के पश्चात् सुख का आना निश्चित ही है। हाँ, इतना हो सकता है कि रातें कभी–कभी छोटी होती हैं, कभी–कभी बड़ी होती हैं। ठीक उसी प्रकार कभी–कभी व्यक्ति के जीवन मे दुःख आता है तो वही जल्दी समाप्त हो जाता है और कभी–कभी वो कुछ दिन तक रह जाता है। उसमे भी यदि रात्रि आई और खर्राटे भरकर सो लिया तो रात्रि कब आई कब आकर चली गई इसका पता नहीं चलता और जब व्यक्ति जगता रहता है तब उसे रात्रि की विशालता का अनुभव होता है कि अभी कितनी रात है–कितनी रात है? जगने मे रात्रि की विशालता का अनुभव होता है जैसे **''जुग सम गई शिराती नहीं राती''** सीता जी कहती हैं कि रात्रि युग के समान हो गई है जल्दी बीत ही नहीं रही है। उसी प्रकार जो व्यक्ति दुःख मे भगवदानन्द मे सो जाता है, भूल जाता है, उसका दुःख शीघ्र बीत जाता है और जो भगवान् का भजन नहीं करता उसको दुःख का अनुभव होता रहता है, तो वह दुःख बहुत लम्बा लगता है। परन्तु दुःख के पश्चात् सुख आता ही है, अतः उसके लिए यत्न करना व्यर्थ है। यत्न करना चाहिए किसके लिए जो अपने प्रारब्ध से प्राप्त नहीं हो सकता और अपने प्रारब्ध से न प्राप्त होनेवाली एक ही सत्ता है वह है परमेश्वर की प्राप्ति। परमेश्वर की भक्ति, परमेश्वर के नाम, रूप, लीला, धाम के आस्वादन का मंगलमय सौभाग्य उसके लिए यत्न करना चाहिए। इन व्रतादिकों को करने से जीव को पहले इतना ज्ञान हो जाता है कि नहीं हमसे भी अतिरिक्त कोई सत्ता है। और वो कौन सी सत्ता है? इस विशेष जिज्ञासा पर हम यत्न करें और यत्न किसके माध्यम से होगा **''वेदान्तवेद्यं विभुं''** वेदान्त के माध्यम से। इसलिए जब शास्त्र ने एक आज्ञा दे दी कि यदि हम परमात्मा के संबन्ध मे कुछ जानना चाहते हैं तो वेदान्त का आश्रय लें। परमात्मा के संबन्ध मे यदि कुछ विचार करना चाहते हैं तो वेदान्त का अवलम्ब लें। परमात्मा के संबन्ध मे यदि कुछ भी हम प्राप्त करना चाहते हैं परमात्मा को तो भी वेदान्त को माध्यम बनायें। तो यदि वेदान्त के माध्यम के बिना परमात्मा को प्राप्त करना या परमात्मा को जानना अथवा परमात्मा पर विचार करना उचित नहीं है तो वेदान्त के अनुसार ही हमको उनके दर्शन का भी निर्धारण करना पड़ेगा। और वेदान्त मे संयोग से समवाय संबन्ध को संबन्ध नहीं माना गया। वादरायण ने नैयायिकों द्वारा स्थापित ''समवाय संबन्ध'' का खण्डन किया। अब फिर प्रश्न है कि यदि समवाय संबन्ध हमारे लिए स्वीकार्य नहीं है, परमार्थ मे प्रारम्भ मे स्वीकार्य हो सकता है तो फिर किस संबन्ध से भगवान् में गुणों की सत्ता स्वीकारी जाए? वो कहते हैं–

''घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च संबन्धः समवाय प्रकीर्तितः।।''

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलि

दो वस्तुओं को जब जोड़ना होता है तब समवाय संबन्ध की कल्पना होती है। इससे अनवश्था दोष हो जाएगा। कितने–कितने को जोड़ते रहेंगे। इसलिए समवाय को जब वेदान्त ने नहीं स्वीकारा तो इस प्रश्न का समाधान अभी भी अनुत्तरित रहेगा कि गुण किस संबन्ध से परमात्मा मे रहते हैं? क्योंकि न्याय तो कहता है कि गुणों और गुणी का समवाय है और इसे वेदान्त स्वीकारने को तैयार नहीं। अतएव यहाँ कहा जा सकता है कि गुण परमात्मा मे स्वरूप संबन्ध से रहते हैं और स्वरूप संबन्ध को स्वीकार लें। इसलिए भक्ति का भी भगवान् के साथ स्वरूप संबन्ध ही है। अतः स्वरूप संबन्ध को स्वीकारने मे वेदान्त

को कोई आपत्ति नहीं है और उसी स्वरूप संबन्ध को प्रकारन्तर मे न्याय समवाय कह ले। हाँ स्वरूप संबन्ध का क्षेत्र समवाय संबन्ध की अपेक्षा व्यापक है। किन्तु कतिपय धर्म तो उसके साथ इसके मिलते ही मिलते हैं। अतएव इन छहों भगों को ज्ञान का ही प्रकार मानना चाहिए और इनका भगवान् के साथ स्वरूप संबन्ध है। अर्थात् ये जितने हैं परमात्मा के स्वरूप हैं। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छहों परमात्मा के स्वरूप हैं और स्वरूप संबन्ध से परमात्मा मे नित्य विराजते हैं, इसलिए यहाँ पर मतुप् प्रत्यय प्राशस्त्य और नित्य अर्थ मे हुआ है और संयोग से पाणिनीय व्याकरण मे आधाराधेय भाव संबन्ध की व्याख्या करने के लिए प्रथम प्रत्यय जो हुआ है वह 'मतुप्' है इसके अनन्तर अन्य प्रत्यय हैं जो वैकल्पिक नहीं है पर इसके अतिरिक्त भी हो जाते हैं, क्योंकि वहाँ पर 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आती है। ये भी होता वो भी हो जाता है। एक प्रकार से उनको विकल्प भी कह सकते हैं। किन्तु वैकल्पिक प्रत्ययों की व्यवस्था न करते हुए भगवान् शब्द मे शास्त्रकार ने मतुप् प्रत्यय ही माना। वहाँ 'इन्' आदि अन्य प्रत्यय का अनाभिधान मान लिया। भगवान् मे ये छहों नित्य रहते हैं, अन्यत्र तो कभी–कभी एक या दो या तीन रहते होंगे। इनमे सबसे रोचक बात यह है कि शास्त्रकार ने कह दिया कि अन्यत्र 'भगवान्' शब्द का व्यवहार गौणतया होता है गौणरूप मे होता है। जैसे शिवजी को भी भगवान् कहते हैं **''शिव भगवान ज्ञान गुण राशि''** और हमारे संस्कृत साहित्य मे तो प्रायशः जिनमे भी पूज्यता का अनुभव हो वहाँ भगवान् कह दिया जाता है। क्यों? इसलिए कि कोश ने भग के सात अर्थ स्वीकारे हैं और सातों मे से कोई एक जहाँ रह जाए उसे भगवान् कहा जा सकता है। यद्यपि पुराणों मे हम कह चुके कि भग के छः अर्थ माने गए, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, परन्तु कोश ने और व्यापक पक्ष का ध्यान रखते हुए कह दिया कि नहीं भग शब्द के सात अर्थ मानने चाहिए। **''भगश्रीकाममाहात्म्य वीर्ययत्नार्ककीर्तिषु''** इसलिए शास्त्र ने कहा कि भग अर्थात् श्री, भग अर्थात् काम माने इच्छा, भग अर्थात् माहात्म्य, भग का अर्थ है पराक्रम, भग का अर्थ है यत्न, भग का अर्थ है सूर्य और भग का अर्थ है कीर्ति। इन सातों मे से एक भी जहाँ विराजमान हो उसे भगवान् कहते हैं। यह सौभाग्य ही कहा जाएगा कि जो प्रथम अर्थ है भग का वह केवल भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा, नारायण मे घटेगा अन्यत्र नहीं घट सकेगा। वह कौन सा अर्थ है जो कहीं नहीं घट सकता, उसका नाम है श्री। भग का अर्थ है श्री और वह एकमात्र भगवान् मे ही विराजती हैं। एकमात्र महाविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण मे किंबा श्रीनारायण मे ही विराजती है अन्यत्र कहीं वो जा भी नहीं सकती। श्रीरामचरितमानस मे अत्रि जी ने कहा, अहो! अब मैंने श्री जी की चतुरता समझ ली है। कौन सा कारण है कि संपूर्ण देवताओं को छोड़कर वे आपको ही भजती हैं। कौन सा वह आकर्षण है कि श्री संपूर्ण देवों को छोड़कर आप पर ही आकर्षित रहती हैं। वो कौन सा चुंबक है जिसके कारण श्री आपको कभी छोड़ती नहीं।

''अब जाना मे श्री चतुराई। तुमहीं भजी सब देव बिहाई।।
जेहि समान अतिशय नहीं कोई। ताकर शील कस न अस होई।।''

मानस ३/६/७, ८

अर्थात् अत्रि जी की मान्यता में प्रभु श्रीराम के शील के ही आकर्षण से श्री जी ने संपूर्ण देवताओं को छोड़कर उन्हें स्वीकारा। श्रीमद्भागवतम् मे भगवती पृथ्वी परीक्षित से कहती हैं, परीक्षित! क्या तुम समझ रहे हो कि भगवान् श्रीकृष्ण का यह कौन सा आकर्षण है जिनके एकमात्र छोटे से कटाक्ष की कामना करते हुए ब्रह्मादि देवताओं ने अनन्त वर्षोंपर्यन्त तपस्या की और उस तपस्या के पश्चात् भी श्री जी ने भूलकर भी एक बार भी

समान्य दृष्टि से भी उन्हें नहीं देखा वे ही श्री अपने निवास स्थान रूप कमल वन को छोड़कर जिन परमात्मा के श्रीचरणारविन्द के सौन्दर्य को अनुरक्त होकर के भजती रहती हैं।

''ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपांगमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता।।''

भागवत १/१६/३२

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के २४वें दोहे मे भी गोस्वामी जी यही कह रहे हैं–

''जासु कृपा कटाक्ष सुर, चाहत चितव न सोइ।
राम पदारविन्द रति, करति सुभावहिं खोइ।।''

मानस ७/२४

अर्थात् किसी भी समय कभी भी श्री जी भगवान् को छोड़कर नहीं जा सकतीं। इस अवधारणा की पुष्टि में हम श्रीरामचरितमानस का एक रोचक प्रसंग प्रस्तुत कर रहे हैं। भगवान् श्रीराम का वनवास हो चुका है वे वनपथ मे हैं। श्रृंगबेरपुर आने के पश्चात् गंगाजी पार करने की उस करुण बेला मे सुमंत्र जी ने महाराज दशरथ का एक सन्देश भगवान् श्रीराम के समक्ष प्रस्तुत किया। ''प्रभु! चक्रवर्ती जी ने चलते–चलते आपके लिए एक सन्देश कहा है, कह देना राघव से कि यदि वो श्रीअवध को लौटना न चाहते हों या उनको वरदान की बाध्यता है तो सीता जी को अवध लौटने के लिए कहें, क्योंकि सीता जी को वरदान की बाध्यता नहीं है।'' सुमंत्र का यह वचन सुनकर रघुनाथ जी ने सीता जी से यह वचन कहा कि आप श्रीअयोध्या को लौट जाइए न, **''फिरहु त सब कर मिटै कलेशू''** यह वाक्य सुनकर भगवती सीता जी ने जो वाक्य कहे हैं उसका परिशीलन करने से हमारी धारणा की पूर्ण पुष्टि हो जाती है कि श्री जी किसी भी काल मे परमात्मा को नहीं छोड़ सकती। सीता जी कहती हैं आप तो परम विवेकी हैं फिर अविवेकी जैसी प्रस्तावना क्यों कर रहे हैं?

''प्रभु करुणामय परम बिबेकी। तन तजि रहहि छाह किन छेकी।।
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाइ।।''

मानस २/९६/५, ६

क्या छाया शरीर को छोड़ सकती है? क्या सूर्यनारायण को उनकी प्रभा छोड़ सकती है? क्या चन्द्रमा से चन्द्रिका पृथक् हो सकती है? जैसे यह संभव नहीं है उसी प्रकार श्री परमात्मा से पृथक् रह ही नहीं सकती और न कहीं जा सकती है। उनके लिए कोई ठाँव नहीं है। श्रीमद्भागवतम् मे इस घटना की पुष्टि मे एक रोचक प्रसंग आया है, समुद्रमंथन के समय जब भगवती श्री प्रकट होती हैं,

''ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा।
रंजयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा।।''

भगावत ८/८/८.

तब उनको प्राप्त करने के लिए सभी देवताओं और अन्य महर्षियों के मन मे भी इच्छा जगी। यहाँ तक कि सनकादि जैसे परमहंस परिव्राजकाचार्य भी उनकी प्राप्ति के लिए प्रयास करने लगे। परन्तु भगवती श्री जी ने सबके प्रार्थना पत्रों को निरस्त कर दिया और भिन्न–भिन्न पक्ष उपस्थित किये। जब दुर्वासा ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया और कहा, मैं तपस्वी हूँ मुझे स्वीकार लीजिए। श्री जी ने कहा, नहीं तुम तपस्वी हो पर तुमने क्रोध को

नहीं जीता **"नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयः"**। बृहस्पति ने कहा, मुझे स्वीकार लीजिए मैं ज्ञानवान हूँ। श्री जी ने कहा, तुम ज्ञानवान हो पर तुम्हारी आसक्ति समाप्त नहीं हुई है **"ज्ञानं क्वचित् तच्च न संगवर्जितम्"**। इसके पश्चात् ब्रह्मा और चन्द्रमा ने अपने–अपने प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किए, हमे स्वीकार लीजिए न, हममे महत्ता है। श्री जी ने कहा, तुममे महत्ता है परन्तु तुम काम पर विजय नहीं प्राप्त कर सके **"कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः"**। इन्द्र ने कहा, मुझे स्वीकार लीजिए मैं ईश्वर हूँ। श्री जी ने कहा नहीं, तुम ईश्वर हो परन्तु किसी न किसी का सहारा लेते हो **"स ईश्वरः किं परतोव्यपाश्रयः"** और जो दूसरों के सहारे जीता है वह ईश्वर हो कैसे सकता है? ईश्वर तो उसे कहते हैं जो स्वयं अपनी सत्ता के साथ जगत् का नियमन करता हो। तुम तो कभी किसी देवता का सहारा लोगे यहाँ तक कि जब दानवों के साथ संग्राम करना पड़ा तो चक्रवर्ती दशरथ का भी सहारा लिए थे **"सुरपति बसइ बाहुबल जाके"**। इसके पश्चात् परशुराम जैसे ब्रह्मचारी ने प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया, मुझे स्वीकार लीजिए मैं धर्मात्मा हूँ। पिता की इच्छा की पूर्ति के लिए मैंने अपनी माता का भी शिर काटा। श्री जी ने कहा तुम भी स्वीकार्य इसलिए नहीं हो सकते क्योंकि धर्म के साथ–साथ तुममे भूत सौहृद नहीं है, जीवों पर दया का भाव तुममे नहीं है। तुम निर्दयी हो **"धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं"**। शिवि और दधीचि ने कहा हमे स्वीकार लीजिए हम त्यागी हैं। श्री जी ने कहा नहीं, तुम त्यागी हो सकते हो, पर तुम्हारा त्याग मुक्ति के लिए नहीं है यश के लिए है **"त्यागः क्वचित् तत्र न मुक्तिकारणम्"**। इसके पश्चात् सहस्रार्जुन ने प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया, मुझे स्वीकारो श्री मैं पराक्रमी हूँ। श्री जी ने कहा तुम पराक्रमी हो सकते हो, किन्तु तुम काल को नहीं जीत पाये कभी न कभी तुम काल के ग्रास बनोगे **"वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं"**। सनकादि ने कहा हमे स्वीकार लीजिए। क्यों? आप सात्विक हैं हम नित्य सत्वगुण के सेवी हैं। श्री जी ने कहा यही तो बात है, तुमको गुण मे आसक्ति हो गई है। सत्वगुण तुम छोड़ नहीं पा रहे हो और जहाँ गुण मे आसक्ति होगी वह ठीक नहीं है **"न हि द्वितीयो गुणसंगवर्जितः"**। तब दीर्घजीवी मार्कण्डेय ने श्री जी के समक्ष प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया। मुझे स्वीकारने मे कोई आपत्ति नहीं है, मैं दीर्घजीवी हूँ। श्री जी ने कहा, तुम भी मेरे लिए उपयुक्त नहीं रहोगे, क्योंकि तुममे शील मंगल नहीं है। तुम नारी को रिझाने की कला से परिचित नहीं हो **"क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमंगलम्"**। तब तक हिरण्यकश्यप आदि दानवों ने कहा, हम तो इस कला से परिचित हैं और हमारा आयु भी दीर्घ है। श्री जी ने कहा, आयु दीर्घ है, परन्तु ये पता नहीं है कि तुम कब मर जाओगे **"क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः"**। सबसे अन्त मे महादेव शंकर जी ने अपना प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया। मुझे स्वीकार लीजिए मेरा आयु भी निश्चित है और मैं नारी को रिझाने की कला से भी परिचित हूँ। श्री जी ने कहा, आप इसलिए मेरे लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि आप बहुत अमंगल रूप के हैं। आपके यहाँ सब अमंगल ही अमंगल है **"यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमंगलः"**। फिर किसे स्वीकारेंगी आप? श्री जी ने कहा, जिसमे ये सारे विरोधी गुण होंगे। एक ही व्यक्ति दिख रहा है जो तपस्या के साथ क्रोध का विजेता है, जो ज्ञान के साथ अनासक्त है, जो महत्ता के साथ काम का विजयी है, जो ईश्वरता के साथ–साथ स्वाबलम्बी है। जिसमे धर्म के साथ–साथ जीवों पर दया है। जिसका त्याग मुमुक्षा के लिए है यश के लिए नहीं जो यश नहीं चाहता। जिसका पराक्रम काल से ऊपर है, जो काल को भी नियंत्रित कर लेता है, जो काल के वश मे नहीं है, जो गुणवान होकर भी गुणों मे आसक्ति नहीं रखता, जो चिरायुष्य के साथ–साथ शील मंगल जैसे गुण से युक्त है और इसके साथ जिसका आयु कभी समाप्त होगा नहीं और जो सर्वप्रकार से मंगलमय है। वह है कौन? भगवान्। परन्तु एक जटिलता है **"सुमंगलः कश्च**

न काङ्क्षते हि माम्'' जिनके पास ये विरूद्ध धर्म नहीं है वे तो मेरी इच्छा कर रहे हैं और जिसमे मुझे प्राप्त करने की समस्त योग्यता है वह मेरी अपेक्षा ही नहीं करता। क्या करें? देखा–

''विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणं।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारणत्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत।।''

भागवत ८/८/१६.

संपूर्ण देवताओं, विद्याधरों, गन्धर्वों, महर्षियों, मनुष्यों संपूर्ण प्राणी मात्र को देखकर भी जब श्री जी निश्चित नहीं कर पाईं कि मैं किसको वरण करूँ तब अन्ततोगत्वा निर्णय ले लिया। वह एक ही व्यक्ति है, वह हैं भगवान्। भले ही वे मेरी उपेक्षा करें परन्तु मैं तो उनकी अपेक्षा करूँगी ही। क्यों? इसलिए ''**वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्**'' क्योंकि उनको दिख गया, अव्यभिचारी सद्गुण यदि कहीं है तो वह केवल भगवान् मे है। अतएव श्री जी ने भगवान् के गले मे वरमाला पहना दी। इसका तात्पर्य यह है कि श्री जी भगवान् को छोड़कर कहीं नहीं जा सकतीं। इसलिए अन्य गुणों के रहने पर भी जो यह गुण है 'श्रीमत्व' वह एकमात्र भगवान् का है। अतएव श्रीमद्भागवतम् के तृतीय स्कन्ध के सोलहवें अध्याय मे भगवान् की स्तुति करते हुए सनकादि ने कहा, प्रभु! अब समझ मे आया कि जिनका बड़े–बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, परमहंस, अमलात्मा, महात्मागण निरन्तर भजन करते रहते हैं वही श्री निरन्तर आपकी सेवा करती हैं फिर भी कभी–कभी आप अपने भक्तों की भावना के तरंग मे उनका भी आदर नहीं कर पाते। आपकी उपेक्षा पर भी उनकी उपेक्षा नहीं होती। वे अपेक्षा ही करती हैं भले आप उनसे उदासीन हों। ऐसा क्यों है? उत्तर है एक ही कारण है जिससे वे आपसे कभी विमुख नहीं होना चाहतीं, क्योंकि आपका शील इतना विशाल है कि आप स्वयं पवित्र होकर भी ब्राह्मणों की चरण रेणुओं से अपने को पवित्र करना चाहते हैं और ब्राह्मणों की चरणरेणु निरन्तर कहाँ सुलभ होगी। इसलिए आपने भृगु की लात मारने की लीला स्वयं रची कि किसी प्रकार भृगु मेरी छाती मे लात मारेंगे तो उस चरण को मैं धारण कर लूँगा। इससे निरन्तर मुझे ब्राह्मण के चरण की धूलि मिलती रहेगी।

''यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसंगः।
सत्वं द्विजानुपथपुण्यरजः पुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम्।।''

भागवत ३/१६/२१.

इस उपबृंहण से निश्चित हुआ कि भगवान् की भगवत्ता श्री के कारण निश्चित् होती है। अतः एक सुन्दर सा लक्षण यदि किया जाए और निर्दोष लक्षण, जहाँ न तो अव्याप्ति हो, न ही अतिव्याप्ति और न असंभव। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीनों दोषों से शून्य यदि कोई लक्षण है भगवान् का तो एक लक्षण है, ''**श्रीवत्सलांछनवत्वं भगवत्वं**'' जहाँ श्रीवत्सलांछन निरन्तर हो वही हैं भगवान्। यह लक्षण और कहीं घट ही नहीं सकेगा इसलिए संयोग से भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण मे श्रीवत्सलांछन निरन्तर दिखाई पड़ते हैं–

''उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला।'' मानस १/१४७/६

उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण मे भी श्री वसुदेव जी ने जन्म के समय ही श्रीवत्सलांछन के दर्शन किए।

''तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।''

भागवत १०/३/१०

एतावता, भगवान् का अर्थ है जहाँ निरन्तर श्री विराजमान हों और यदि श्री विराजमान हों तो उनको छोड़कर भगवान् और कहाँ रमण करेंगे, उनको छोड़कर और कहाँ भगवान् की रति होगी? इसलिए यहाँ आश्चर्य का भी विषय है। 'रम' धातु के प्रयोग मे दो विभक्तियाँ प्रायशः देखी जा सकती हैं तृतीया और सप्तमी। वैसे सामान्यतः सप्तमी का प्रयोग देखा जाता है, स्वयं श्रुति कहती हैं–

''रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।''

अर्थात् योगी लोग सत्यानन्दस्वरूप राम मे रमते हैं, रमण के आश्रय हैं भगवान्। परन्तु यहाँ का एक और वैलक्षण्य है कि श्रीरासपंचाध्यायी मे कहीं भी सप्तम्यन्त का प्रयोग नहीं हुआ, यहाँ सतत तृतीयान्त प्रयोग ही दिखाई पड़ता है। जैसे **''रेमे ताभिरमेयात्मा' ताभिः विधुतशोकाभिः''** भगवान् गोपियों के साथ रम रहे हैं न कि गोपियों मे रम रहे हैं **''रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः''** भगवान् व्रजसुन्दरियों के साथ रम रहे हैं अर्थात् दोनों ही खेल रहे हैं। गोपियाँ भी खेल रही हैं और भगवान् भी खेल रहे हैं। कहाँ खेल रहे हैं? श्रीवृन्दावन मे दोनों एक–दूसरे के साथ खेल रहे हैं। यहाँ गोपियाँ भगवान् के रमण का आधार नहीं हैं। भगवान् के रमण का आधार तो भगवती राधा जी ही हैं। इसलिए ''रेमे ताभिः'' भगवान् गोपियों के साथ रमते हैं **''रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः''** भगवान् व्रजसुन्दरियों के साथ रम रहे हैं न कि व्रजसुन्दरियों मे रम रहे हैं। यहाँ तक इस लीला मे तो वेदव्यास जी ने कह दिया कि यहाँ भगवान् राधा जी मे भी नहीं रम रहे हैं राधा जी के साथ रम रहे हैं **''रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः''** (भा. १०/३०/३५) यद्यपि वे आत्माराम हैं वो राधा जी मे रमते हैं परन्तु इस लीला मे किसी गोपी को यह ईर्ष्या न हो जाए, यह पवित्र लीला है। परमहंस परिव्राजकों की लीला है। इसलिए भगवान कहते हैं नहीं, यहाँ कोई रमण का आधार नहीं है। राधा जी उनकी आत्मा हैं पर वो प्रच्छन्न आत्मा हैं। यहाँ लीला की दृष्टि से राधा जी एक व्रजांगना हैं। अतः उनके साथ **''रेमे तया चात्मरत आत्मरामोऽप्यखण्डितः''** (भा. १०/३०/३५) अतएव आज निरन्तर श्री होने के कारण भगवान् एकमात्र श्री जी के आश्रय हैं तो वहाँ काम कैसे? अच्छा, दूसरी बात यहाँ भग का जो कामात्मक अर्थ है, वहाँ काम का अर्थ है इच्छा। भगवान् का अर्थ है प्रशस्त इच्छावान। जिनमे पवित्र इच्छा हो उन्हें भगवान् कहते हैं। क्योंकि यहाँ हम कह चुके हैं प्राशस्त्य मे मतुप् प्रत्यय हुआ है, प्रशंसा मे मतुप प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'भगवान्' शब्द से भगवान् की इच्छा की प्रशंसा की जा रही है। कौन सी इच्छा है भगवान की?

''परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।''

गीता ४/८

भगवान् कहते हैं, मेरे मन मे तीन इच्छायें हैं **''निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार''** (मानस १/१९२)। भक्त ने पूछा आपकी कौन सी तीन इच्छायें हैं? भगवान् ने कहा, साधुओं का परित्राण, सन्तों का पूर्ण संरक्षण और सन्तों को सताने वाले दुष्टों का विनाश और वैदिक सनातन धर्म की सम्यक् स्थापना। इन तीन इच्छाओं के कारण मैं अवतार लेता हूँ, यहाँ भी यही है। प्रत्येक लीला मे भगवान् की ये तीन इच्छायें रहती हैं। श्रीरासलीला मे भी भगवान् की ये तीन इच्छायें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। भगवान् **''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे''** क्यों रमण करने का मन बनाया ? भगवान् ने कहा, जैसे अन्य लीलाओं मे साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की संस्थापना होती है, उसी प्रकार इस लीला मे भी मेरी ये

तीनों इच्छायें रहेंगी और इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही मैं इस रासलीला का प्रारम्भ कर रहा हूँ। यहाँ भी भगवान् साधुओं की रक्षा करेंगे। गोपियाँ साध्वी हैं, **"संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।"** (भा. १०/२२/२५) भगवान् ने गोपियों को साध्वी कहा, अतः गोपियों जैसे साधु कोई हो ही नहीं सकता। साधु किसे कहते हैं जो सब कुछ छोड़ देता है। सब कुछ छोड़कर भगवान् की शरण मे जाता है। जैसे श्रीरामचरितमानस जी मे भरत जी को सब प्रकार से साधु कहा गया–

"तात भरत तुम सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू।।"

मानस २/२०५/७

हे भरत! तुम सब प्रकार से साधु हो, तुम्हारे हृदय मे श्रीरामचरणों के प्रति अगाध अनुराग है, उसकी कोई थाह नहीं है। ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्णावतार मे गोपियाँ भी साधु है। भरत जी ने श्रीराम के लिए सब कुछ छोड़ा और गोपियों ने भी श्यामसुन्दर के लिए सब कुछ छोड़ा। क्या नहीं छोड़ा? भरत जी कहते हैं–

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहऊँ निर्बान।
जनम जनम रति राम पद यह वरदान न आन।।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की, भरत जी ने तिलांजलि दी। इसी प्रकार गोपियों ने भी सब कुछ छोड़ा भगवान् श्यामसुन्दर के लिए। अर्थ छोड़ा, अपने घर का लौकिक और वैदिक धर्म छोड़ दिया, संपूर्ण कामनायें छोड़ दीं और यहाँ तक की मोक्ष की इच्छा भी छोड़ दी। उन्होंने कहा, हमको नरक में रहना पड़े, नरक मे रहेंगे परन्तु श्यामसुन्दर का साथ नहीं छोड़ेंगे। नरक की कोई चिन्ता नहीं। कहा ये जाता है कि एक बार कोई एक श्री व्रजांगना भाद्रपद शुक्लपक्ष के चतुर्थी के चन्द्रमा की पूजा करने गई। दूसरी गोपी ने कहा, अरी वीर! क्या कर रही हो? चतुर्थी के चन्द्रमा की पूजा ये तो कलंकित है। गोपी ने कहा, इसीलिए तो इसकी पूजा कर रही हूँ। क्यों? सखी ने कहा, जो चतुर्थी के चन्द्र की पूजा करते हैं उसे कलंक लगता है। गोपी ने कहा, इसीलिए इसकी पूजा कर रही हूँ कि जिससे मुझे भी कलंक लगे और जब संसार में कलंक लग जाएगा तो मुझे संसारवाले छोड़ देंगे और जब संसारवाले छोड़ देंगे तो भगवान् श्यामसुन्दर मुझे अपना लेंगे। गोपियाँ श्रीभरत की ही भाँति सब कुछ छोड़ती हैं और भगवान् स्वीकारते हैं। **"एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां"** (भा. १०/३२/२१) गोपियों ने मेरे लिए लोक भी छोड़ा वेद भी छोड़ा और "स्वानां" अपनी आत्मा की भी चिन्ता नहीं की। अपने आत्मियों को छोड़ा, अपना धन छोड़ा, अपनी जाति छोड़ी इसीलिए इस त्याग की परिणति तब हुई जब भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन, यशोदानन्दवर्धन प्रभु, शिखिपीच्छमौलि, नटवरनन्दनागर, श्रीनन्दकिशोर, श्रीराधामुखचन्द्र चकोर ने गोपियों से यह कह डाला कि गोपियों! देवताओं का आयुष्य पाकर भी मैं तुम्हारे ऋण को नहीं चुका सकता।

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापिवः।
या मा भजन् दुर्जरगेहश्रृंखला संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना।।"

भागवत १०/३२/२२

वो तो आप चाहें तो मैं उऋण हो सकूँ तो हो सकूँ। वस्तुतः मैं आपके ऋण से मुक्त नही हो सकता, क्योंकि आपने दुर्जरगेहश्रृंखला जो कभी छोड़ी नहीं जा सकती ऐसे अपने–अपने घर की पारिवारिक श्रृंखला को काट डाला और फिर मेरा भजन किया। आपने किसी की चिन्ता नहीं की, देह की चिन्ता नहीं, पति की चिन्ता नहीं, कुटुम्ब की चिन्ता नहीं, पोष्य पुत्रों की चिन्ता नहीं, वस्त्रों की चिन्ता नहीं, शरीर की चिन्ता नहीं, भोजन की

चिन्ता नहीं इतना त्याग करेगा कौन? मैं इतना त्याग कभी नहीं कर सकता, इसलिए गोपियाँ साधु हैं। तो साधुओं का परित्राण होना चाहिए, किसी प्रकार का उन्हें कष्ट नहीं होना चाहिए। इनको कौन सता सकता है? इनका शरीर नारी का शरीर है, अभी युवती हैं काम सता सकता है। कदाचित् काम इन्हें सताये तो जो सबसे बड़ा राक्षस है–

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञानधाम मन करहीं निमिष महँ छोभ।।

मानस ३/४०क

भगवान् ने कहा कि इस अत्यन्त प्रबल खल से मैं इनकी रक्षा करूँ, इसलिए रासलीला के बिना इसका कोई विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य सन्तों की रक्षा मे मैं शस्त्र का प्रयोग कर सकता हूँ। अन्य असुरों के लिए धनुष–बाण का प्रयोग कभी कर सकता हूँ। कभी सुदर्शन चक्र का प्रयोग होता है, कभी भगवान् की हाथ की मुष्ठिका का प्रयोग हो जाता है, कभी वे वृक्ष से मारते हैं राक्षसों को। अन्य असुरों को मारने के लिए अन्य अस्त्र–शस्त्र प्रयुक्त हो सकते हैं, परन्तु इस कामासुर से गोपियाँ जैसे साधु की रक्षा करने के लिए एक ही उपाय है वह है रास। बिना रास के इसका ह्रास नहीं हो सकता। अतः कामासुर से गोपियों को बचाने के लिए भगवान् एक इच्छा करते हैं। मैं अब रास करूँगा **''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे''** इससे गोपियों जैसे सन्त शिरोमणियों की रक्षा होगी और **''विनाशाय च दुष्कृताम्''** और सबसे बड़े दुष्कर्मी जो **''ज्ञानिनो नित्यवैरिणा''** जिसको मारने के लिए भगवान् ने अर्जुन से कहा, ये बहुत बड़ा शत्रु है इसको मार डालो। कैसे मारूँ? भगवान् ने कहा, अर्जुन! **''जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुराषदं''** (गीता ३/४३) कामरूपी दुराषद, दुर्जय इस शत्रु को मार डालो। अर्जुन को तो मार डालने की बात कहते हैं, मार डालो, क्योंकि तुम महाबाहु हो, पर गोपियाँ कहती हैं हम तो इसको नहीं मार सकते, हम तो अबला हैं, हमारे पास कहाँ बल है? इसको मारने के लिए हम तो केवल आपको जानते हैं। क्योंकि हम इसको मारने का यत्न करेंगे तो आपका स्मरण छूट जाएगा। तब भगवान् कहते हैं कि आप भजन करें इसको मैं मारूँगा। इस शत्रु का दमन मैं करूँगा। इसलिए इस लीला मे **''परित्राणाय साधूनां''** गोपियों को कामरूप शत्रु से बचा रहे हैं भगवान् और **''विनाशाय च दुष्कृताम्''** और दुष्टों का विनाश तो सबसे बड़ा दुष्ट काम है इसका विनाश करना भी इस लीला मे भगवान् का इष्ट है। इसीलिए रासलीला के प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में ही वेदव्यास जी ने ऐसे शब्द का प्रयोग किया जिससे मेरी धारणा की पूर्णतः पुष्टि हो जाती है। भगवान् गीत गाते हैं, कौन सा गीत गाते हैं? स्पष्ट उत्तर है और गोपियाँ समझ गईं, ओहोहो! अब तो मेरी रक्षा होगी क्योंकि दुष्कर्मी का नाश हो चुका। कौन सा गीता गा रहे हैं, भगवान् **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्''** सुन्दर दृष्टिवाली गोपियों के मन को हरनेवाला गीत गाया भगवान् ने अथवा, **''वामदृशां मनोहरम्''** वाम दृशां भगवान् के वाम भाग मे विराजती हैं राधा जी **''वामे संस्था वामसंस्था राधा, वामसंस्थायां राधायां दृक् यासां ताः वामदृशस्तासाम्''** भगवान् के वाम भाग मे विराजमान राधारानी के चरणों मे जिनकी दृष्टि है उनके मन को चुराने के लिए भगवान् ने गीत गाया। **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्''** उस गीत का परिणाम क्या हुआ? जो हम अभी कह रहे थे भगवान् गोपियों जैसे सन्त शिरोमणियों की रक्षा करने के लिए सबसे बड़े दुष्ट का यहाँ नाश करना चाह रहे हैं। उस कामासुर का नाश करने के लिए **''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्''** भगवान् ने ऐसा गीता गाया जिससे गोपियों के हृदय मे विराजमान अनंग अर्थात् काम का वर्धन हो गया। अब तक के सभी टीकाकार कहते हैं कि **''अनंगवर्धनम्''** का अर्थ है 'अनंगोद्दीपक'। क्या

भगवान् ने काम का उद्दीपक गीत गाया? यदि भगवान् का ही गीत काम का उद्दीपक होगा भगवान् के गीत से यदि व्यक्ति के मन मे काम का स्मरण होगा तो फिर भगवान् के गीत में और आज के चलचित्रों के गीत में क्या अन्तर रह जाएगा? इसलिए मेरा यह विनम्र निवेदन है कि यहाँ 'वर्धन' शब्द का बढ़ाना अर्थ नहीं लिया जाए। क्योंकि 'वर्धन' शब्द दो धातुओं से बनता है। **''वृधु वर्द्धने''** (पा. धातुपाठ ६३६) से भी बन जाता है 'वर्धनं' और **''वर्ध छेदनपूरणयो''** (पा. धातुपाठ१६५५) से भी 'वर्धन' शब्द बनता है। तो भगवान् ने ऐसा गीत गाया जो **''अनंगं वर्धयति''** जिसने गोपियों पर आक्रमण करनेवाले इस काम रूप राक्षस को काटकर फेंक दिया। **''अनंगं वर्धयति इति अनंगवर्धनम्''** अतएव **''परित्राणाय साधूनां''** भगवान् गोपियों की रक्षा भी करेंगे और भगवान् गोपियों को सतानेवाले दुष्ट कामासुर का विनाश भी करेंगे। और इस लीला से भगवान् धर्म की संस्थापना भी करेंगे। श्रीरासपंचाध्यायी के संबन्ध मे आचार्यों ने अपनी–अपनी भिन्न–भिन्न मान्यतायें प्रस्तुत की है। प्रायशः बहुत से आचार्यों का मानना है कि यह प्रवृत्तिपरक है। सामान्य संसार का मानना है कि यह प्रवृत्तिपरक है, परन्तु श्रीधराचार्य जी ने कहा कि वस्तुतस्तु **''श्रृंगारापदेशेन निवृत्तिपरेयं रासपंचाध्यायी''** ये श्रृंगार का तो एक बहाना मात्र है। यह रासपंचाध्यायी तो निवृत्तिपरक है अर्थात् संसार के सारे प्रपंचों को छोड़कर यह जीव कैसे निवृत्त हो कैसे मुमुक्षा की ओर अग्रसर हो इन्हीं उपायों का उपबृंहण करने के लिए इस रासपंचाध्यायी का प्रस्ताव किया है शुकाचार्य जी ने। इसलिए क्योंकि वे **''स वै निवृत्ति निरतः''**। जो निवृत्ति निरत होगा वो तो निवृत्ति की ही चर्चा करेगा। इस चरित्र से गोपियों के निवृत्ति की चर्चा की जा रही है कि गोपियाँ अपने–अपने प्रपंचों को कैसे छोड़ रही हैं। निवृति का अर्थ है छोड़ देना निवर्तन करना और इसका उद्धरण भी आगे चलकर मिलेगा। **''कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः''** (भा. १०/२६/३०) संपूर्ण कामों से गोपियों ने अपने मनों को विनिवर्तित माने लौटा दिया वे निवृत्त हो गईं। **''सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम्''** संपूर्ण विषयों को छोड़कर गोपियाँ भगवान् के श्रीचरण मे आ गईं। **''प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः''** गोपियाँ कहती हैं कि हमने आपकी उपासना की आशा मे संपूर्ण वसतियों को छोड़ दिया है। संपूर्ण अपने घरों और घरों के संबन्धों को छोड़ दिया है। **''प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः''** इसलिए श्रीधराचार्य के मत मे ये निवृत्तिपरक पंचाध्यायी है। परन्तु यदि मुझसे पूछा जाए तो मैं तो यही निवेदन करूँगा कि, ठीक है संसार की दृष्टि से यह प्रवृत्तिपरक है, श्रीधराचार्य की दृष्टि से यह रासपंचाध्यायी निवृत्तिपरक है, परन्तु जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य के मत मे यह प्रपत्तिपरक है। यहाँ भगवान् की प्रपत्तियों के उपायों की चर्चा की गई है अर्थात् जीव सब कुछ छोड़कर भगवान् के शरण मे कैसे जाएगा? भगवान् के शरण मे जाने के लिए क्या–क्या परिस्थितियाँ होंगी और उसको क्या–क्या योग्यताएँ अर्जित करनी पड़ेंगी, इन सारे सिद्धान्तों की चर्चा इस रासपंचाध्यायी मे की गई है। **''सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्''** सब कुछ छोड़कर हरिभजन अन्त मे भजन तो भगवान् का होगा। तो निवृत्ति तो एक साधन है, उसका फल क्या है? सब कुछ छोड़ा तो पकड़ना तो किसी को पड़ेगा ही। गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीदोहावलि मे एक बड़ी सुन्दर बात कही कि भाई कोई न कोई खेल तो खेलना पड़ेगा ही। कहीं न कहीं ममता करनी पड़ेगी ही, **''तुलसी दो महँ एक ही खेल छाड़ि छल खेलु''** ये खेल खेलो, **''कै कर ममता राम सौं कै ममता परिहेलु''** या तो श्रीराम से ममता कर लो या तो ममता की तिलांजलि दे डालो। तो गोपियाँ कहती हैं नहीं हम दोनों खेल खेलेंगे। संसार की ममता छोड़कर श्रीकृष्ण से ममता करेंगे और वही कर रही हैं वे। इसलिए जो शरणागति रूप परम धर्म है उसकी यहाँ संस्थापना हो रही है और यही भगवान् की इच्छा

का तात्पर्य है। अतः दूसरा अर्थ भी पूर्ण रूप से प्रशस्त अर्थ में भगवान् श्रीकृष्ण मे घट रहा है। **''भगश्रीकाममाहात्म्य''** जिसमे माहात्म्य होता है उसी को भगवान् कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मे पूर्ण रूप से माहात्म्य है और उनकी महत्ता की तो बात क्या। इसी रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय के सैंतालीसवें श्लोक मे वेदव्यास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण को महात्मा कहा **''एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः''** भगवान् श्रीकृष्ण महात्मा हैं उनका माहात्म्य अविच्छिन्न है और आगे चलकर भी ३०वें अध्याय मे भगवान् के लिए 'महात्मना' शब्द का प्रयोग हुआ है **''अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना''** (भा. १०/३०/३३)। अतः भगवान् का प्रशस्त माहात्म्य यहाँ वर्णित हो रहा है। क्या है महात्मत्व? 'महनीय' जिनकी आत्मा महनीय है। 'आत्मा' शब्द के बहुत से अर्थ हैं जिनमे यहाँ जो विवक्षित अर्थ है वह है यत्न। भगवान् का प्रयास पूजनीय है। कितना सुन्दर प्रयास है भगवान् का। महान् आत्मा अर्थात् **''यत्न यस्यः स महात्मा तस्य भावः माहात्म्यं''**। भगवान् के प्रयास की वेदव्यास प्रशंसा करते हैं कि अरे! इतना सुन्दर प्रयास किसका होगा? स्वयं नन्दभवन से प्रभु श्रीवृन्दावन मे पधार रहे हैं और घर मे फंसी हुई गोपियों को बुलाने के लिए मुरली का प्रयोग करते हैं।

''दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।।''

भागवत १०/२९/३

कैसा सुन्दर प्रयास है यह। मुरली बजायी और उस मुरली के बजते ही गोपियों के मन की सांसारिक वासना समाप्त हुई। **''मुरं लुनाति इति मुरली''** जो सांसारिक वासना को समाप्त कर दे उसे मुरली कहते हैं। गोपियों को धन्य–धन्य बना दिया। सब कुछ छोड़कर गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणों मे आईं। सामान्य दृष्टि से वहाँ जार बुद्धि थी, पर वह सामान्य जार नहीं है। इसलिए भगवान् को 'चोरजारशिखामणि' कहा जाता है। संसार का जो जार होता है वो तो नारी के धर्म को नष्ट कर देता है **''जरयति धर्मं यः स जारः''**। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे जार हैं जो धर्म को नहीं नष्ट करते **''जरयति अधर्मं, जरयति भवबन्धनं''**। गोपियों के भवबन्धन को भी जीर्ण कर दिया भगवान् ने इसलिए माहात्म्य। माहात्म्य कहीं नहीं देखा गया। वंशी की धुन सुनने मात्र से गोपियाँ 'दुर्जरगेहश्रृंखला' को भी छोड़कर चली आईं। ये बिना भगवान् की कृपा के नहीं होता । भगवान् की प्राप्ति मे भगवान् की कृपा सहायक होती है। भगवान् की शरणागति मे भी भगवान् की कृपा सहायक होती है। जब तक भगवान् नहीं चाहते तब तक जीव भगवान् के चरणों मे जा ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ भगवान् ने चाहा, गोपियाँ मेरे चरणों मे आयें और एक आश्चर्य यह भी है कि इसी रासपंचाध्यायी मे जब भगवान् ने गोपियों से घर जाने के लिए कहा **''प्रतियात ततो गृहान्''** वहाँ साधिका गोपियों के लिए, लोगों की दृष्टि मे भगवान् ने सबको घर जाने के लिए कहा, परन्तु वस्तुतस्तु भगवान् ने गोपियों को घर जाने से मना किया। यथा–

''तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रुषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दंति वत्साः बालाश्च तान् पाययत दुह्यत।।''

भागवत १०/२९/२२

इसका सामान्य अर्थ तो यही है कि, हे गोपियों! **''मा चिरं गोष्ठं यात''** व्रज को शीघ्र लौट जाइए। **''शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः''** हे सतियों! अपने–अपने पतियों की सेवा कीजिए। **''क्रन्दंति वत्सा बालाश्च''** बालक और बछड़े चिल्ला रहे हैं। **''तान् पाययत दुह्यत''** जाइए,

गौओं का दोहन करवाइए और बछड़ों को और बालकों को दुध पिलाइए। परन्तु भगवान् का विवक्षित यह नहीं था। भगवान् यह नहीं कहना चाहते थे और उसका भाव गोपियों ने समझा भी कि वास्तव मे भगवान् हमको घर जाने के लिए नहीं कह रहे हैं। भगवान् क्या कहते हैं, "**तद् यात मा चिरं गोष्ठं**", "**गोष्ठं चिरं मा यात**" गोष्ठ को जल्दी मत जाओ। जाने की कोई जल्दी नही है। हमने व्यवस्था कर दी है। पतियों के लिए क्या होगा? बोले, अरे! "**पतीन् मा शुश्रूषध्वं**" तुम सती हो न, तुम बहुत से पतियों की सेवा क्यों करोगी? जब तुम्हें सेवा करनी है तो जगत्पति की सेवा करो। सबके प्राणपति की सेवा कर लो "**तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति**"। कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने एक व्रजबाला से विनोद किया। श्रीब्रजबाला ने चिढ़ते हुए कहा कि तुम हमारे क्या लगते हो? क्यों इतना मुझे चिढ़ा रहे हो? भगवान् ने कहा, मे तुम्हारा पति हूँ। गोपी को बड़ा क्रोध आया, मे चालीस वर्ष की युवती और छोटा सा तीन वर्ष का ये टिनिया–मिनिया कहता है मे तुम्हारा पति हूँ। कहा, तुम मेरे पति हो? भगवान् ने कहा, जी। कहा, कैसे? भगवान् ने सहजता से उत्तर दे दिया, तुम आरती मे क्या गाती हो, "**तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति**" जब मैं सबका प्राणपति हूँ। तो सब मे तुम भी तो आई, तो तुम्हारा प्राणपति नहीं हुआ। गोपी ने कहा, तुम मुझे गाली क्यों दे रहे हो? भगवान् ने कहा, क्योंकि तुम मेरी शाली हो। गोपी ने कहा, अब तक तो तुम कह रहे थे कि तुम मेरी घरवाली हो और अब कह रहे हो शाली हो। भगवान् ने कहा, जी जब मे सबका प्राणपति हूँ, तो तुम्हारी बहन का भी तो प्राणपति हो गया। इसलिए शाली भी हो और घरवाली भी हो। तो भगवान् की लीला तो विलक्षण ही है इसे तो वही जान सकता है जो भगवान् के चरणों मे समर्पित हो। यथा–

"स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ।।"

भा. १/३/३८

इसलिए भगवान् ने कह दिया, "**पतीन् मा शुश्रूषध्वं**" पतियों की सेवा मत करो, क्योंकि उनकी व्यवस्था मैंने कर दी है। मैंने अपनी माया के बल पर तुम्हारे पतियों के यहाँ एक–एक तुम्हारी ही रूप की एक नकली घरवाली तय कर दी है। उनकी व्यवस्था कर दी है मैंने, इसलिए चिन्ता मत करो। तुम मेरा भजन करो "**सतीः**" क्योंकि तुम सती हो। "**पतीन् मा शुश्रूषध्वं**" फिर कहा, **क्रन्दंति वत्साः बालाश्च**" कहा, बच्चे बालक चिल्ला रहे हैं। कहा, नहीं–नहीं "**वत्साः बालाश्च मा क्रन्दंति**" बालक और बछड़े नहीं चिल्ला रहे हैं। क्यों? बोले, जब मैं कह रहा हूँ कि, मैंने प्रत्येक गोपाल के लिए एक–एक माया की स्त्री बना दी है तो मायावाली स्त्री वहाँ आनन्द करेगी, वो व्यवस्था कर रही है। मायिक स्त्री उनके पास अमायिक स्त्री मेरे पास। तुम चिन्ता मत करो। "**तान् पाययत दुह्यत**" '**तान् मा पाययत, तान् मा दुह्यत**' अब बछड़ों और बच्चों को दुध पिलाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं है, उनकी व्यवस्था तो हो चुकी है। गो–दोहन की तुम्हें आवश्यकता नहीं है, उसकी व्यवस्था हमने कर दी है। तुम तो प्रेम से मेरा भजन करो। सब संसार की व्यवस्था ठीक हो चुकी है। क्योंकि नियम यही है जो व्यक्ति भगवान् का भजन करता है, उसके उत्तरदायित्वों के निर्वहण की व्यवस्था भगवान् स्वयं कर लेते हैं।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन।।

निरन्तर सर्वभाव से व्रजाधिप भगवान् का भजन करना चाहिए, यही जीव का एकमात्र धर्म है। "**भगश्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु**" इस कोश के अनुसार 'भग' के जो

अर्थ प्रतिपादित किये गए हैं उनमे श्रीभगवान् के पास नित्य श्री हैं। 'काम' यहाँ काम का अर्थ है इच्छा **"सो कामयत् एकोऽहं बहुष्याम्"**। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कामना की है कि गोपियों का उद्धार होना ही चाहिए और अब 'माहात्म्य'। भगवान् मे 'माहात्म्य' है **"एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः"** और महात्मा परोपकार करते हैं **"एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः"** और **'पुष्पहेतोर्महात्मनः'** भगवान् श्रीकृष्ण को महात्मा कहा गया। **"महान् आत्मा यस्य स महात्मा तस्य भावो माहात्म्यम्"**। भगवान् का एक प्रयास है, भगवान् का प्रयास भी महान् है, कितना अद्‌भुत प्रयास है कि जिन गृहश्रृंखलाओं को तोड़ने के लिए अनेक जप, तप, योग, वैराग्य किये जाते हैं गोपियों की उन्हीं गृहश्रृंखलाओं को भगवान् श्रीकृष्ण ने एक छोटी सी मुरली बजाकर तोड़ दिया। यह उनका प्रयत्न ही तो है इसलिए शास्त्र ने जब मुरली की व्याख्या की तो कहा, **"मुरं कामं लुनाति इति मुरली"** और गोपियाँ भी इस रहस्य को जानती हैं कि मुरली के बिना उनकी गृहश्रृंखलाओं को कोई तोड़ नहीं सकता था। इसीलिए किसी कवि की उक्ति मे गोपियों ने कह दिया कि, **"प्यारे मोहना मुरलिया बजायी दे कि मन्द मुस्कायी दे रे"**। यह मुरली, कैसी अद्‌भुत है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जानते हैं कि जब तक गोपियों के मन मे वासना रहेगी तब तक ये हमारे यहाँ नहीं आ सकती। अतः मुरली से ऐसा ही गीत गाया—

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजगमुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।

भागवत १०/२६/४

यहाँ भगवान् का यत्न भी सराहनीय है। भगवान् 'क्लीं बीज' बजा रहे हैं और 'क्लीं' का अर्थ होता है 'कृन्ततीति क्लीं' जो भगवत् चरणारविन्द की शरणागति मे बाधक बननेवाले सभी प्रत्यवायों को काटकर फेंक देता है वही है क्लीं बीज। सारे विघ्न समाप्त किए भगवान् ने इसीलिए वे अर्जुन से कहते हैं, **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"** सम्पूर्ण धर्मों मे कर्तव्य बुद्धि को छोड़कर तुम एक मात्र मेरी शरण मे जाओ। यहाँ भगवान् संपूर्ण गीता कहते–कहते अवसर ढूँढ़ रहे थे कि कभी व्रज का नाम आ जाए। कहीं व्रज का नाम नहीं आया। यदि आया भी तो एक बार **"किमासीत व्रजेत किम्"** परन्तु साक्षात् व्रज नहीं आया और भगवान् को ब्रज भूलता नहीं **"उद्धव मोहि व्रज बिसरत नाहीं"**। इसीलिए भंगीमा से भगवान् व्रज लाना चाहते थे और ला ही दिया, **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"** अर्जुन संपूर्ण कर्त्तव्यों मे अपनी कर्तृत्व बुद्धि को छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरण मे आ जाओ। यहाँ 'आगच्छ' भी कह सकते थे, **"आगच्छ शरणं ही माम्"**। व्रज क्यों कहा? भगवान् भी तो चतुरशिरोमणि हैं एक पंथ दो काज का उनका अभ्यास है। एक ही शस्त्र से दो–दो निशाने करने का उन्हें अभ्यास है। उन्होंने कहा व्रज, व्रज अर्थात् आचार क्विबन्त की दृष्टि से **"व्रज इव व्रज"** जैसे व्रजवनितायें सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आयीं उसी प्रकार तुम मेरी शरण में आओ। ये भगवान् का यत्न है। व्रजवनितायें उनके पास कैसे आयें? इसके लिए उन्होंने अपने माहात्म्य का प्रयोग किया। अपनी महत्ता का प्रयोग किया। क्योंकि गोपियों को भी माहात्म्यज्ञान है । माहात्म्यज्ञान की विस्मृति नहीं हुई **"न तत्रमाहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः"** (नारदभक्तिसूत्र २१) महात्मा निरन्तर परोपकार करते हैं **"परोपकाराय सतां विभूतयः"** और आज भगवान भी यही कर रहे हैं। गोपियों को अपने श्रीचरण मे रमाने के लिए भगवान् ने क्या नहीं किया। अपना नन्दभवन छोड़ा, बलराम को छोड़ा, संपूर्ण सखाओं को छोड़ा, माता यशोदा का स्नेह छोड़ा, श्रीवृन्दावन अकेले पधारे और वहाँ अकेले रह करके बाँसुरी को माध्यम बनाया। तो वही गोपियों को श्रीकृष्ण तक ला

सकती थी, क्यों? इसलिए भगवान् यही तो उनका माहात्म्य है। भगवान् ने सोचा कि श्रीरामावतार मे सीता जी के पास मैंने शिवजी को भेजा था, जो हनुमान जी के रूप मे गए थे और उनसे मैंने एक बात कही थी कि सीता जी को समझाकर उनसे अपना बल कहकर शीघ्र चले आना।

बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु। कही बल बीर बेगि तुम आयहु।।

मानस ४/२३/११

शिवजी सफल होते हैं। श्रीदुर्गासप्तशती मे भी शिवजी ने दूत का कार्य किया था **"दूत त्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः"**। अब यहाँ क्या किया जाए? गोपियाँ श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी को पुरुष रूप मे देखना नहीं चाहती हैं। श्रीवृन्दावन की मान्यता तो ये है कि गोपियाँ ऐसी रूपानन्य हैं कि यदि कदाचित् भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें छलने के लिए नारायण का रूप धारण कर लें तो वे घूँघट निकाल लेती हैं। कहती हैं कि मुझे नारायण को नहीं देखना है मुझे तो कृष्ण चाहिए। उनकी मान्यता मे मधुसूदन सरस्वती का यही श्लोक अक्षरशः सत्य हो जाता है कि

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।

उनको भाते हैं वंशीविभूषितपाणि नील–नील जलधर के समान शरीर कान्ति, कोटि–कोटि सौदामिनी, द्युतिविनिन्दक, पीताम्बरधारी, अरुण बिम्ब फल समान सुन्दर समरुण मधुराधर, कोटि–कोटि कन्दर्प दर्प दलन स्वाभिराम, रमणीय, कमनीय, किशोर मूर्ति, नील–नील नीरज सरिस सुन्दर नेत्र ऐसे गोपियों को अपने वश मे करने के लिए भगवान् अपने माहात्म्य का ही प्रयोग करेंगे और माहात्म्य का प्रयोग करने के लिए भगवान् ने अपनी वंशी का प्रयोग अभीष्ट माना। पर समस्या है शिव का आवाहन कैसे किया जाए? इधर शिवजी ने प्रभु से एक आपत्ति की थी कि प्रभु आपके कहने से मैंने विष तो पी लिया, परन्तु आपने कभी मुझे अमृत नहीं पिलाया। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, कोई बात नहीं अमृत पीने के लिए आपको नारी बनना पड़ेगा। बन लूँगा सरकार। ठीक है, आपको लोग शिवम् तो कहते ही हैं चलिए अब शिवम् का उल्टा कर लीजिए। शिवम् वंशी और **"कृदिकारदक्तिनः"** शिवम् ही वंशी बने। **"वंशो ज्ञेयो महारुद्रः"** भगवान् की वंशी रुद्र हैं और रुद्र कामारि हैं, इसलिए इन्हीं रुद्र रूप वंशी का प्रयोग करके अपने माहात्म्य के द्वारा संपूर्ण गोपियों को प्रभु अपने पास बुला रहे हैं और दुरात्मतत्त्वों को दूर कर रहे हैं, अतः इनको भगवान् कहते हैं। **"भगश्रीकाममाहात्म्य वीर्य"** भग का अर्थ वीर्य अर्थात् पराक्रम भी है। यहाँ भगवान् अपने परम पराक्रम का प्रयोग कर रहे हैं। क्योंकि यदि सबसे प्रबल खल है तो काम है,

तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरू लोभ।
मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ।।

मानस ३/४०क

यह बहुत प्रबल खल है, इसको मारने मे भगवान् को भी कभी–कभी आश्चर्य होता है। भगवान् को भी सावधान रहना पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीता जी के तृतीय अध्याय के उत्तरार्द्ध मे जब अर्जुन ने भगवान् से यह प्रश्न किया कि–

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।" गीता ३/३६

किससे प्रेरित होकर इच्छा न करता हुआ भी प्राणी पाप करता है? भगवान् ने निर्भ्रान्त शब्दों मे उत्तर दिया **"काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भव"** रजोगुण से उत्पन्न

हुआ यह काम ही क्रोध बन जाता है। **''महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्''** इसका कभी पेट नहीं भरता, महाशन है ये। **''महत् अशनं यस्य''** इसका भोजन बहुत भयंकर है बहुत विशाल है। कुम्भकरण का पेट तो कदाचित् भर जाता होगा, पर इसका पेट कभी नहीं भरता। अथवा 'महाशन' का दूसरा भी भाव है। भगवान् कहते हैं **''महात्मानः अशनं यस्य''** महात्माओं को भी ये खा जाता है। **''महापुरुषाः अशनं यस्य''** महापुरुष को भी ये खा जाता है। इसलिए यहाँ सबसे बड़ा शत्रु काम है। तो क्या करूँ प्रभु? भगवान् ने कहा, इसको मार डालो, ये बहुत बड़ा शत्रु है। ज्ञानियों का तो नित्य वैरी है ही बहुत दुष्ट है।

''इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।''

गीता ३/४२

इन्द्रियों से सूक्ष्म है मन, मन से सूक्ष्म है बुद्धि, बुद्धि से भी सूक्ष्म है जीवात्मा और जीवात्मा से सूक्ष्म हैं परमात्मा, परन्तु यह भी कम नहीं है। **''इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते''** ये बारह स्थानों मे रहता है, दस इन्द्रियों मे, एक मन मे एक बुद्धि मे। इसलिए जैसे बारह राशियों मे रहनेवाला सूर्य सबको तपा देता है उसी प्रकार बारह स्थानों मे रहनेवाला यह काम सबको झकझोर देता है। ये शत्रु है इसे मारिए, अर्जुन! इसे मारो–

''एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुराषदम्।।''

गीता ३/४३

कामरूप वाले इस दुर्जय शत्रु को मार डालो। अर्जुन कहते हैं, मैं मार डालूँ? हाँ, मार डालो तभी तो कल्याण होगा। यही एकमात्र वीर है। सूक्ति मे भी कहा गया–

मत्तेभकुंभदलने भुवि केऽपि सूराः केचिद्
भवन्ति मृगराजवधे विदग्धाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरलाः समर्थाः।।

सुना है बहुत से लोग मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण कर देते हैं और मतवाले हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण करनेवाले सिंह को भी मारनेवाले अभी हैं। सिंह वीर को भी लोग मार डालते हैं। परन्तु मैं सभी बलशालियों के समक्ष डंके की चोट पर कहता हूँ कि कन्दर्प के दर्पदलन मे बहुत कम लोग समर्थ हो पाते हैं। भगवान् कहते हैं कि इसे भले ही शंकर भगवान् ने जलाया हो पर उसके दर्प के दलन मे शिवजी भी समर्थ नहीं हो सके। उनको अन्ततोगत्वा इसने क्षुब्ध कर दिया। इसलिए आज उसी काम ने सोची समझी रणनीति के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया है। अद्भुत सुन्दरी हैं व्रजबालाएँ। जब बल की चर्चा हुई भगवान् श्रीराम जी ने श्रीरामचरितमानस मे श्रीलक्ष्मण जी से कहा–

लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारी।
क्रोध के परुष वचन बल, मुनिवर कहहीं बिचारी।।

मानस ३/४० ख.

काम का बल एकमात्र भोगवादिनी नारी है। भगवान् अकेले हैं और गोपांगनाओं का यूथ। 'वनिताशतयूथपः' गोपियों के यूथ हैं सौ करोड़ और एक यूथ मे न्यूनातिन्यून एक करोड़ गोपियाँ होती हैं। समझ लेना चाहिए कि सौ करोड़ यूथ मे कितनी गोपियाँ हो जायेंगी। सभी के सभी बहुत सुन्दर हैं, अद्‌भुत सुन्दर हैं इतना सुन्दर कोई हो ही नहीं सकता जैसी सुन्दर हैं श्रीव्रजांगनायें, परन्तु भगवान् **''यस्येन्द्रियाणि मथितुं कुहकैर्न शेकुः''** भगवान् के इन्द्रियों को मथन करने मे वे नहीं सफल हो पाईं और भगवान् ने काम को जीता। **''नारि नयनशर काहे न लागा''** यही है उनका अपना अप्रतिम बल कि जो काम के बाणों से नहीं बिद्ध हो सके प्रत्युत् जब काम ने आना भी चाहा तो उसको बलहीन कर दिया।

निशम्य गीतं तदनंगवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।

भागवत १०/२६/४.

जहाँ कोई भी समर्थ नहीं हो पाता, ब्रह्मादि देवता भी जहाँ भयभीत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं उस काम को भगवान् ने सहसा जीत लिया। यही है उनका प्रशस्त वीर्य। **''विशेषेण ईरयति इति वीर्यं, वीरान् ईरयति इति वीर्यं।''** जो वीरों को कंपित कर देता है उसे वीर्य कहते हैं। उस काम को भगवान् ने जीत लिया और स्पष्ट कहा गया–

विक्रीडतं व्रजवधूभिरिदंच विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद्‌यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।

भागवत १०/३३/४०.

अतएव भगवान् का वीर्य भी प्रशस्त है और वीर्य के साथ–साथ यत्न भी। उनका प्रयास भी स्तुत्य है। प्रारम्भ से लेकर अब तक गोपियों को लाने मे जो भगवान् ने प्रयत्न किया है वह एक असाधारण घटना है। बार–बार मुनिगण उस घटना की प्रशंसा करते हैं **''या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्''** ये कितनी बड़ी आश्चर्य की बात है कि आर्यपथ छोड़कर और वेदों के द्वारा मृग्य ऐसे भगवान् के चरणों का गोपियों ने भजन किया है। इसलिए इस परम दुर्जय काम को जीत पाना केवल भगवान् के वश का है। स्वयं मानसकार कहते हैं, **''नारि नयनशर काहे न लागा''** पर भगवान् व्यथित नहीं हुए **''यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः''** भगवान् अच्युतमय हैं ऐसी परिस्थिति मे भी 'अत्मन्यवरुद्धसौरतः' भगवान् का सौरत उनके मन मे ही रूद्ध था। भगवान् स्खलित नहीं हुए, च्युत नहीं हुए यही उनका वीर्य है, पराक्रम है। अन्य देवताओं के विजय मे उनको इतना आयास नहीं हुआ होगा, परन्तु एक सबसे बड़ी बात है इस पराक्रम की वह यह कि जब युद्ध होता है तो वहाँ रक्तपात होता है, अनेक लोगों का बध होता है, अनेक लोगों के प्राण जाते हैं, पृथ्वी रक्तरन्जित होती है, तब किसी की विजय अथवा पराजय होती है। पर इस महासंग्राम मे एक विशेषता है, यहाँ गाते–गाते युद्ध हो रहा है। भगवान् गा रहे हैं **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्''** और गाते–गाते काम जैसे परम शत्रु को पराजित कर दिया यही उनके वीर्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

''भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।''

भागवत १०/२६/१.

ये स्वयं भगवान् हैं इसलिए उनके वीर्य अर्थात् पराक्रम की प्रशंसा करते हुए भगवती कुन्ती ने कहा **''श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग् राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य''** (भा. १/८/४३) अर्थात् 'अनपवर्ग' जिसके वीर्य का अपवर्ग नहीं होता, जिसके वीर्य का निर्वापण

नहीं होता, जिसके पराक्रम को कोई शान्त नहीं कर सकता अमोघ पराक्रम। यहाँ भगवान् का यह अमोघ वीर्यत्व एक संकेतीकरण है कि वे भगवान् हैं और भगवान् किसी से पराजीत नहीं होते। भगवान् के पराक्रम को कोई डिगा नहीं सकता। सबसे बड़ा यही पराक्रम है कि काम जैसे शत्रु को उन्होंने मुरली बजा–बजाकर मारा। उसके लिए सुदर्शन चक्र नहीं उठाया। जो श्रीकृष्णचन्द्र अघासुर, वकासुर को मारने मे कम से कम हाथ का प्रयोग तो करते हैं, जो पूतना का जहर पी सकते हैं, जो तृणावर्त को आकाश में मार सकते हैं, जो जरासन्ध आदि की तेइस–तेइस अक्षौहिणी सेना को सत्रह बार पराजित कर सकते हैं, वो अभी शस्त्र नहीं उठा रहे हैं। बिना शस्त्र के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना यही भगवान् के वीर्य की विचित्रता और विशेषता भी है। अतएव यहाँ वेदव्यास जी भगवान् शब्द का प्रयोग करते हैं कि ये साधारण देवता नहीं हैं। जिस काम को शंकर भगवान् भी नहीं जीत पाए जला देना ये अलग बात है, पर एक बार तो उसने उनको डिगा ही दिया और **''भयउ ईश मन छोभ विशेषी''** ईश के मन मे अत्यन्त क्षोभ है, क्षुब्ध हुए शंकर। स्वयं कालिदास कहते हैं–

हरस्तु किंचित्प्रतिरुत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भइवाम्बुराशि।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।

जिस प्रकार चन्द्रोदय के समय समुद्र मे ऊथल–पुथल हो जाती है उसी प्रकार एक ऊथल–पुथल की परिस्थिति, परन्तु श्रीकृष्ण के मन मे कोई अन्तर नहीं पड़ रहा है। वे तटस्थ हैं, शिवजी तटस्थ नहीं रह पाए। शिवजी की समाधि भंग करने पर उन्होंने उसकी प्रतिक्रिया की, पर भगवान् कोई प्रतिक्रिया नहीं कर रहे हैं, **''हरस्तु किंचित्प्रतिरुत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भइवाम्बुराशि''** भगवान् का मन ज्वार आनेवाले समुद्र की भाँति नहीं है, भगवान का मन स्थिर है। अतः **''व्यापारयामास विलोचनानि''** अतः यहाँ कुछ नहीं। आनन्द हो रहा है और भगवान् अपने उस वीर्य का प्रयोग करके काम को जीत रहे हैं **''जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुराषदम्''** और उन्हें सफलता भी मिल गई। अन्ततोगत्वा काम अन्यत्र नहीं वहीं उपस्थित होता है जहाँ भगवान् आनन्दकन्द उपस्थित हैं। संग्राम करने के लिए रात्रि का समय है, सोलह सहस्र नारियाँ हैं, उनके नेत्रों के कोण ही उसके पास बाण हैं। फुलों की कोई कमी नहीं है **''यो धनुष पौष्पं मौर्वी पुष्पधन्वा''**। अब युद्ध का जो प्रकरण होगा वह विचित्र ही होगा, क्योंकि **''अनिश्चये हि विश्रौते युद्धे जयपराजये''** जय और पराजय पर किसी का कोई निश्चय नहीं होता। वो तो जय और पराजय अनिश्चित ही होता है उनका कोई निश्चय नहीं, किन्तु भगवान् के वीर्य का निश्चय है। उनके वीर्य यत्न, उनके यत्न भी बहुत सुन्दर हैं, क्योंकि एक मुरली धुन से संपूर्ण व्रजांगनाओं को अपनी ओर एकत्र करना और एकत्र करके कुछ वैष्णव सिद्धान्तों को समझाना यही तो उनका यत्न है और इस यत्न मे भगवान् श्रीकृष्ण सफल होंगे। संपूर्ण गोपियाँ उनके चरणों मे उपस्थित हुईं। 'वीर्य यत्नार्क' भगवान् के व्यक्तित्व मे करोड़ों–करोड़ों सूर्यों का प्रकाश है और कीर्ति सूर्य और भगवान् की वह दिव्यकीर्ति जो रासपंचाध्यायी की उपक्रम मे विराज रही है यह भी स्तुत्य ही है, क्योंकि भगवान् की कीर्ति, भगवान् की यशोगाथा एक अद्भुत उरुगाय का प्रसंग है। अतएव **''भगवानपि ता रात्रीः''** श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ने इस लीला मे अपने उस अकर्तनीय वीर्य का प्रयोग किया जहाँ **''न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते''** शत्रु की हिंसा भी नहीं हुई और हाथ मे विजयश्री भी प्राप्त हो गई। जिस योद्धा का बड़े–बड़े योद्धा बाल बाँका नहीं कर सके, स्वयं शिवजी जिसको भस्म कर सके थे। परन्तु वस्तुतः उसको जीत नहीं पाए इसीलिए काम दहन के पश्चात् भी शिवजी उससे त्रस्त ही रहे। और श्रीरामचरितमानस मे युद्धकाण्ड मे उन्होंने कहा भी, हे रघुनाथ जी! अब इससे मेरी रक्षा

कीजिए **"मामभिरक्षय रघुकुल नायक, धृत बर चाप रुचिर कर शायक"** (मानस ६/११४/१)। उसी काम को भगवान् श्रीकृष्ण ने अनायास जीता किसी शस्त्र का प्रयोग नहीं किया। गाते–गाते उसे जीत लिया यही भगवान् के वीर्य का प्राशस्त्य है। जिसके लिए कहा जाता था कि **"कन्दर्पदर्पदलने विरलाः समर्थाः"** कन्दर्प के दर्प को नष्ट करने मे बहुत कम लोग समर्थ हो पाते हैं उसी काम को भगवान् बिना शस्त्र का प्रयोग किये, बिना कवच धारण किये, बिना युद्ध की तैयारी किये परास्त कर रहे हैं। यही भगवान् का अपना भगवत्व है। प्रायः युद्ध मे न्यूनातिन्यून सोलह वर्ष का युवक उपस्थित होता है वह भी कवच धारण करके। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने कौन सा कवच धारण किया? कौन से युद्ध के उपकरण उन्होंने उपस्थित किये? किन–किन युद्ध के साधनों का उपयोग किया शत्रु को मारने के लिए? किन–किन दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया? कुछ भी तो नहीं और अवस्था भी कितनी मात्र आठ वर्ष की। आठ वर्ष का बालक और इतने बड़े योद्धा को परास्त करे, ये क्या है? यही इस लीला मे अपूर्व भगवत्व है भगवान् का। यही है भगवान् की वीर्यवत्ता की अत्यन्त आश्चर्य करिझाँकि जहाँ काम ने पराजय स्वीकार की और पराजय ही नहीं स्वीकार की उसने भगवान् का पुत्र होना भी स्वीकार कर लिया और वह अपने इस पाप के प्रायश्चित्त के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का पुत्र बनकर आया और यावत् जीवन द्वारकाधीश की सेवा की। काम को एक विचित्र अनुभूति हुई, उसने शिवजी और केशव का एक विलक्षण अन्तर देखा। काम ने सोचा होगा कि अरे! देवताओं के कार्य के लिए मैंने शिवजी पर आक्रमण किया था। उस आक्रमण मे यत्न से मैंने शिवजी की समाधि तोड़ी और शिवजी का क्रोध जगा और उन्होंने मुझे भस्म कर दिया।

हरस्तु किंचित्प्रतिरुत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भइवाम्बुराशि।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।।

परन्तु यहाँ तो कुछ विचित्र ही हो गया। यहाँ आक्रमण करने मे काम ने कोई भी संकोच नहीं किया सारे के सारे उपकरण इकट्ठे किए और उसके उपकरणों के संयोजन मे भगवान् ने स्वयं सहायता की। जिस पर विजय प्राप्त करनी है वही शत्रु को संपूर्ण अस्त्र–शस्त्र उपलब्ध करा रहा है। भगवान् ने अपने शत्रु को अपने ही ऊपर प्रहार करने के संपूर्ण उपकरण उपलब्ध करा दिए। पूर्णिमा की शारदीय रात्रि जिस प्रहरचतुष्टयवती रात्रि मे सहस्र युग की अनन्त रात्रियों का समावेश। एक ही रात्रि मे सहस्र युगों की संपूर्ण रात्रियों का समावेश। अद्भुत चन्द्रमा, लोकोत्तर तारागण, शरद मे वसन्त का संपूर्ण दृश्य अर्थात् कामदेव को उतनी सामग्रियाँ उपलब्ध करायी गईं जितनी सामग्रियाँ उसे कभी नहीं मिली थी।

"अरविन्दमशोकं च सौरभं नवमल्लिका।
पारिजातं तथेत्याहुः कामपंचशरं बुधाः।।"

सुन्दर कमल, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और पारिजात ये पाँचों के पाँचों उपलब्ध करा दिए गए। आज भगवान् श्रीकृष्ण ने काम को वो सारी सुविधाएँ दीं जो श्रीरामावतार मे भगवान् श्रीराम ने लोकरावण रावण को उपलब्ध करायी थीं। वाल्मीकि रामायण का एक रोचक प्रसंग इस वक्तव्य की पुष्टि के लिए यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। वाल्मीकि रामायण मे युद्धकाण्ड मे एक अद्भुत कथा उपस्थित होती है। श्रीराम–रावण संग्राम चल रहा है और रावण ने अपने युद्ध कौशल का भरपूर प्रयोग किया। संपूर्ण श्रीराम सेनापतियों को मूर्च्छित किया। बहुत से वानरभटों को मृत्यु के घाट उतार दिया। पूरी सेना क्षत–विक्षत हो गई। हताहतों की संख्या का अनुमान लगाना भगवान् श्रीराम के लिए भी कठिन होने

लगा। तब भगवान् श्रीराम ने रावण से युद्ध करने का मन बनाया। और इस युद्ध मे भगवान् श्रीराम ने रावण के दसों मुकुट काट दिए। उसके छत्र को खण्ड–खण्ड कर दिया। रावण के धनुष को काट कर नीचे गिराया, रावण के तूणीर को टुकड़े–टुकड़े कर डाले। रावण के रथ और सारथी को भी समाप्त कर दिया। जब रावण निशस्त्र और विरथ हो गया तब भगवान् श्रीराम ने बड़ी प्यारी व्यंगोक्ति मे रावण के सामने अपना मंतव्य प्रस्तुत किया–

कृतं त्वया कर्म महत्सुभीमं हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम्।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्य न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि।।

वा. रा. ६/५६/१४४

भगवान् श्रीराम ने कहा, ''रावण! आज तुमने बहुत अद्भुत रण–कौशल प्रस्तुत किया है, मेरे बड़े–बड़े वीर सैनिकों का वध कर दिया है। परन्तु तुम युद्ध मे बहुत श्रान्त हो गए हो इसलिए मैं तुम्हें मृत्यु के मार्ग पर नहीं ले जा रहा हूँ।'' रावण! एक कार्य करो,

प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं प्रविश्य रात्रिंचराज लंकाम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः।।

वा. रा. ६/५६/१४५

रावण! लंका लौट जाओ। मैं जानता हूँ तुम युद्ध मे बहुत थक गए हो। हे राक्षसराज! लंका जाकर अपना राक्षसोचित पेय पीकर थोड़ा विश्राम कर लो, दूसरा रथ लाओ, फिर अस्त्र–शस्त्रों से सज्जित हो, हाथ मे दूसरा धनुष लो, कटि मे तूणीर कस लो जो दिव्य–दिव्य बाणों से भरे हों, तब मैं तुमको अपना रण–कौशल दिखाऊँगा। जब तुम रथी, धन्वी, अस्त्र–शस्त्रवान हो जाओगे, तब तुम मेरा बल देख लेना। यही तो है भगवान् श्रीराम का औदार्य और इस औदार्य को देखकर श्री वत्सांक मिश्र चकित हो गए। कहा, प्रभु क्या है ये? **''यस्ता दृशागशमरिंसमुपेत्य युद्धे विश्रम्यतां इति मुमोथि मुग्धमाजौ''**। इतने बड़े शत्रु को आपने कह दिया कि 'विश्रम्यतां' विश्राम कर लो। ये आपका कैसा स्वभाव है? ठीक इसी परम्परा का योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र अनुकरण कर रहे हैं। उन्होंने भी अपने अजेय शत्रु को संपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध करा दी। जिससे वो निश्चिन्त होकर भगवान् श्रीकृष्ण पर प्रहार कर सके। काम ने कहा, मुझे धनुष चाहिए। किसका? पुष्पों का। भगवान् ने कहा, ठीक है, मैं वृन्दावन मे संपूर्ण पुष्पों को प्रकट कर दे रहा हूँ जो नन्दनवन मे भी उपलब्ध नहीं हो सकते। उसने कहा, मुझे बाण चाहिए। किनके? पाँच बाणों के अतिरिक्त भी **''चंचलदृशांदृशांकोणो बाणः''** चंचल नेत्रवाली नारियों के नेत्रों का कोना ही बाण है। भगवान् ने कहा, ठीक है। मैं तुम्हारे लिए कम से कम एक अरब बाणों की व्यवस्था कर दे रहा हूँ। अर्थात् 'वनिताशतयूथपः' इस रासलीला मे न्यूनातिन्यून सौ करोड़ गोपियों के यूथ उपस्थित हुई हैं और इन अचिन्त्य सौन्दर्यसम्पन्न श्रीव्रजांगनाओं के नेत्र के कोने ही बाण होंगे तुम्हारे लिए, कर लो इनका प्रयोग। उसने कहा मेरे लिए मुझको अपना प्यारा मित्र भी चाहिए। कौन? चन्द्रमा। भगवान् ने कहा, पुराना पहले का चन्द्र तो वृद्ध हो चुका होगा। बुड्ढ़ा हो चुका, पुराना है वह। तुम्हारे लिए नए मित्र की व्यवस्था कर दे रहा हूँ। भगवान् ने नवीन चन्द्र की भी व्यवस्था कर दी। नया निष्कलंक अखण्डमण्डल चन्द्रमा कामदेव के लिए उपस्थित कर दिया। उसने कहा, मुझे रात्रि चाहिए। लो रात्रि की भी व्यवस्था कर दे रहा हूँ। काम ने कहा, मेरे लिए प्रत्यग्र उत्पन्न सर्वसमर्थ मन भी चाहिए, क्योंकि मैं मनोभव हूँ। भगवान् ने **''रन्तुं मनश्चक्रे''** काम की प्रसन्नता के लिए नवीन मन की भी व्यवस्था कर दी। सब कुछ तो उसे दे दिया। काम ने कहा, मेरा परम संबल नारी होती है **''तेहि के एक परम बल नारी काम की केवल नारी।''** भगवान् ने कहा, एक नारी की बात क्या करते हो

तुम्हारे परमबल के रूप मे मैं कम से कम एक अरब ऐसी नारियों की व्यवस्था कर रहा हूँ जिनके समान ब्रह्मा की सृष्टि मे कोई सुन्दरी हो ही नहीं सकती। यहाँ तक कि लक्ष्मी के भी सौन्दर्य से कोटि गुणित सौन्दर्य उनमे उपस्थित होगा। अपने शत्रु को सारी सुविधाएँ दी। अपने शत्रु को अपने ही ऊपर प्रहार करने के लिए संपूर्ण अमोघ शस्त्र दे डाले और कामदेव के आक्रमण का सामना करने के लिए भगवान् पूर्णरूप से तैयार हो चुके हैं। यही है भगवान् का देवदुर्लभ पराक्रम। जिससे सबसे बड़े वीर को पराजित ही नहीं किया प्रत्युत् अपना आज्ञाकारी पुत्र भी बना लिया। अपने चरणों मे प्रणाम करवाया, अपनी सेना का अधिपति बनाया। वीर्य के पश्चात् भग का अर्थ है यत्न। **''भगः प्रशस्तो यत्नः यस्य स भगवान्''** जिसके पास प्रशस्त यत्न हो उसे भगवान् कहते हैं। जिनके यत्न की भी किसी से तुलना नहीं की जा सकती वही भगवान् हैं। यहाँ श्रीमद्व्रजांगनाओं की भाव की रक्षा करने के लिए भगवान् ने जैसा यत्न किया ऐसा यत्न भी कहीं नहीं देखा जा सकता। जैसा कि शास्त्रों मे वर्णन है कि गोपियाँ सामान्य नहीं हैं। पद्मपुराण के अनुसार चार प्रकार की गोपियाँ व्रज मे अवतार लेकर आई हैं और एक श्रीराधारानी और उनकी सखियाँ तो नित्य सिद्ध हैं ही।

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयाः ऋषिजा गोपकन्यकाः।
देवकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथंचन।।

पद्मपुराण के अनुसार ये मनुष्य शरीरवाली महिलायें नहीं हैं। देखने मे ये मानो मानुषी महिला हैं, देखने मे इनका शरीर है मनुष्य का, परन्तु श्रीरामावतार मे श्रीदण्डकारण्य के महर्षियों ने जब भगवान् श्रीराम के कोटि–कोटि कन्दर्प कमनीय, स्वाभिराम रमणीय श्रीविग्रह को निहारा तब उन्होंने कहा कि प्रभु हम आपका आलिंगन करना चाहते हैं। श्रीरामतापिन्योपनिषद मे स्पष्ट वर्णन है–

दण्डकारण्य मुनयः श्रीरामं दृष्ट्वा ऊचुः राम त्वामालिंगामः।
सहोवाच न ह्यस्मिन् जन्मनि द्वापरे गोपिका भूत्वा मामालिंगथ।।

भगवान् श्रीराम ने कहा, इस अवतार मे नहीं, यदि आपका मन ही है तो श्रीकृष्णावतार में गोपियाँ होकर मेरा आलिंगन कर लीजिएगा। ये सभी महर्षि गोपीभाव को प्राप्त हुए। वेद की संपूर्ण श्रुतियाँ प्रभु के साथ स्वच्छन्द रमण करने के लिए गोपीभाव को प्राप्त हुईं। बालखिल्यादि ऋषिगण गोपीभाव को प्राप्त हुए। अग्निकुमार गोपीभाव को प्राप्त हुए एवं जब भगवान् श्रीराम चित्रकूट पधारे तो श्रीचित्रकूट विहारी विहारिणी जू के भुवनमोहन सौन्दर्य को देखकर कोटि–कोटि देवांगनाएँ श्रीचित्रकूट मे आईं और भगवान् श्रीसीताराम जी के महारास के दर्शन किए। उस महारास के दर्शन से संपूर्ण देववधूओं के मन मे भी भगवान् के प्रति कान्ताभाव जगा। भगवान् श्रीराम तो एक नारीव्रत हैं, इसलिए वहाँ तो उनके भावों की पूर्ति नहीं हो सकी थी वे सभी देववधूटियाँ श्रीव्रज मे गोपिका बनके आईं। और गोपकन्या का तात्पर्य है मैथिलानियों से **''गां पृथिवीं पातीति गोपः जनकः तस्य नगरस्य कन्यकाः इति गोपकन्यकाः''** 'गो' अर्थात् पृथ्वी का रक्षण करनेवाले जनक जी के नगर की कन्यायें भी भगवान् श्रीराम को देखकर उन पर कान्ताभावभाविता हो चुकी थीं। उन्होंने भी भगवान् श्रीराम के सौन्दर्य को देखकर यही कहा था कि–

''तुम्हारे संग जैबे तुम्हारी हो के रहिबै,
तुम्हारे संग रहिबै हे अवधविहारी।''

श्रीराम स्वयंवरकार बान्धवेश महाराज रघुराज सिंह जूदेव तो यहाँ तक लिखते हैं कि–

**"अनब्याही फूली फिरे ब्याही मीजत हाथ,
गौने की मौंने भईं रूप देख रघुनाथ।"**

ऐसे जनकराज के नगर की कन्यायें भी द्वापर मे श्रीगोपिकाभाव को प्राप्त हुईं। इन चार प्रकार की अवतारिणी गोपांगनाओं के साथ–साथ भगवती राधा जी की सखियाँ और उनके कायव्यूह से उत्पन्न अनन्त–अनन्त गोपियाँ भी वस्तुतस्तु श्रुतियों के अनुसार यदि अनन्त देवता हैं तो अनन्त गोपियाँ भी हैं। और आध्यात्मिक दृष्टि से संपूर्ण भगवद्भक्त जीवात्मा ही गोपीभाव को प्राप्त हो गए हैं। जीवात्मा और भगवान् की शक्तियाँ भी गोपीभाव को प्राप्त हैं। इसलिए यदि सामान्य रूप से गोपियों के पाँच विभाग किए जाएँ तो इन्हीं पाँच प्रकार के गोपियों की भावनाओं की सिद्धि के लिए भगवान् ने पाँच अध्याय मे रासलीला प्रस्तुत की ऐसा मुझे लगता है। इनकी भावना की सिद्धि के लिए कितना अद्भुत प्रयत्न किया है। आज की भाषा मे कहा जाए तो यहाँ यत्न का अर्थ है तैयारी। कितनी पूर्व की तैयारी की है भगवान् ने। श्रीव्रज मे प्राकट्य के पश्चात् पूतना का विष पिया और पूतना का वध करके अविद्या को समाप्त किया। सकटासुर और तृणावर्त की वधलीला से दोनों प्रकार के अन्तश्चर और बहिश्चर वायु पर निग्रह करके वायु की शुद्धि और वायु का निग्रह किया। यमलार्जुन के उद्धार के माध्यम से पार्थिव तत्व की शुद्धि की और श्रीवृन्दावन विहार तथा वकासुर, वत्सासुर और अघासुर के वध के माध्यम से भगवान् ने पृथ्वी की अन्तर्शुद्धि की। कालीदमन की लीला से भगवान् ने जलतत्व की शुद्धि करके उसका निग्रह किया। दावाग्नि पान करके भगवान् ने अग्नि पर विजय प्राप्त किया। और तृणावर्त के ही वध के माध्यम से भगवान् ने आकाश पर भी विजय प्राप्त कर लिया। पंचभूतों की शुद्धि की। इसके पश्चात् वेणु गीतं के ब्याज से गोपियों के हृदय मे सब प्रेमामृत का लोल–लोल परम पावन पूर्णानुरागरससारसर्वस्व महासागर को समुद्भूत किया। और वेणुगीत के ही माध्यम से गोपियों के मन मे एक दिव्य माधुर्य की सर्जना की। क्योंकि वेणु क्या है ? संस्कृत मे वेदान्त सुख 'व' के नाम से जाना जाता है और माया का सुख 'इ' से अभिधेय होता है। अथवा, 'व' का अर्थ है ब्रह्मसुख, वेदान्त मे भी ब्रह्मसुख है और 'इ' का अर्थ है सांसारिक मायिक सुख, ये दोनों ही जिसकी मधुरता से अणु अर्थात् फिके हो जाते हैं उसे कहते हैं वेणु **"वश्च इच तौ अणू यस्मात् स वेणुः"** यहाँ 'पृषोदरादित्वात्' अकार का लोप समझना चाहिए। ऐसे वेणु का प्रयोग करके भगवान् गोपियों मे प्रेमाभक्ति का संचार कर रहे हैं। मुरली के माध्यम से गोपियों को पूर्ण प्रेमाभक्ति से युक्त बनाकर उनको अपने चरणों के अनन्य अनुरागिणी सिद्ध करने का बहुत सफल प्रयत्न कर रहे हैं। स्वयं प्रभु श्रीवृन्दावन मे जाकर **"सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्"** वंशी वादन करते हैं। सुना व्रजस्त्रियों ने और वंशी ने भी सापत्न्य भाव छोड़कर गोपियों को श्रीकृष्ण के पास बुलाने का एक बहुत अभिनव प्रयोग किया। अपनी अनुभूति और आचार्यों के आदेश की संभूति के बल पर यह कहा जाता है कि महर्षि वेदव्यासजी ने भागवत् जी मे जो अठारह हजार श्लोकों की रचना की है उनमे सत्रह हजार नौ सौ निन्यानवें श्लोक वेदव्यास जी के और एक श्लोक भगवती वंशी का है। भगवती मुरली ने यह श्लोक स्वयं बनाया है। यह वेदव्यास जी का श्लोक नहीं है। कितना प्यारा श्लोक है कहते हैं–

**बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्
वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं
स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।**

भागवत १०/२१/५.

वंशी ने कहा, हे व्रजांगनाओं! देखो, बर्हापीडं बिभ्रद्, नटवरवपुः बिभ्रद्, कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्, कनककपिशं वासः बिभ्रद् च वैजयन्तीं मालां बिभ्रद्, वेणोः रन्ध्रान् अधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः गीतकीर्तिः स्वपदरमणं वृन्दारण्यं प्राविशत् अर्थात् हे श्रीव्रजांगनाओं! हे श्रीकृष्णचन्द्र जी की प्रेयसियों! हे प्रियस्त्रियों! अपने शिर पर बर्हापीड अर्थात् मयूरपीच्छ का मुकुट धारण करते हुए **''नटवरवपुः''** **''नटेभ्यः नटराजराजेभ्यः अपि वरं वपुः''** नटराजराज भगवान् शंकर से भी श्रेष्ठ शरीर को धारण करते हुए **''कर्णयोः कर्णिकारं''** अपने कानों मे कर्णिकार पुष्प धारण करते हुए, स्वर्ण के समान पीली दिव्य पीताम्बर को धारण करते हुए और वैजयन्ती माला को धारण करते हुए अपने अधर सुधा से वेणु के छीद्रों को पूर्ण करते हुए, गोप मित्रों द्वारा जिनका दिव्य यश गाया जा रहा है अथवा, गोप मित्रों द्वारा जिनके समक्ष भगवती कीर्तिकुमारी राधा जी को गाया जा रहा है, ऐसे प्रभु **''स्वपदरमणं''** अपने श्रीमत्चरणारविन्द से रमणीय श्रीवृन्दावन मे प्रवेश कर रहे हैं, प्रवेश कर चुके हैं। यहाँ पाँच बार 'बिभ्रद्' और एक बार 'पूरयन्' शब्द का प्रयोग करके मुरली ने श्रीकृष्ण भगवान् का पूर्ण भगवत्व सिद्ध किया। मुरली ने कहा, गोपियों! श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् हैं और भगवान् उसी को कहते हैं जहाँ संपूर्ण ऐश्वर्य, संपूर्ण धर्म, संपूर्ण यश, संपूर्ण श्री, संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण वैराग्य नित्य विराजमान रहते हैं। देखो, सखियों! भगवान् अपने ऐश्वर्य से ही अपने शिर पर 'बर्हापीड' बर्ह अर्थात् मयूरपीच्छ का आपीड अर्थात् मुकुट धारण कर रहे हैं यही उनकी ईश्वरता है और अपने धर्म के ही बल पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपना ऐसा विशुद्ध सच्चिदानन्दमय चिन्मय शरीर धारण कर रहे हैं, जो नटराजराज शिवजी से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि जब शिवजी नाचते हैं तब तो प्रलय हो जाता है।

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं,
पदं विष्णोर्भ्राम्यद् भुजपरिधिरुग्णग्रहगणम्।
मुहूर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृत्यजटाताडित तटा,
जगद्रक्षायैत्वं नटसि ननु वामैव विभुता।। शिवमहिम्न १६.

अर्थात जब भगवान् शंकर का ताण्डव होता है तो उनके चरणों के आघात से पृथ्वी को भी अपनी स्थिरता पर संशय होने लगता है और वो फटने लगती हैं। शिवजी की घनी जटाओं के ताडन से जिसके प्रान्तर टूट गए हैं, ऐसा स्वर्गलोक भी टूटकर नीचे गिर जाता है और भगवान् विष्णु का चरण आकाश भी भुजाओं के प्रहार से समाप्त हो जाता है। शिव! आप नाचते तो हैं जगत् की रक्षा के लिए पर हो जाता है जगत् का भक्षण। क्या, आपका विभूत्व आपकी इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है? तात्पर्य यही है कि जब शिव नाचते हैं तो प्रलय होता है, पर जब व्रजेन्द्रनन्दन केशव नाचते हैं तब प्रलय नहीं जगत् में प्रणय की सृष्टि हो जाती है। शिव के नाचने से हाहाकार होता है और श्रीकृष्ण के नाचने से स्वाहाकार होता है। शिव के नाचने से सृष्टि मे शोक का संचार होता है और भगवान् श्रीकृष्ण जब नृत्य करते हैं तब दिव्य श्लोकों का संचार होता है। शिव के नाचने से क्रन्दन होता है और भगवान् कृष्ण के नाचने से नन्दनवन मे भी प्रभु का अभिनन्दन होता है। इसलिए धर्म के ही कारण भगवान् अद्भुत शिव से भी सुन्दर दिव्य चिन्मय विग्रह धारण कर रहे हैं। नटवर वपुः बिभ्रद् और चूँकि यश कानों से सुना जाता है श्रवण का विषय है इसलिए एक ही कर्णिकार भगवान् दोनों कानो मे धारण कर रहे हैं। अर्थात् एक ही यश लोक और परलोक दोनों मे सुनायी पड़ रहा है। एक ही यश प्रवृत्त और निवृत्त दोनों प्रकार के जीवों को आनन्द दे रहा है। एक ही यश बद्ध और मुक्त दोनों जीवों के लिए शिक्षा का

स्रोत है। यही है भगवान् का अलौकिक यश। और भगवान् के श्री के ही रूप मे स्वर्ण के समान पीला बाल दिवाकर द्युति विनिन्दक कोटि–कोटि सौदामिनी मंगलमय "**चंचच्चाकचिक्य चकितीक्रतावलोचनलोचकनिचय**" परिकलित भक्त प्रणय असमोर्ध्वानन्द सम्पन्न परमपावनी शोभा से मण्डित पीताम्बर प्रभु ने धारण किया है। यही है प्रभु का असाधारण श्री। और पंचपुष्प युक्त परम ज्ञान स्वरूपिणी वैजयन्ती माला को भगवान् धारण कर रहे हैं तथा अपने वैराग्य के प्रतीक के रूप मे अपने अधर सुधा से मुरली के छिद्रों को भगवान् भर रहे हैं। यही है उनका षडैश्वर्य। और "**गोपवृन्दैः**" गोपवृन्दों के द्वारा "**गीतकीर्तिः गीता कीर्ति कुमारी राधा यस्मै**" जिनकी प्रसन्नता के लिए कीर्ति कुमारी राधाजी का गान किया जा रहा है यहाँ "**विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदलोपो वक्तव्यः**" इस कात्यायन वाक्य के आधार पर 'गीतकीर्ति कुमारी' शब्द मे से 'कुमारी' शब्द का लोप हो गया है फिर सम्पन्न हुआ 'गीतकीर्तिः' अर्थात् जिनके समक्ष गोपालों ने कीर्ति कुमारी विनष्ट भवबाधा परिकलितानुराधा श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया परम प्रेयसी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी का गान हुआ है ऐसे प्रभु श्रीवृन्दावन मे प्रवेश कर चुके हैं। वह कैसा है? 'स्वपदरमणं' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के ही चरणारविन्द से वह रमणीय है। अथवा 'स्वपदरमणं' "**स्वेषां भगवत् आत्मीयानां वैष्णवानां पदैः रमणं**" अर्थात् 'स्व' माने भगवान् के आत्मीय श्रीवैष्णवजनों के श्रीचरणों से वह रमणीय है। अथवा "**स्वपदं गोलोकः तस्मादपि रमणं**" 'स्वपद' का अर्थ है गोलोक उससे भी जो रमणीय है ऐसा वृन्दावन। अथवा "**स्वपदे स्व राधा तस्याः पदे रमणः श्रीकृष्णचन्द्रः यस्मिन्**" अर्थात् 'स्व' माने भगवान् की आत्मीय राधा, उनके चरणों पर जहाँ उनके रमणविहारी श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हो रहे हैं, जहाँ निधुवन मे श्रीराधारानी जी के चरणों को पलोट रहे हैं ऐसे श्रीवृन्दावन मे भगवान् प्रवेश कर चुके हैं। इस गीत ने गोपियों के मन को मनमोहन के योग्य बना डाला। उनके संसार को समाप्त कर दिया, गोपियाँ धन्य हो गईं। यह कितना मनभावन यत्न है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। भगवान् जानते हैं कि जब तक मन संसार के विषयों से उपरत नहीं होता, तब तक कोई भी मनोधर्मा व्यक्ति मुझे प्राप्त नहीं कर सकेगा। गोपियों को अपनी योग्य बनाने की योग्यता तो भगवान् को भी देनी है। शास्त्र का मानना है कि जब तक जीव पर भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक जीव स्वयं भगवान् के पास नहीं आ सकता। "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**" जिसको प्रभु स्वयं अपना बनाते हैं वही उन्हें प्राप्त कर पाता है। आज भगवान् गोपियों को स्वयं अपना बनाना चाहते हैं। अतः अपने अनुरूप योग्यता का संपादन भी भगवान् ही करेंगे गोपियों में उन्होंने तो मन बना लिया एक इच्छा कर ली कि प्रभु हम आपके साथ रमण करना चाहते हैं। हम आपके साथ खेलना चाहते हैं। हम आपके अंग–संग के द्वारा अपने को धन्य–धन्य करना चाहते हैं। पर ये कैसे होगा? उपेय भी भगवान् हैं और उपाय भी भगवान् हैं, यही तो है शरणागति "**तदेकोपायता याच्आ प्रपत्तिः शरणागतिः**"। तो भगवान् को उपेय भी बनना है और उपाय भी बनना है। उपाय का ही दूसरा नाम यत्न है, इसलिए एक मन्दाक्रान्ता ने धन्य–धन्य कर दिया और गोपियों को जो कुछ जिज्ञास्य था संपूर्ण जिज्ञासाओं की पूर्ति कर दी। संकेत है भगवान् के यहाँ आने के लिए किस योग्यता की अपेक्षा होगी? 'बर्हापीडम्' के संकेत से वंशी यह कहना चाहती है कि गोपियों! भगवान् के पास आने के लिए वही उपयुक्त होगा जिसके मन से ग्राम्य भोग बहुत दूर चले गए हों। देखो, भगवान् 'बर्ह' अर्थात् मयूर के पीच्छ को धारण करते हैं मोर के पंख को धारण करते हैं। कैसा विचित्र है मोर? यहाँ विचार करना होगा कि भगवान् मोर के ही पंख को क्यों धारण करते हैं और किसी पक्षी के पंख को क्यों नहीं धारण करते? इसका सीधा उत्तर है कि मोर का जन्म गँवारू शारीरिक संबन्ध से नहीं होता। मोर का जन्म सामान्य स्त्री–पुरुष

के संयोग से नहीं होता। मोर मेघ को देखकर अपनी तन्मयता से नाचता है, उसी समय उसके नेत्र से गिरते हैं आँसू और उन्हीं आँसूओं को चुग लेती है मयूरी उन्हीं से वह गर्भ धारण करती है। अर्थात् जिसके मन से संसार की वासना चली गई हो उसी का पक्ष परमात्मा लेते हैं। उसी को परमात्मा स्वीकारते हैं। इसलिए भगवान् के यहाँ आने के लिए तो सबसे पहले संसार की वासनाओं को तिलांजलि देनी होगी और इन्द्रिय सुखों को तिलांजलि देनी होगी। और यही किया है गोपियों ने वे कहेंगी **''प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः''** हमनें सब कुछ छोड़ दिया आपकी उपासना की आशा मे। हमने अपनी वसतियों को छोड़ दिया है, क्योंकि आपकी उपासना को ये खा रही थीं **''तव उपासनां अश्नन्तीति त्वदुपासनाशाः ताः''**। 'नटवर वपुः' भगवान् धारण कर रहे हैं, इसलिए हे गोपियों! मुरली संकेत करती हैं, भगवान् कितने भक्त प्रेमपरवश हैं वे सब कुछ करेंगे। वे तुम्हारे सामने नाचेंगे भी और तुम भी तन्मय होकर प्रभु के समक्ष नाचना। अर्थात् जो भी परमात्मा के चरणों मे नाचता है वह धन्य–धन्य हो जाता है। कान मे कर्णिकार पुष्प का यही तात्पर्य है कि भगवान् का इतना अप्रतिम माहात्म्य है कि उनके यश को निरन्तर सुनते रहना चाहिए जिससे जीवन धन्य–धन्य होता रहे रसमय होता रहे। पीताम्बर धारण करके मुरली ने संकेत किया कि भगवान् तो प्रकृति का नियंत्रण कर चुके हैं। प्रकृति ही भगवान् का पीताम्बर बन गई है। वैजयन्ती माला धारण करके ज्ञान की संपूर्ण विधाओं को संकेतिक करती हुई मुरली कह रहीं हैं कि ज्ञान तब तक धन्य नहीं होता जब तक उसको मनमोहन नहीं स्वीकारते। अर्थात् भक्ति सापेक्ष ज्ञान ही भगवान् की प्राप्ति मे सहायक होता है। 'सौपास्तिक ज्ञान' ही भगवान् की प्राप्ति मे सहायक होता है। 'निरूपास्तिक ज्ञान' भगवान् की प्राप्ति मे कोई सहायता नहीं करता। और वंशी के छिद्रों को भगवान् भर रहे हैं अपने अधर सुधा से कितना मनोहर यहाँ का दृश्य है **''अधरसुधया पूरयन्''** वंशी मे छिद्र है फिर भी वो भगवान् की अधर सुधा उससे गिर नहीं रही है, क्योंकि भगवान् अच्युत हैं। जब वे च्युत नहीं होते तो उनका प्रेम भी च्युत नहीं हो सकता। वो अधर सुधा है, अधर सुधा माने **''अधरस्य सुधा''** अर्थात् भगवान् के अधर की सुधा अथवा, अधर सुधा माने **''न विद्यते धरा यस्यां सा अधरा सा चासौ सुधा तया''** जिस अमृत मे पृथ्वी की गन्ध नहीं है, संसार की भोगवासना नहीं है, ऐसी अधर सुधा से भगवान् मुरली के छिद्रों को भर रहे हैं। **''अधरा सुधा यया''** जहाँ जिसकी मधुरता से सुधा भी तिरष्कृत हो गई है उस सुधा से भगवान् मुरली की छिद्रों को भर रहे हैं। ऐसे भगवान् जिनका यश गोपवृन्द गा रहे हैं अथवा, जिनके समक्ष कीर्ति कुमारी को गोपवृन्द गा रहे हैं तात्पर्य यही है कि भगवत्प्राप्ति मे राधारानी की पूर्ण भूमिका है। जब तक राधारानी की कृपा नहीं होती तब तक भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती और इससे भी महत्वपूर्ण बात है **''वृन्दारण्यं प्राविशत्''** भगवान् श्रीवृन्दावन मे प्रवेश कर रहे हैं। कौन सा है वह वृन्दावन? कहते हैं 'स्वपदरमणं' जो भगवान् के श्रीचरणचिन्हों से रमणीय बन गया है अथवा, भगवान् के निरावरण श्रीचराणरविन्द के विहार से जो रमणीय बन गया है अथवा, 'स्वपदरमणं' भगवान् के आत्मीय श्रीवैष्णवों के चरणों से जो रमणीय है अथवा, 'स्वपदरमणं' भगवान् की आत्मीय गोपीजन के श्रीचरणों से जो रमणीय है अथवा, 'स्वपदरमणं' भगवान् के प्राणधनस्वरूपा श्रीराधारानी के श्रीचरणचिन्हों से जो रमणीय है अथवा, 'स्वपदरमणं' भगवान् श्रीकृष्ण की जाति के गोपालों के श्रीचरणारविन्द से जो रमणीय है अथवा, 'स्वपदरमणं' भगवान् के धनस्वरूप गौओं के श्रीचरणों से जो रमणीय है अथवा, स्वपदरमणं भगवान् के आत्मीय श्रीवैष्णवजनों के द्वारा निर्माण करके गाये जानेवाले पदों की झंकार से जो रमणीय है, ऐसे श्रीवृन्दावन मे भगवान् प्रवेश कर रहे हैं। अथवा, 'स्वपदरमणं' उस वृन्दावन मे भगवान् प्रवेश

कर रहे हैं जहाँ 'स्व' माने भगवान् की आत्मीय राधाजी के पद पर ही रमणविहारीसरकार श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं लोट रहे हैं ऐसे **"स्वस्य भगवदात्मभूतस्य राधारव्यस्य पदयोः चरणयोः रमणः श्रीकृष्णचन्द्रः यस्मिन् एवं भूतं वृन्दावनं प्राविशत्"** इस प्रकार के श्रीवृन्दावन मे भगवान् प्रवेश कर रहे हैं। यहाँ पाँच बार 'बिभ्रद्' शब्द का प्रयोग करके वंशी ने ही रास की पाँच विधायें गोपियों को समझा दी है। मानो वंशी संकेत करती है गोपियों! अब तो प्रभु के साथ रास करना ही होगा, क्योंकि रास का अर्थ है रसों का समूह। **"रसानां समूहो रासः तद् विषयिणि पंचाध्यायी रासपंचाध्यायी"** रसों के समूहों को रास कहते हैं। जैसे भिन्न–भिन्न स्वादवाले भिन्न–भिन्न रस इकट्ठे होते हैं तब एक अद्भुत आनन्द होता है। मिश्रित जो रस होता है 'पानकरस' वह बहुत अद्भुत होता है। यहाँ कम से कम पाँच रसों का समूह इकट्ठा हो रहा है, शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये पाँचों रस मिलकर इकट्ठे हो रहे हैं। यही है रास **"रसानां समूहो रासः"**। बात ऐसी है कि वैसे तो भगवान् हैं रस **"रसो वै सः"**, **"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"** परन्तु जब पीनेवाले अनन्त हैं तो रसों को भी अनन्त बनना पड़ रहा है। पीनेवाली गोपियाँ अनन्त हैं। **"अनन्ता वै देवाः"** देवताओं का अन्त नहीं, उसी प्रकार **"अनन्ता वै गोप्यः"** गोपियों का कोई अन्त नहीं है और भगवान् का भी केई अन्त नहीं है। जितनी गोपियाँ हैं उतने ही रूप मे भगवान् प्रस्तुत हो रहे हैं।

"कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।।"

भागवत १०/३३/२०

अर्थात् जितनी गोपियाँ हैं उतनी संख्या मे जो भगवान् ने अपने को अपनी योगमाया से बना लिया और प्रत्येक गोपी के साथ एक–एक रूप मे प्रस्तुत होकर आत्माराम होते हुए भी भगवान् ने गोपियों के साथ रमण अर्थात् खेल किया। भगवान् खेल रहे हैं प्रत्येक गोपी के साथ। आज परमात्मा अनन्त हो चुके हैं। आज पाँच कोस वाले वृन्दावन मे अनन्त कोसों का समावेश हो गया। छोटी सी विहारस्थली मे कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों को समावेश करने की क्षमता हो गई है। आज वृन्दावन का आकाश भी अनन्त–अनन्त आकाशों को समाहित करने की योग्यता प्राप्त कर चुका है। इसलिए जब पीनेवालों का अन्त नहीं है तो पीये जानेवाले का अन्त कैसे होगा? भिन्न–भिन्न रूचि के पीनेवाले हैं, इसी प्रकार भिन्न–भिन्न रूचि का पेय भी बन गया। भगवान् पेय हैं और गोपियाँ पीनेवाली हैं इसलिए भगवान् को 'पी' कह रहे हैं। जो पीया जाता है उसी को तो 'पी' कहते हैं। भगवान् पीये जा रहे हैं आज अपने को भगवान् पीला रहे हैं। रस बन गए भगवान् द्रव बन गए भगवान् जो अब तक सच्चिदानन्दघन था वह अब सच्चिदानन्दरस बन गया। इस दृष्टि से चूँकि अनन्त स्वादवाली गोपियाँ हैं। जैसे एक ही चीनी के द्रव हैं भिन्न–भिन्न रसों को मिलाने के कारण उसकी भिन्न–भिन्न संज्ञा हो जाती है। उसमे जब सन्तरे का द्रव मिलाते हैं तो सन्तरे का रस बन जाता है। जब मौशम्बी का जूस मिश्रित करते हैं तब मौशम्बी का रस बन जाता है। भिन्न–भिन्न द्रव जब उसमें मिलाये जाते हैं तो वह भिन्न–भिन्न रस की संज्ञा ले लेता है। उसी प्रकार एक ही भगवान् हैं परन्तु भावों के वैषम्य के कारण कम से कम पाँच प्रकार के पदार्थ उनमे मिलाये गये हैं। पाँच प्रकार के रस तो भगवान् अभी बन गए। प्रत्येक गोपी की भिन्न–भिन्न रूचि है **"रूचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानां पथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव"** स्वयं पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि आपको विविध भावनाओं से भक्त प्रणाम करता है।

"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानां पथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।'' शिवमहिम्न ७

अर्थात् कोई वेदत्रयी के माध्यम से आपकी उपासना करता है, कोई सांख्य के माध्यम से, कोई योग के माध्यम से कोई शैवमत् के माध्यम से कोई वैष्णवागम के आधार पर कोई पूर्व मिमांसा की दृष्टि से, कोई उत्तर मिमांसा की दृष्टि से। रूचियों की भिन्नता होने के कारण कुछ लोग सीधे मार्ग से आपकी उपासना करते हैं, कुछ लोग थोड़े टेढ़े मार्ग से, परन्तु सबके एकमात्र गंतव्य स्थान तो एक मात्र आप ही हैं। जैसे भिन्न–भिन्न मार्गों से आनेवाली नदियों का गंतव्य मार्ग जलों का निवास स्थान तो समुद्र ही है समुद्र मे ही जलों को जाना है चाहे वो किसी मार्ग से आयें। उसी प्रकार जीव किसी भी मार्ग से आए परन्तु अन्ततोगत्वा तो सबके महातात्पर्य के रूप मे निश्चित किए जायेंगे एकमात्र आनन्दकन्द मुकुन्द, सततमुनिजनपरिपीतचरणारविन्द, मन्द मकरन्द, सच्चिदानन्द, करुणाकन्द, शोभावृन्द, परमानन्द, गोविन्द, नन्दनन्दन, यशोदानन्दवर्धन, मोचित सकलभवबन्धन, परिकलितोलुखलबन्धन, गोपिका प्रेमपरवश स्वयं परमरस स्वरूप, पूर्णानुरागरससारसर्वस्व, समुद्भूत, परमपावनतामरस श्रीमत्मयूरमुकुटी, सच्चिदानन्दघन, श्रीकृष्णचन्द्र। इसलिए इस वेणुगीत ने गोपियों के मन को एक ऐसा रसमय बना दिया और कहा अन्त मे श्रीशुकाचार्य जी ने–

एवं विधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः।।

भागवत १०/२१/२०

गोपियाँ अब तन्मय हो गईं। श्रीवेणुगीत के आधार पर भगवान् ने गोपियों को तन्मय किया और गोपियों ने बारम्बार अपना पर्यालोचन किया। यहाँ प्रथम उन्होंने श्रीराधाकृष्ण की रूप माधुरी का वर्णन किया और बोलीं,

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।।

भागवत १०/२१/७

हे सखियों! नेत्रवानों के नेत्रों का यही श्रेष्ठ फल है, इससे यदि कोई श्रेष्ठ फल होगा तो हम नहीं जानती। हमारे संज्ञान मे तो एकमात्र यही फल है। क्या? बोलीं, सखियों! अपने मित्रों और सखियों के साथ पशुओं को श्रीव्रज मे ले जाते हुए अथवा, पशुओं के समान परमबन्धन मे बद्ध जीवों को मुक्त करके श्रीरासगोष्ठि मे प्रवेश कराते हुए 'व्रजेशसुतयोः' **''व्रजेश सुता च व्रजेश सुतश्च व्रजेशसुतौ तयोः''** वृषभानु की पुत्री अर्थात् सुता श्रीराधारानी और व्रजेश श्रीनन्दजी के सुत अर्थात् पुत्र श्रीकृष्णचन्द्र जी इन दोनों श्रीराधाकृष्ण जी के वेणु श्रीमत्वंशी से युक्त एकीभूत इकट्ठे हुए युगल मुखारविन्द की रूपमाधुरी को जिन्होंने अपने नयनों से निहार लिया है उन्हीं के नेत्र सफल हैं। अर्थात् जिन्होंने श्रीराधाकृष्ण युगलभूत श्रीबाँकेबिहारी जू के मंगलमय मुखचन्द्र को निहारा जिनकी शोभा ने मोक्ष को भी अनुरक्त कटाक्ष किया है। अथवा, जो अनुरक्तों को सुन्दर टेढ़ी चितवन से निहार रहे हैं अथवा, जिनके कटाक्ष की चितवन से मोक्ष भी अब शान्त हो गया है वह भी मुक्ति नहीं देना चाहता था वह भी भगवान् के रूप पर रीझ गया है। ऐसे मुखारविन्द को पिया है वे ही नेत्रवानों के नेत्र धन्य हैं। इसके पश्चात् गोपियाँ श्रीवृन्दावन का वर्णन करती हैं। धन्य है वह वृन्दावन जो यशोदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणारविन्द की श्रीत्रिलोकवन्द्य शोभा से युक्त है। जहाँ वंशी की धुन से मोहित होकर मयूरगण उसमे

मेघ की कल्पना करके नाच रहे हैं धन्य है वह वृन्दावन। सखियों! देखो, ये धन्य हैं मूढ़ मतिवाली भी हरिणियाँ जिन्होंने अपने नयनों से श्रीराधाकृष्ण की पूजा की है। ये देखो, सखियों! देवियाँ भी आज श्रीकृष्णचन्द्र की मुरली धुन सुनकर आकाश मे आए हुए विमानों पर ही मूर्च्छित पड़ी हैं। इनके जूड़े और इनकी निवियाँ शिथिल पड़ गई हैं। ये देखो, सखियों! गौयें भी श्रीकृष्णचन्द्र मुखारविन्द निर्गत वेणुपीयुष गीत को अपने उठाये हुए कानों के दोनों मे पी रही हैं और वेणुवादन का श्रवण करके बछड़े इतने तन्मय हो गये हैं जो कि अपने मुख मे लिये हुए दूध को घूँट नहीं रहे हैं। दूध मुख से निकलता चला जा रहा है। गौओं के मुख से घास निकलता चला जा रहा है, उन्हें चबाने का समय नहीं मिल पा रहा है। मुनिगण भी पक्षियों का वेष धारण करके वृक्षों की ऊँची डालियों पर बैठकर अपनी फटी हुई आँखों से श्रीकृष्णचन्द्र जी की रुपमाधुरी का पान करते हुए सावधान भाव से श्रीकृष्णचन्द्र जी के वेणुगीत का श्रवण कर रहे हैं। यमुना जी मे बाढ़ आ गयी है और मानो यमुना जी श्रीकृष्ण के मधुर मिलन के मंगलमय मनोभव की मादकता मे कमलों का उपहार लेकर अपनी तरंगों से आगे बढ़ते हुए श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों को लपेटकर रोक रही हैं और कह रही हैं—

''नयनन मे भर लूँगी श्याम तुम्हें जाने न दूँगी............२
लै लूँगी तेरी कारी कमरिया मुरली मधुर लै लूँगी,
श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।
नयनन मे भर लूँगी श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।।
लै लूँगी तेरी छोटी लकुटिया..........२, वनमाला लै लूँगी,
श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।
नयनन मे भर लूँगी श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।।
रोकूँगी तेरी गोकुल डगरिया............२, गाल गुलोचे दूँगी,
श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।
नयनन मे भर लूँगी श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।।
गिरधर मितवा प्रेम कनोड़े उरगृह मे धर लूँगी,
श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।
नयनन मे भर लूँगी श्याम तुम्हें जाने न दूँगी।।''

इस प्रकार श्रीमद्वेणुगीतं मे स्वयं भागवत् जी के वचन भी बड़े ही रोचक हैं—

''नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिंगनस्थगितमूर्भिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः।।

भागवत १०/२१/१५

यहाँ आदरार्थ मे बहुवचन किया गया है यद्यपि है एक ही नदी भगवती यमुना, किन्तु 'नद्यः' कहने का तात्पर्य यमुना के प्रति आदरातिशय मे है। शुकाचार्य जी को श्रीयमुना के प्रति आदरातिशय है इसलिए वे कहते हैं, तद, उस समय 'नद्यः' भगवती यमुना जी ने भी जब मुकुन्दगीत को मुकुन्द विषयक गीत को वेणु मे सुना, उनके मन मे तुरन्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के परम पावन परिष्वंग की कामना जग गई और अपने भँवरों के द्वारा स्पष्ट होती हुई भगवन्मिलन के अभिलाष की उत्कंठा से वेग रूका और उन्होंने अपनी तरंगरूपी भुजाओं से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणारविन्द का आलिंगन करके उन्हें रोका और कहा, श्यामसुन्दर रूक जाओ, हम तुम्हें कुछ उपहार देना चाहते हैं। क्या उपहार

दीजिएगा? कहा, कमलोपहार। आ..हा...हा कमल का उपहार, उससे क्या? कहा, ठीक। हमारे पास तो कमल बहुत हैं। हमारे नेत्र कमल, हमारा मुख कमल, हमारा श्रीकरकमल, हमारे चरणकमल, कमल पर हमारा कोई आकर्षण नहीं। यमुना जी ने कहा, ठीक तो तुम्हें मे 'कमला' अर्थात् लक्ष्मी का उपहार दे रही हूँ, रूक जाओ। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, लक्ष्मी जी तो हमारे चरणारविन्द मे निवास करती हैं **''श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या''** और हमारे वक्ष पर भी श्रीवत्सलांछन के रूप मे। कहा, ठीक है कमला का भी उपहार नहीं। फिर किसका उपहार दे रही हैं? श्रीयमुना जी ने कहा, **''कमलानि सन्ति अस्यां इति कमला राधा तां उपहरन्तीति कमलोपहाराः''** उन्होंने कहा, मैं तुम्हें श्रीराधा जी का ही उपहार दे रही हूँ। श्रीमद्वृषभानुनन्दिनी से तुम्हें मिला दूँगी मैं। वो देखो, मैं अपने तरंगायुत नाव पर बिठाकर वरषाने से श्रीराधा जी को लाई हूँ, स्वीकार करो उन्हें, मिलो उनसे, दर्शन करो उनके, ठहर जाओ। इस दृश्य को देखकर गोपियों ने कह दिया **''गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः''** श्रीराधा जी के दर्शनार्थ श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् को, भगवती यमुना जी ने अपनी तरंग की भुजाओं से चरण पकड़कर रोका। आगे का दृश्य भी बहुत रोमांचक है। गोपियों ने कहा, वो देखो बादल ने तो श्रीकृष्णचन्द्र से मित्रता ही कर ली है। प्रभु को निहारकर वह पुलकित हो उठा है। नन्हीं–नन्हीं बूँदें मानो बादल के आँसू हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को धूप न लगे इसलिए मेघ ने अपने ही शरीर का छाता बनाकर भगवान की छाया कर ली है। **''सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुदआतपत्रम्''** सबमे महत्वपूर्ण बात यह है कि ये पुलिन्द कन्याएँ आज पूर्ण हो रही हैं। कोल, भिल्ल, किरातों की सामान्य अनपढ़ कन्याएँ भी आज विमान पर चढ़ी–चढ़ी गोलोक को चली जा रही हैं। कौन सा पुण्य किया है इन भोली–भाली वनराजवल्लभा किशोरियों ने? हमे तो नहीं लगता कुछ पुण्य किया होगा। एक ही पुण्य है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीमद्चरणारविन्दों को जब भगवती श्रीराधारानी ने अपने वक्ष पर रखा और वक्षोजों का कुम्कुम् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरण मे लगा, राधा जी के वक्षोज के कुम्कुम् से मंडित गोविन्द के परमपावन श्रीमद्चरणारविन्द जब श्रीमद्वृन्दावन की घासों पर पड़े इस प्रकार से घासों पर पड़े हुए भगवान् के श्रीचरणारविन्द के कुम्कुम् जो पहले श्रीराधारानी के वक्षोज के आभूषण थे, उन्हें निहारकर वनराजवल्लभा किशोरियों के भी मन मे प्रभु के मिलन की एक कामना जगी। प्रभु के परम पावन श्रीअंग परिष्वंग का अभिलाष रूप रोग लग गया। और उसके भी कैसी पूर्ति कर सकती थीं कैसे मिल सकती थीं प्रभु से। केवल उन्होंने घास पर लगे हुए श्रीचरणारविन्द के कुम्कुम् को ही अपने मुखों, वक्षोजों और नेत्रों मे लगा लिया। इसी से इतना बड़ा पुण्यातिशय हुआ। जो तुरन्त वे अपने इस भौतिक शरीर को छोड़कर पूर्ण बनकर श्रीमद्कृष्णचन्द्र की अंग–संग की योग्यता प्राप्त करके विमानों पर चढ़ी हुई गो लोक को चली जा रही हैं। देखो,

''पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्।।''

भागवत १०/२१/१७

आज पुलिन्द्य किशोरियों ने अपनी मनोव्यथा को समाप्त कर लिया। 'पूर्णाः' वे पूर्ण हो चुकी हैं, क्योंकि **''उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन''**, **''दयिता राधा तस्याः स्तनयोः मण्डितेन आभूषणेन उरुगायस्य श्रीकृष्णस्य पदाब्जरागस्य श्रीः यस्मिन् तादृशेन कुंकुमेन तृणरूषितेन आननकुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधिं तत्समागम मनोव्यथां जहुः''** अर्थात् कृष्ण समागमं प्रापुः हो गईं वे पूर्ण और उन्होंने केवल भगवती श्रीराधा के वक्ष के आभूषण रूप और श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीचरणारविन्द मे लगे हुए श्रीकुम्कुम, जो कि

अभी–अभी श्रीवृन्दावन की घास के ऊपर लगे उन्हीं का लेप करके दिव्य–दिव्य हो गईं ये पुलिन्द्य किशोरियाँ। वो देखो, गोवर्धन कितना बड़ा भक्त है भगवान् का। श्रीगोवर्धन गिरिराज तो हरिदासों मे भी श्रेष्ठ हैं। हरिदास युधिष्ठिर, हरिदास उद्धव, हरिदास प्रह्लाद, इन तीनों से भी इनकी कक्षा बहुत ऊपर है। उद्धव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के मित्र हैं, युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण के पूज्य भी हैं, भक्त भी हैं, प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नृसिंहावतार स्वीकारा, पर ये सौभाग्य इनको भी नहीं प्राप्त हुआ, जो सौभाग्य श्रीगोवर्धन को प्राप्त हुआ और अभी प्राप्त होगा। देखो, ये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधा जी के प्रति गोवर्धन को कितना सम्मान है। प्रभु के मंगलमय श्रीचरणारविन्द के स्पर्श का प्रमोद प्राप्त करके, श्रीगोवर्धन भगवान् युगल प्रिया–प्रियतम के लिए कन्द–मूल, फल और उनके विहार के लिए गुफाओं की व्यवस्था और उनके साथ आई हुई गौओं के लिए सुन्दर हरे–हरे चारे की व्यवस्था कर रहे हैं।

''हन्तायमद्रिरबलाहरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः।।''

भागवत १०/२१/१८

सखियों! ये देखो, गोप बालकों के साथ गौओं को चराते हुए भगवान् श्रीकृष्ण मधुर वेणु बजाते हुए, आज कैसा अद्भुत चमत्कार कर रहे हैं। और ये देखो, उनके साथ भगवती श्रीराधा जी भी कितनी प्यारी लग रही हैं। श्रीकृष्ण के कन्धे पर है, गौओं के चरणों मे बाँधनेवाली डँगनी और श्रीराधा जी के कन्धे पर विराज रही है गौओं के चरणों को बाँधनेवाली गोदोहन की दोहनी दोनों ही अद्भुत लग रहे हैं। **''निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्''** और अपने मुरली निनाद से **''अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां''** आज जड़ों को चेतन बना रहे हैं और चेतनों को जड़ बना रहे हैं। इस प्रकार से सातवें श्लोक से लेकर उन्नीसवें श्लोकपर्यन्त श्रीवेणुगीत का चिन्तन करती हुईं, श्रीवेणुगीत मे प्रस्तुत श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का चिन्तन करती हुई गोपियाँ तन्मय हो गईं। **''वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः''** अर्थात् वेणुगीत से भगवान् ने गोपियों को तन्मय किया और अब चीरहरण की लीला से उन्हें चिन्मय भी कर रहे हैं।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। तृतीय पुष्प सम्पन्न।।

।। अथ चतुर्थ पुष्प प्रारम्भ।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस–
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

चीरहरण के संबन्ध मे हम पहले बहुत कुछ कह चुके। यह निर्विवाद सत्य है कि श्रीव्रजांगनाओं ने श्रीयमुना जी मे निर्वस्त्र स्नान नहीं किया। उन्होंने भगवती कात्यायनी की पूजा की यह भी श्रीकृष्णचन्द्र का एक यत्न है। प्रश्न उठ सकता है कि श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिए कात्यायनी की पूजा का क्या औचित्य है? औचित्य बहुत स्पष्ट है और उसके कई प्रकार हैं। पहला प्रकार तो यही है कि भगवती श्रीपार्वती का ही नाम है कात्यायनी **''षष्ठं कात्यायनी च''**। कात्यायनी भगवान् की योगमाया है, कात्यायनी भगवान् की परमभक्त भगवती पार्वती और जब तक भक्ति की कृपा नहीं होती तब तक जीव भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। जब उपनिषद मे भगवान् के प्राप्ति की चर्चा आती है **''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति''** वृहदारण्यक ने कह दिया कि आत्मा का दर्शन हो सकते हैं, उसमे तीन प्रक्रियाएँ करनी पड़ेंगी। वेद के महावाक्यों से आत्मा के विषय मे श्रवण करना होगा कि स्वयं अपनी ही उपपत्तियों से मनन करना होगा। फिर उसका निरन्तर बारम्बार निदिध्यासन करना होगा। **''पूर्वं श्रोतव्यः पश्चात् मन्तव्यः पश्चात् निदिध्यासितव्यः अनन्तरं द्रष्टव्यः''**, किन्तु पुनः जिज्ञासा हुई कि आत्मा द्रष्टव्य है आत्मा के दर्शन हो सकते हैं साक्षात्कार हो सकता है। यहाँ 'आत्म' शब्द परमात्मा का वाचक है, परन्तु वे परमात्मा हमको लब्धव्य कैसे होंगे? हमको प्राप्त कैसे होंगे? कैसे हम उनको प्राप्त कर सकेंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रुति ने कहा **''नायमात्मा प्रवचनेन न लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुवूंस्वाम्''** (कठो. १/२/२३) और इस श्रुति का दो बार कथन हुआ। कठोपनिषद और मुंडकोपनिषद मे भगवती श्रुति ने कहा **''अयं आत्मा प्रवचनेन न लभ्यः''** यह आत्मा अर्थात् परमात्मा प्रवचन अर्थात् वेदों के पठन–पाठन से नहीं प्राप्त होंगे। वेदों का पठन–पाठन परमात्मा की प्राप्ति का उपाय नहीं है। जानने का उपाय हो सकता है **''न मेधया''** बहुत बड़ी मेधाशक्ति से भी परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकते **''न बहुना श्रुतेन''** और निरन्तर शास्त्रों का श्रवण करने से भी परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकते, उनके दर्शन हो सकते हैं। प्रश्न हुआ कि प्राप्त कैसे होंगे? श्रुति ने कहा **''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः''** परमात्मा जिसको अपना बना लेते हैं किसी भी भाव से अपना वरण कर लेते हैं कि हमारा है, **''तेन लभ्यः''** उस सन्त के कारण परमात्मा प्राप्त होते हैं। यहाँ 'तेन' में करण मे तृतीया है **''तेन लभ्यः'' ''कर्तृकरणयोस्तृतीया''** (पा. अ. २/३/१८) तेन लभ्यः उस सन्त की कृपा से प्राप्त होते हैं। जब तक सन्त की कृपा नहीं होती तब तक परमात्मा प्राप्त नहीं होते। जैसे भगवती सीता जी यद्यपि भगवान् श्रीराम की सर्वथा अभिन्न शक्ति हैं श्रीमद्वाल्मीकि रामायण मे बारम्बार यह पक्ष कहा जा चुका। सीता जी कहती हैं **''अनन्या राघवेणाहं भाष्करेण यथा प्रभा''** और भगवान् श्रीराम भी यही कहते हैं **''अनन्या हि मया सीता भाष्करेण यथा प्रभा''**। भगवती सीता और भगवान् श्रीराम दोनों ही कह रहे हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं, सीताजी उसी प्रकार मुझसे अभिन्न हैं जिस प्रकार सूर्यनारायण से अभिन्न है उनकी प्रभा। भगवती सीता जी भी यही कहती हैं कि मैं श्रीराघव से उसी प्रकार अभिन्न हूँ जिस प्रकार से सूर्यनारायण की प्रभा सूर्यनारायण से अभिन्न है और श्रीरामचरितमानस मे भी उन्होंने **''प्रभा जाइ कहँ भानू बिहाइ। कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि**

जाइ।।'' कहकर श्रीराम जी से अपना स्वाभाविक अभेद सिद्ध कर दिया और श्रुति ने भी कहा **''रामः सीता जानकी रामचन्द्रः''** वस्तुतः श्रीराम जी ही सीता हैं और सीताजी ही श्रीराम हैं, दोनों मे कोई भेद नहीं है। एक ही परमात्मा ने दो भक्तों के अनुग्रह के लिए दो रूप धारण कर लिए। वही परमात्मा श्रीअवध मे कुमाररूप मे पुरुषरूप मे प्रकट होते हैं अर्थात् सौन्दर्यावच्छिन्न चैतन्योपहित सच्चिदानन्द के रूप मे भगवान् श्रीअवध मे प्रकट होते हैं और वही माधुर्यावच्छिन्न किंबा माधुर्यवात्सल्योभयावच्छिन्न चैतन्योपहित संविदानन्द के रूप मे श्रीमिथिला मे सीताजी के रूप मे प्रकट होते हैं अर्थात् भगवान् श्रीराम यदि सच्चिदानन्द हैं तो भगवती सीता संविदानन्द हैं। ठीक वही स्थिति यहाँ भी है कि सर्वथा अभिन्न होकर भी लीलामंच पर सीता जी भगवान् श्रीराम को तब तक नहीं प्राप्त कर पायीं जब तक उन्होंने गिरिजा जी का पूजन नहीं किया **''तेहि अवसर सीता तहँ आइ। गिरिजा पूजन जननी पठाइ।।''** श्रीगिरिजा की पूजा सीताजी के लिए आवश्यक थी क्या? आवश्यक नहीं थी, पर विधेय तो थी। क्यों? इसलिए कि भगवान् श्रीराम ज्ञानस्वरूप हैं और ज्ञान बिना श्रद्धा के प्राप्त नहीं किया जा सकता है **''श्रद्धावान् लभते ज्ञानं''** और श्रद्धा हैं भगवती पार्वती **''भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ''** इसलिए ज्ञानस्वरूप परमात्मा श्रीराम जी को प्राप्त करने के लिए श्रद्धारूपिणी पार्वतीजी की पूजा श्रीसीताजी के लिए विधेय अवश्य थी, भले ही वह आवश्यक न रही हो। अतः **''तेहि अवसर सीता तहँ आइ। गिरिजा पूजन जननी पठाइ।।''** और भगवती अत्यन्त अनुराग से पूजा करती हैं। **''पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग वर माँगा।।''** अत्यन्त अनुराग से पूजा करने के पश्चात् सीता जी ने पार्वती जी से अपने अनुरूप सुन्दर वर माँगा। अब यही परिस्थिति यहाँ भी होगी। अपने अनुरूप सुन्दर वर माँगने का तात्पर्य क्या? अनुरूप, सीता जी का अनुरूप कैसा? जैसा कि श्रीमद्भागवतम् मे श्रीलक्ष्मी जी के आनुरूप्य की चर्चा की गई है। सीता जी का भी वही आनुरूप्य है और आनुरूप्य के साथ–साथ सुभगता भी है। लक्ष्मी जी के यहाँ तो आनुरूप्य की चर्चा की है, पर सुभगता की नहीं। **''निज अनुरूप सुभग वर माँगा''** वर को मेरे अनुरूप होना चाहिए और **''शोभनाः भगाः यस्मिन्''** और शोभन रूप प्रशस्त रूप से ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य ये छहों भग प्रशस्त रूप मे जहाँ निरन्तर विराजते हों ऐसे वर की सीता जी को अपेक्षा है **''निज अनुरूप सुभग वर माँगा''**। उन्होंने पार्वती जी से यही माँगा कि मेरे वर मे सारे यही गुण होने चाहिए जो लक्ष्मी जी ने कहे, पर सुभगता अधिक। तात्पर्य यह कि सीता जी कहती हैं, मुझे वर चाहिए पर तपस्वी के साथ–साथ उसे क्रोध पर विजय प्राप्त करनी होगी। ज्ञान के साथ–साथ उसे अनासक्त रहना होगा। महत्ता के साथ–साथ उसे काम विजेता भी होना चाहिए। ईश्वरता के साथ–साथ उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता की भी अपेक्षा होनी चाहिए। मेरा वर धर्मात्मा होने के साथ–साथ जीवों पर दयालु हो, केवल धर्म से काम नहीं चलेगा, उसे **''भए प्रगट कृपाला दीनदयाला''** होना ही पड़ेगा। उसे त्याग के साथ–साथ मुमुक्षा मे आस्था रखनी होगी यश मे नहीं। पराक्रमी होने के साथ–साथ काल की भी शासन सीमा से उसे पार होना होगा और अद्वितीयता के साथ–साथ उसे गुणों के प्रति अनासक्त रहना होगा। सीता जी कहती हैं मेरे वर को चिरायुष्य के साथ–साथ शील मंगल की कला का भी समावेश करना होगा और आयु की निश्चितता भी उसकी होगी और इन दोनों के साथ–साथ सर्वमंगल भी उसे होना पड़ेगा, सर्वथा मंगल होना पड़ेगा **''मंगलं भगवान् रामो मंगलं कोसलेश्वरः। मंगलं जानकीनाथो मंगलायतनंहरिः।।''** उसके यश को भी मंगलायतन होना होगा **''मंगलायतन राम जस''**। तो यह थी उनकी अनुरूपता और अनुरूपता के साथ–साथ सुभगता भी **''निज अनुरूप सुभग वर माँगा''**। सीता जी ने कहा, ऐश्वर्य आदि भग उनमे रहने चाहिए पर

उनका दुरूपयोग नहीं होना चाहिए, वे दुष्टरूप मे न विराजमान हों। भगवान् श्रीराम के पास श्री का रहना आवश्यक है, पर उसका सदुपयोग हो उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। उनकी कामना जगन्मंगल के लिए होनी चाहिए, उनका माहात्म्य जगत् के उपकारार्थ हो। उनका पराक्रम किसी के लिए उत्पीड़क न बने। उनका प्रयास भारतीय संस्कृति और सनातनधर्म के लिए उपादान बनकर सिद्ध हों और उनकी कीर्ति एक मर्यादा का मानदण्ड बने यही है भगवान् श्रीराम जी की सुभगता, जो सीता जी को इष्ट है **''निज अनुरूप सुभग वर माँगा''** और अब भगवती सीता जी को पार्वती जी की कृपा प्राप्त हुई। यहाँ का प्रकरण बहुत रोचक है। गोस्वामी जी ने कहा कि पार्वती जी की पूजा करने पर भी श्रीसीता जी ने उस समय उनसे वरदान नहीं प्राप्त किया। अथवा, उस समय पार्वती जी सीता जी से कुछ भी नहीं बोल पाईं। क्या कारण था? सीता जी पूजा करें और पार्वती जी मौन रह जायें। इसमे कोई विशेष कारण होना ही चाहिए, क्योंकि आगे चलकर सीता जी ने ज्यों श्रीगंगाजी के प्रति अपनी पूजा की मनोरथ की मान्यता मानी। केवल इतना वाक्य सीता जी बोल पाई थीं–

''सिय सुरसरिहिं कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउब मोरी।।
पति देवर सँग कुशल बहोरी। आइ करौं जेहिं पूजा तोरी।।''

मा.२/१०३/२,३

हे माँ! मेरे मनोरथ को पूर्ण कीजिए जिससे मे सकुशल अपने पति एवं देवर के साथ वनवास यात्रा पूर्ण करके आपके तट पर आकर यहीं पर फिर आपकी पूजा कर सकूँ। इतना कहना था कि गंगा जी का बोलना–

''सुनि सिय बिनय प्रेम रस सानी।
भइ तब बिमल बारि बर बानी।।'' मा. २/१०३/४

तुरन्त गंगा जी के मुख से शब्द निकल पड़े। बोल पड़ीं गंगा जी, अरे हे श्रीरामप्रिया सीत जी! सुनिए, आपका प्रभाव संसार मे किसको नहीं ज्ञात है। आपके कृपा कटाक्ष मात्र से सामान्य व्यक्ति भी लोकपाल बन सकता है। सभी सिद्धियाँ आपकी सेवा करती हैं। आपने मुझे प्रार्थना सुनाकर मुझ पर कृपा की है और गौरव दिया है, फिर भी मैं आपको इसलिए आशीर्वाद दूँगी जिससे मेरी वाणी सफल हो जाए, क्योंकि आपके यहाँ तो सब कुछ सफल है। मेरी वाणी कुछ कहेगी तो लोगों को लगेगा कि गंगा जी सत्य बोल रही हैं। इसलिए मैं आशीर्वाद आपको दूँगी और दिया आशीर्वाद। भगवती गंगा जी ने कहा, मैं आपको आशीर्वाद देती हूँ कि प्राणनाथ और देवर के सहित चतुर्दश वर्षीय वनयात्रा पूर्ण करके आप सकुशल श्रीअयोध्या के दर्शन करेंगी। आपकी मनःकामानाएँ पूर्ण होंगी। आपका दिव्ययश संसार मे छा जाएगा।

''सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग बिदित न केही।।
लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे।।
तुम जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई।।
तदपि देबि मे देब अशीषा। सफल होन हित निज बागीशा।।''

मानस २/१०३/५, ६, ७, ८

प्राननाथ देवर सहित, कुशल कोसला आइ।
पूजहीं सब मन कामना, सुजस रहिहि जग छाइ।।

मानस २/१०३

यदि सीता जी के विनय से प्रसन्न होकर गंगा जी को बोलने मे बिलम्ब नहीं लग रहा है, तो फिर वहाँ पार्वती जी की अत्यन्त अनुराग से पूजा करने पर भी उनमे कोई प्रतिक्रिया क्यों नहीं हुई? सीता जी के समक्ष पार्वती जी ने क्यों कुछ भी नहीं कहा? उनके मौन रहने मे क्या कोई गंभीर कारण रहा होगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हुलसीहर्षवर्धन प्रभु गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने अगली पंक्ति मे तुरन्त वही प्रस्ताव किया **''एक सखी सिय संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई।।''** वस्तुतः एक सखी पार्वती जी की पूजा के समय भी सीता जी का संग छोड़कर पुष्पवाटिका देखने गई हुई थी अर्थात् एक सखी सीता जी के पूजनकाल मे भी श्रीपार्वती जी के मंदिर मे उपस्थित नहीं थी। वह सीता जी का साथ छोड़कर पुष्पवाटिका देखने चली गई थी और आज उसने सीता जी से आज्ञा भी नहीं माँगी थी स्वतः चली गई थी। प्रश्न है, कौन रही होगी एक सखी? मेरा विनम्र उत्तर यह है कि वह और कोई दूसरी नहीं वह थीं भगवती पार्वती। वे तो सखी का शरीर धारण करके भगवती मैथिली सीता जी की सेवा कर रही थीं। सेवा का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था और इस रहस्य की ध्वनि भी एक सखी शब्द से ही निकलती है। संस्कृत मे 'अकार' का अर्थ होता है वासुदेव भगवान् विष्णु और 'क' का अर्थ होता है सुख। **'अ'** का **'क'** से सप्तमी ब्यधिकरण बहुव्रीहि समास हुआ है और संज्ञा होने के कारण सप्तमी का लोप नहीं हुआ है अर्थात् **''अकारः वासुदेवः तस्मिन् ए विष्णौ वासुदेवे कं सुखं यस्मात् स एकः''** अकार पद के वाच्य भगवान् विष्णु को भी जिससे सुख प्राप्त होता है, वे हैं एक महाविष्णु परिपूर्णतम् परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीराम। भगवान् श्रीराम को देखकर विष्णु के सुख की चर्चा तो श्रीमद्रामचरितमानस मे गोस्वामी जी ने की ही है। विवाह के समय जब भगवान् श्रीराम को नारायण ने प्रेम के सहित निहारा तो वे लक्ष्मी जी के सहित तुरन्त मोहित हो गये **''हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।।''** ठीक वही बात। अतः भगवान् श्रीराम को 'एक' कहा जाता है। **''एकस्य रामस्य सखा एकसखः शिवः''** और ''एक सखस्य शिवस्य स्त्री एकसखी'' **''पुंयोगादाख्यायां''** (पा.अ. ४/१/४८) से ङीप् हुआ है। यहाँ 'एक' अर्थात् भगवान् श्रीराम के सखा हैं शिव और एक सखी भगवान् शिवजी की पत्नी हैं भगवती पार्वती, इसलिए एक सखी का अर्थ है भगवती पार्वती। सीता जी का साथ छोड़कर पुष्पवाटिका देखने गई हुई एक सखी अर्थात् पार्वती जी ने दोनों बन्धुओं को निहारा और श्रीराम–लक्ष्मण को निहारते ही भगवती पार्वती जी के हृदय मे परम पावन परिपूर्णतम् परात्पर परब्रह्म परमात्मा श्रीराम के पादारविन्द के प्रति प्रेमामृत कल्लोलिनी का समुदय हो गया और **''प्रेमविवश सीता पहँ आई''** वे सीता जी के पास आईं और उन्होंने जो श्रीराम का जो अद्भुत परिचय सुनाया, श्रीराम की रूपमाधुरी का जो अद्भुत वर्णन किया उससे सीता जी के हृदय मे श्रीराम जी के दर्शनों की उत्कण्ठा जग गई। वस्तुतः पार्वती यहाँ केवल पार्वती नहीं है। श्रीकृष्णावतार मे जो भूमिका वेणुगीतं मे बर्हापीडम् की है और वहाँ पर भी बर्हापीडम् का गान करनेवाली वंशी की है, वही भूमिका यहाँ भगवती पार्वती और उनके वचनों की है, श्रीरामावतार मे। भगवती पार्वती वंशी की भूमिका निभा रही हैं और

''देखन बाग कुँअर दोउ आए। बय किशोर सब भाँति सुहाए।।
श्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।।''

मानस १/२२६/१, २

ये दोनों चौपाइयाँ बर्हापीडम् श्लोक की भूमिका निभा रही हैं। जैसे बर्हापीडम् छन्द गाते ही श्रीव्रजांगनाओं के हृदय मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के परम पावन दर्शनों की

उत्कण्ठा जगी वे तन्मय हो गईं, उसी प्रकार यहाँ भी जब एक सखी ने **"देखन बाग कुअँर दोउ आए"** पंक्ति का प्रस्ताव किया तो सीता जी के हृदय मे भी प्रभु श्रीराम के श्रीमद्रमणीय कोटि–कोटि कन्दर्पकमनीय किशोरमूर्ति के दर्शनों की उत्कण्ठा जग गई। **"सुनि हरषीं सब सखी सयानी"** क्यों? **"सिय हिय अति उतकंठा जानी"** सीता जी के हृदय मे भगवान् के मिलन की अत्यन्त उत्कण्ठा जानकर और एक सखी के मुख से प्रभु के रूपमाधुरी का वर्णन सुनकर सभी चतुर सखियाँ प्रसन्न हो गईं। इसका दूसरा तात्पर्य और भी विचित्र है। प्रथम तात्पर्य मे भगवती श्रद्धा और दूसरे तात्पर्य मे भगवती, वस्तुतः भगवती पार्वती सन्त हैं। जीव तब तक परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता जब तक किसी सन्त की कृपा नहीं होती **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"** भगवान् श्रीराम ने भगवती पार्वती जी को अपने परिकर के रूप मे वरण कर लिया है स्वीकार कर लिया है। यहाँ 'वृणुते' का अर्थ है स्वीकरण, इसीलिए तो भगवती पार्वती जी के स्वीकारने के लिए भगवान् श्रीराम ने ही जाकर स्वयं शिवजी को विवश कर दिया। भगवती पार्वती के स्वीकरण हेतु भगवान् श्रीराम जी ने शिवजी से भीख तक माँग ली–

"अब बिनती मम सुनहु शिव, जो मो पर निज नेहू।
जाइ बियाहहु शैलजहिं, यह मोहि माँगे देहू।।"

मानस १/७५

पार्वती जी के विवाह के लिए शिवजी से भगवान् श्रीराम ने भीख भी माँगी। दानी शिरोमणि आज शिवजी से भीख माँग रहे हैं। यही तो भगवान् की प्रेम परवशता है और यही अपनी सेविका के रूप मे पार्वती जी के वरण की परिणति भी है। **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"** जिसको प्रभु वरण कर लेते हैं, अपना बना लेते हैं उसी की कृपा से भगवान् प्राप्त भी होते हैं। यहाँ 'तेन' मे करण मे तृतीया है। **"साधकतमम् करणम्"** (पा.अ. १/४/४२) अर्थात् भगवान् के मिलनरूप कार्य मे सन्त साधक नहीं प्रत्युत साधकतम होता है, अतिशयेन साधक होता है। **"क्रिया सिद्धौ व्यापाराद्यदनन्तरं विवक्ष्यते प्रकृष्टमुपकारकं कारकं सत्करण संज्ञं स्यात् क्रियायाः परिनिष्पत्तौ यदा यत्र कारकं करणं स्मृतम्।"** क्रिया के परिनिष्पत्ति के विषय मे जिस व्यापार के तुरन्त पश्चात् जो कारक विवक्षित होता है वही करण होता है, इसलिए **"तेन लभ्यः"** उसी सन्त के सहयोग से व्यक्ति भगवान् को प्राप्त कर सकता है जिस सन्त को भगवान् अपना बना लेते हैं। पार्वती जी को भगवान् ने वहाँ अपना बना लिया है। अपनी सेविका के रूप मे स्वीकार कर लिया है, इसलिए सीता जी को भगवान् की प्राप्ति के लिए उनकी पूजा करनी पड़ेगी। जब तक सन्त की कृपा नहीं होती तब तक जीव भगवान् को प्राप्त नहीं कर पाता और फिर वही सखी बोली,

"एक कहइ नृपसुत तेइ आली।
सुनि जे मुनि सँग आए काली।।"

उसी सखी को सीता जी ने आगे किया–

"चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई।
प्रीति पुरातन लखइ न कोई।।"

एक सखी ने कह दिया कि सीते! वे कोई सामान्य राजकुमार नहीं हैं–

"जिन निज रूप मोहिनी डारी।
कीन्हे स्वबश नगर नर नारी।।"

पहली बात तो ये कि वे एक सन्त के साथ आए हैं, एक आचार्य की सेवा मे हैं। विश्वामित्र जैसे परम तपस्वी महर्षि की सेवा ये उनका एक लोकमंगल मर्यादामयस्वरूप है

और दूसरी बात ये कि उन्होंने अपनी रूप की मोहिनी डालकर इस निर्गुणवादी मिथिला के भी सभी नर नारियों को अपने वश मे कर लिया–

"जिन निज रूप मोहिनी डारी।
कीन्हे स्वबश नगर नर नारी।।"

जहाँ रूप की कोई मान्यता ही नहीं थी जहाँ संसार को सागर मान करके भ्रम फैलाया जा रहा था वहाँ भी उन्होंने अपने अचिन्त्य सौन्दर्य का परचम फहराया। यही तो उनका वैशिष्ट्य है। जिस महापुरुष के मंगलमय कोटि कामकमनीय, स्वाभिरामरमणीय, घनदर्प, कन्दर्प, सौन्दर्य हृद्यनिरवद्य, सर्वथा समनिन्द्य, नीलसरोरूहश्याम, नीलनीरधरश्याम, नीलजम्बूफलश्याम, नीलदूर्वादलश्याम, नीलातिशिपुष्पश्याम, नीलकेकिगलश्याम, नीलयामुनजलश्याम, परमसुन्दर श्रीसौन्दर्यमयरूप को निहारकर नगर के नर–नारी स्वयं उनके वश मे हो गए–

"जिन निज रूप मोहिनी डारी।
कीन्हें स्वबश नगर नर नारी।।"

उन्होंने ऐसी रूप की मोहिनी डाली कि पूरी मिथिला उनके रूप की रसिक बन गई। जहाँ–तहाँ सभी लोग उनकी छवि का वर्णन कर रहे हैं–

"बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू।
अवसि देखियहिं देखन जोगू।।"

उनके दर्शन किए जायें, वे दर्शनीय हैं, उनमे दर्शन की योग्यता है।

"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः,
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।"

नेत्रवानों के नेत्र का इससे बड़ा कोई फल हो ही नहीं सकता, यदि होगा तो हम नहीं जानते। ठीक वही परिस्थिति इस समय कात्यायनी जी की है। कात्यायनी जी को श्रीकृष्णचन्द्र जी ने अपने रूप मे स्वीकारा है। वहाँ श्रीरामावतार मे पार्वती जी को अपने मित्र की पत्नी, किंबा सेवक की पत्नी अथवा, स्वामिनी के रूप मे भगवान् ने स्वीकारा। यद्यपि प्रभु के प्रति शिवजी का सेवकभाव पारमार्थिक है, प्रभु के प्रति शिवजी का स्वामिभाव और मित्रभाव ये दोनों अपारमार्थिक हैं, लीला की दृष्टि से। वस्तुतस्तु, शिवजी भगवान् श्रीराम के सेवक ही हैं और पार्वती जी भी भगवान् श्रीराम की सेविका हैं–

"तुम रघुबीर चरन अनुरागी।
कीन्हेउ प्रश्न जगत हित लागी।।"

ठीक इसी प्रकार यहाँ भी कात्यायनी भगवान् की योगमाया हैं और यही कात्यायनी भगवान् के साथ संबन्ध जोड़ने के लिए श्रीयशोदा जी के गर्भ से प्रकट हो करके उनकी छोटी बहन भी हैं–

"नन्दगोप गृहे जाता यशोदा गर्भ संभवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि बिन्ध्याचलनिवासिनी।।"

वही कात्यायनी **"अदृश्यतानुजा विष्णोः"** भगवान् की अनुजा हैं, प्यारी–प्यारी बहन हैं और परमसाध्वी, भगवद् अनुरागिणी, सन्त शिरोमणि, तो उनके सहयोग से तो भगवान् प्राप्त होंगे ही। **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"** गोपियों ने जान लिया है कि परमात्मा को प्राप्त करने के लिए हमारे पास और कोई योग्यता नहीं है। यद्यपि जिन–जिन योग्यताओं की चर्चा है

वहाँ श्रुति ने निषेध किया है। परमात्मा प्रवचन से नहीं प्राप्त होते, परमात्मा मेधा से नहीं प्राप्त हो सकते, परमात्मा श्रुति से नहीं प्राप्त हो सकते, वे तो उन्हीं सन्तों की कृपा से प्राप्त हो सकते हैं जिनको अपना बना लेते हैं। गोपियों ने उस सन्त की खोज करनी प्रारम्भ की जिसको भगवान् ने अपना बनाया, मिल गया वह सन्त, भले वह नारी रूप मे है पर सन्त हैं कात्यायनी जी। इसलिए कहते हैं **''पत्न्यः कत्य भवन् प्रभोः'' ''कतीनां समूहः कात्यं''** अनन्त–अनन्त पत्नियों के समूह को कात्य कहते हैं और **''कात्यं श्रीकृष्णः अयते यया''** उन अनन्त पत्नियों के समूह को श्रीकृष्णजी जिनके माध्यम से प्राप्त करेंगे वो होंगी कात्यायनी। अथवा, **''कतीनाम् समूह''** अथवा, **''कतीनाम् अयम् कात्यः श्रीकृष्णः''** अनन्त–अनन्त प्रियाओं के प्रेमभाजन श्रीकृष्ण को ही कात्य कहते हैं। **''कात्यं श्रीकृष्णं आययति इति कात्यायनी''** और उन कात्य श्रीकृष्ण को जो प्राप्त कराने मे विशिष्ट भूमिका निभाती है उस योगमाया को कहते हैं कात्यायनी। अतएव श्रुति ने केनोपनिषद मे ये स्पष्ट किया कि जब भगवान् ने अग्नि, वायु के गर्व को समाप्त कर दिया, अग्नि एक तिनका जला न सके और वायु एक तिनका उड़ा न सके, तब कौन हैं वह यक्ष? जब इन्द्र आए तो इन्द्र को देखते ही यक्ष तिरोधान हो गया, छिप गया। वो यक्ष कोई और नहीं है भगवान् श्रीरामाभिन्न श्रीकृष्ण हैं क्योंकि **''ईः सीता अक्षी नेत्रं यस्य स यक्षः''** सीता जी ही नेत्रवत् प्रिय हैं जिन्हें अथवा **''ईः राधा अक्षी नेत्रं यस्य स यक्षः श्रीकृष्णः''** तो यक्ष पद श्रीराम और श्रीकृष्ण इन दोनों के लिए ही अभिप्रेत है। इन्द्र को देखकर जब प्रभु अदृश्य हो गए उसी समय उमा प्रकट हुई और उन्होंने इन्द्र को ब्रह्मतत्त्व समझाया। इन्द्र ब्रह्मवेत्ताओं मे प्रथम हैं, इसीलिए स्वस्तिवाचन मे इन्द्र का प्रथम नाम आया। तात्पर्य यह है कि उमा सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या की उपदेशिका हैं। ब्रह्म को साक्षात् कराने मे उनका सर्वप्रथम योगदान है और उन्हीं उमा को यहाँ कात्यायनी कहा जा रहा है। इसलिए गोपियों ने कात्यायनी की पूजा की। और यदि गंभीरता से विचार करें तो कात्यायनी पद श्रीराधा जी ही के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। **''कात्यायनी कतीनाम् समूहः कात्यं अनन्त गोपीयूथ समूहः तं आययति श्रीकृष्ण पार्श्वे गमयति इति कात्यायनी''** अनन्त–अनन्त गोपियों के समूह को कात्य कहते हैं और वह कात्य जिसकी कृपा से श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द का सान्निध्य प्राप्त कर सके वह कात्यायनी हैं भगवती राधा। वे ही हैं महामाया, वे ही हैं महायोगिनी, वे ही हैं अधीश्वरी **''अधिकृतः ईश्वरो यया''** सभी के ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्र पर जिनका अधिकार है वही हैं श्रीकृष्ण की माँ याने शक्ति जिसे यहाँ पाँच संबोधन दिए गए।

''कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि
नंदगोपसुतं देविं पति मे कुरु ते नमः।।''

अर्थात् हे कात्यायनि! हे महामाये! हे महायोगिनि! हे अधीश्वरि! हे देवि! हे मे! **''नन्दगोपसुतं पतिं कुरु''**। 'माँ' यह राधाजी का नाम है और उनके पाँच विशेषण दिए गए। आप कात्यायनी हैं, संपूर्ण गोपीसमूह को श्रीकृष्णचन्द्रजी के श्रीचरणों मे ले जाने के लिए आप घटक की भूमिका निभाती हैं। आप महामाया, महायोगिनी, अधीश्वरी और देवी भी हैं, इसलिए नन्द गोपसुत नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण को हमारे पति के रूप मे प्रस्तुत कीजिए। इन्हीं राधा जी के पाँच संबोधनों के आधार पर ही रासपंचाध्यायी की शुकाचार्य जी ने परम पावन परिकल्पना की है। अतएव इनके लिए भद्रकाली शब्द का भी प्रयोग किया है शुकाचार्य जी ने **''भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः''** 'भद्रकाली' शब्द भगवती काली के लिए नहीं **''भद्रं कल्याणकारकं कं सुखं यस्याः सा भद्रका''** अथवा **''भद्रं कल्याणकरं कं सुखं यासां ताः भद्रकाः''**। **''भद्रकाः आल्यः यस्याः सा भद्रकाली''** अर्थात् संस्कृत मे भद्र का अर्थ

है कल्याण और 'क' का अर्थ है सुख अर्थात् जिनका सुख जगत् के कल्याण के लिए है, जगत् का कल्याण ही जिनका सुख है ऐसी भद्रका जगत्कल्याण को सुख माननेवाली आल्यः सखियाँ जिनकी हैं। जिनकी सखियाँ जगत् के कल्याण को ही अपना सुख मानती हैं, ऐसी राधा जी की पूजा की। **''भद्रकालीं समानर्चुः''** उन्होंने 'भूयात्' शब्द का प्रयोग करके आशीर्लिङ् मे अपनी अभिव्यक्ति की कि, नन्दनन्दन हमारे पति बनें। इस प्रकार की आप शुभकामना दीजिए आप हमे आशीर्वाद दीजिए आपके आशीर्वाद के बिना नन्दनन्दन हमारे पति नहीं बन सकते। और इसी अवधारणा के साथ श्रीव्रजांगनाओं ने अपने वस्त्रों को पूर्व की भाँति यमुना के तीर पर रखा इसका तात्पर्य यही था कि गोपियाँ निर्वस्त्र स्नान के उद्देश्य से वहाँ नहीं उपस्थित हुई थीं। वे रात्रि के पहने हुए वस्त्रों के साथ स्नान करने के लिए गईं और यमुना के तट पर अपनी ऊपर की ओढ़नी और स्नान के पश्चात् पहने जानेवाले शुद्ध वस्त्रों को रख दिया।

''नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा।।''

भागवत १०/२२/७

गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण का गान करती हुईं प्रेम से यमुना जी मे विहार करने लगीं। कदाचित् राधा जी को और भगवान् श्रीकृष्णजी को भी गोपियों की यह चेष्टा नहीं भाई। उनका तात्पर्य यह था कि यमुना जी के जल मे विहार करने का गोपियों को अधिकार नहीं है, क्योंकि यमुनाजी आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नी होंगी कालिन्दी। उनके साथ विहार करने का अधिकार तो भगवान् श्रीकृष्ण को है **''मोह न नारि नारि के रूपा''** इसलिए थोड़ा सा व्यतिक्रम आया और भगवान् को भी ये लग गया कि गोपियाँ अपराध कर रही हैं, परन्तु अपराध का बोध नहीं हो रहा है। अब इनको इस अपराध से कैसे बचाया जा सके? कैसे ये इस जलविहार को छोड़ सकें? अनन्तकालीन रासलीला के लिए इनके शरीर को कैसे दिव्य किया जा सके? यह भगवान् का विचित्र ही एक यत्न है। अद्भुत यत्न है भगवान् का, इसलिए इस यत्न की परिणति के रूप मे यहाँ अपने मित्रों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित हो रहे हैं। स्पष्ट कहते हैं भागवत्कार–

''भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये।।''

भागवत १०/२२/८

अभिप्राय का तात्पर्य क्या है? गोपियों के संकल्प का अभिप्राय भगवान् ने समझ लिया। भगवान् को भी यह चिन्ता है कि मेरी भगवत्ता का मैं आज यहाँ प्रयोग करूँ, किन्तु मैंने निवेदन किया कि श्रीकृष्ण को भगवान् इसलिए कहा जाता है कि **''प्रशस्तः भगः भक्त मंगलकारी यत्नः यस्य''** जिनका यत्न निरन्तर भक्तों के मंगल के लिए ही होता है, उन्हीं श्रीकृष्ण को भगवान् कहते हैं। भगवान् का कोई भी प्रयास भक्त के अमंगल के लिए नहीं होता। जैसा कि आप लोग जानते हैं श्रीमद्भागवतम् के प्रथम श्लोक मे भी भगवान् को अभिज्ञ कहा गया है **''जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्''** 'अर्थेषु अभिज्ञः' भगवान् भक्तों के मनोरथ रूप प्रयोजनों के विषय मे अभिज्ञ हैं **''अभीष्टं जानाति इति अभिज्ञः''** भगवान् जानते हैं कि भक्त का कैसे अभीष्ट सिद्ध हो। मैं कौन सी वस्तु दूँ जिससे भक्त का अभीष्ट सिद्ध हो जाए। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि भगवान् मे और शिवजी मे एक अन्तर है। शिवजी देने के लिए सब कुछ दे डालते हैं पर देते समय शिवजी को यह ध्यान नहीं रहता कि सेवक को वही वस्तु दी जाए जिससे उसका अकल्याण न हो जाए। वहाँ तो बिल्वपत्र समर्पित करते हैं ओर बिल्वपत्र मे काँटे रहते ही हैं

और भगवान् अपने भक्त को जब देते हैं तो तुलसीदल के साथ वस्तु देते हैं, तुलसीदल मे कभी काँटे नहीं हुआ करते। शिवजी ने वृकासुर को वरदान दिया और वरदान के अनुसार वह जिसके शिर पर हाथ रखेगा वह जल जाएगा। अन्त मे वह वरदान शिवजी के लिए ही एक संकट बन गया। उसने सोचा कि पहला प्रयोग मैं शिवजी पर ही करूँ। उनके शिर पर हाथ रखकर उन्हें भस्म करके मैं पार्वती जी को प्राप्त कर लूँ। वो तो भगवान् की कृपा न होती तो शिवजी के संकट समाधान का कोई सूत्र ही नहीं निकल रहा था। दूर–दूर तक शंकर जी के संकट के समाधान की कोई आशा किरण नहीं दिख रही थी। भगवान् ने ही मायावटु का शरीर धारण करके वृकासुर को मोहित किया और उससे उसी के शिर पर उसका ही हाथ रखने के लिए विवश किया, जिससे वह स्वयं भस्म हो गया। तात्पर्य यही है कि भगवान् भक्तों के अभीष्ट का पूर्ण ध्यान रखते हैं। माया से मोहित होकर श्रीनारद जी ने कहा कि, प्रभु! मुझे अपना रूप दे दीजिए। क्या करोगे, मेरा रूप लेकर? नारदजी ने कहा, और किसी प्रकार से मैं उसको अर्थात् अपने पूर्व निश्चित पत्नी को नहीं प्राप्त कर सकूँगा।

''आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहीं पावौं ओही।।''

मानस १/१३२/६

भगवान् चाहते तो शिवजी की भाँति उनको अपना रूप दे देते, परन्तु वे जानते थे कि मेरा रूप प्राप्त करके नारद का अकल्याण हो जाएगा। उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि नारद आज माया से ग्रस्त हो चुके हैं। इन्हें वही रूप मुझे देना चाहिए जिससे इनका अभीष्ट सिद्ध हो अर्थात् माया के इस कठोर यातनात्मक संकट से मुक्त हो सके, इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा–

''मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना।।''

मानस १/१३३/७

अर्थात् कृपानिधान भगवान् ने मुनि के हित के कारण उनको वही रूप दिया वही कुरूप दिया जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। जिसका बखान नहीं किया जा सकता। अरे! दिया कुरूप और उसका बखान किया जाएगा। क्या कुरूप मे भी कोई सौन्दर्य छिपा है? हाँ छिपा है, बाहर से वो लग रहा है कुरूप और भीतर से उसके समान कोई रूप ही नहीं हो सकता। कारण कि जिसके कारण नारदजी का बहुत बड़ा संकट टल गया हो वह कुत्सित रूप हो कैसे सकता है? अतएव गोस्वामी जी ने कहा, इतना सुन्दर है वह उसका बखान मैं नहीं कर पा रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि भगवान् ने विचार किया कि, नारद को मुझे वानर का रूप देना चाहिए। क्यों? क्योंकि वानर सन्त हैं और जब नारद को सन्त का रूप मिलेगा तब वे माया की यातना से बच जायेंगे, क्योंकि सन्त के सामने माया नहीं निहारती। सन्त को वह अपना पुत्र मानती है और कोई भी माँ अपने पुत्र को सताती नहीं है। नारद परमवैष्णव हैं संयोगवशात् इन्हें माया का दण्ड मिल रहा है। इन्हें माया का कोपभाजन बनना पड़ रहा है, इसीलिए उन्होंने नारदजी को वानर का रूप दे दिया। दूसरा एक और मंगलमय अभिप्राय था। ये वानरस्वरूप हनुमानजी का स्वरूप है ''वानराणामधीशं, वानराकारविग्रह पुरारी'' और हनुमान् जी परमभागवत् हैं–

**''हनुमान सम नहीं बड़भागी।
नहीं कोउ राम चरण अनुरागी।।''**

मानस ७/५०/८.

तो यदि उनके समान रूप मिल जाएगा नारद को तो निश्चित् ही माया का दण्ड समाप्त हो जाएगा। पुण्य प्राप्त होगा नारदजी को, भले इस रूप के योजना के परिणामस्वरूप प्रभु को शाप स्वीकार करना पड़ा हो। वह शाप स्वीकार करते हुए भी प्रभु ने भक्त का अभीष्ट नष्ट होने नहीं दिया। यही उनका मंगलमयस्वरूप है यही उनका यत्न है, यही उस यत्न का प्राशस्त्य है कि भगवान् निरन्तर ऐसा ही प्रयास करते रहते हैं, ऐसा ही यत्न करते रहते हैं जिस यत्न से भक्त का निरन्तर मंगल होता रहे। गोपियों के प्रति भी भगवान् यही यत्न कर रहे है। गोपियाँ अपराध बोध नहीं कर रही हैं। वे आई थीं अवभृथ स्नान करने के लिए, पर जल मे विहार करने लगीं। अब तक तो लोग यही सोचते रहे हैं कि गोपियाँ निर्वस्त्र स्नान कर रही थीं, इसलिए भगवान् को हस्तक्षेप करना पड़ा, पर यह धारणा सत्य से कोसों दूर है, क्योंकि भागवत् जी के किसी भी वाक्य से यह ध्वनित् नहीं को पाता कि गोपियाँ वस्त्रहीन होकर जल मे स्नान कर रही थीं। वहाँ तो **''नद्याः तीरे पूर्ववत् वासांसि निक्षिप्य''** तो वासांसि का अर्थ यह क्यों लगाया जाए कि पहने हुए वस्त्र ही उन्होंने निकालकर रख दिए थे? वस्तुतः वेदव्यास जी ने 'वासांसि' में बहुवचन का प्रयोग करके आदरार्थ की सूचना देते हुए यह सूचना दी है कि गोपियों ने आदरणीय अर्थात् धुले हुए स्नान के पश्चात् पूजाकर्म में धारण करने योग्य वस्त्रों को श्रीयमुना जी के तट पर पधरा दिया, और जिन वस्त्रों को धारण करके शयन किया था उन्हीं रात्रिकालीन वस्त्रों को धारण किए हुए व्रजांगनायें यमुना जी में स्नान करने लगीं। इसी अभिप्राय से इस प्रकरण में वस्त्र शब्द के लिए वेदव्यास जी ने बहुवचान्त प्रयोग किया है। यथा – ''वासांसि कृष्णं गायन्त्यो'' (भागवत १०/२२/७) ''तासां वासांस्युपादाय'' (भागवत १०/२२/६) ''देहि वासांसि धर्मज्ञ'' (भागवत १०/२२/१५) ''अत्रागत्य स्ववासांसि'' (भागवत १०/२२/१६) ''स्कन्धे निधाय वासांसि'' (भागवत १०/२२/१८) ''वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्'' (भागवत १०/२२/२१) ''वस्त्राणि चैवापहृतानि'' (भागवत १०/२२/२२) इस प्रसंग में छः बार 'वासांसि' और एक बार 'वस्त्राणि' का प्रयोग करके वेदव्यास जी ने स्पष्ट रूप से दो बातों का संकेत करना चाहा है, प्रथम तो यह कि इस लीला के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के पाँच भौति शरीर को रस–रक्त–मांस–मज्जा–मेद्य–अस्थि और शुक्र नामक सातों धातुओं से अतीत पावन और दिव्य बताना चाहते हैं। और द्वितीय भूमिका में उन्हें भूरादि सातों लोकों की परिधियों से ऊपर उठाकर उनके शरीरों को अलौकिक बताना चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी गोपियों के उस कर्म की सिद्धि के लिए उपस्थित हुए। एक और सुन्दर यत्न किया अपने साथ वयस्य बालकों को ले आए। बालकों को लाने का तात्पर्य क्या था? गोपियों से एक पाप हो गया है यमुना जलविहार का, क्योंकि इनके व्रत की आज पूर्णता की तिथि थी। यह यज्ञात्मक व्रत था इसमे अवभृथ स्नान मे विहार का कोई औचित्य नहीं होता और वो भी यमुना जी में विहार। यमुनाजी अपने सपत्नियों का विहार वहाँ नहीं सह सकतीं **''मोह न नारि नारि के रूपा''**। इस पाप से गोपियों को बचाया कैसे जाए? इसलिए भगवान् 'वयस्यैः' अपने साथ बालकों को ले आए। वे बालक कौन हैं? वे सन्त हैं। हम कहा करते हैं कि एक बार किसी ज्योतिषी ने हमारी कुण्डली बनाने का प्रस्ताव किया। हमने कहा, कितने जन्म की कुण्डली बनाओगे? ज्योतिषी ने कहा, एक जन्म की। हमनें ज्योतिषी को सहजतः उत्तर दिया कि तीन जन्मों की कुण्डली तो हम जानते हैं अब तुम चौथी बना सको तो बना लेना। ज्योतिषी को आश्चर्य हुआ। तीन जन्म की कुण्डली? कहा, हाँ। कौन से युग मे? हमने कहा–

''त्रेता में वानर भए, द्वापर मे भए ग्वाल।
कलियुग मे साधु भए, तिलक छाप अरुमाल।।''

हम त्रेता के वानर, द्वापर के ग्वालबाल और कलियुग के सन्त हैं। आनन्द है, सब प्रकार से आनन्द है सब प्रकार से चकाचक है। किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं है। **''तस्मै कस्मै न रोचते''** आज भी सन्त वेष का क्या आनन्द है कि जो वस्तु गृहस्थ अपने प्यारे–प्यारे परिजनों को भी नहीं अर्पित करता, सन्त के आने पर वह धर्मभिरूता के कारण ही सही, प्रेम से सन्तों को अर्पित कर देता है। ये तो यहाँ आनन्द है। तो ये सन्त भगवान् श्रीकृष्ण के साथ आए हुए ग्वालबाल ये त्रेता के वानर हैं जो भगवान् को बहुत प्रिय हैं। भगवान् ने वानरों के प्रति अपनी प्रियता का वर्णन करते हुए कहा कि–

''तुम अति कीन्ह मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई।।
ताते तुम मोहि अति प्रिय लागे। मम हित लागी भवन सुख त्यागे।।''

मानस ७/१६/४, ५

हे वानर मित्रों! आपने हमारी बड़ी सेवा की है। आपके मुख पर मैं किस प्रकार से बड़ाई करूँ? इसीलिए आप सब मुझे बहुत प्रिय लगते हैं कि मेरे कारण आपने अपने घरों और सुखों को छोड़ा है। पहले भी भगवान् वानरों से कह चुके हैं कि–

''मोहि सहित शुभ कीरति। तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।।
संसार सिंधु अपार पार। प्रयास बिनु नर पाइहैं।।''

मानस ६/१०६/६

वे ही वानर यहाँ ग्वाल हैं और टीकाकारों के मत मे तो पूतना ने जिन्हें मार डाला था, वे फिर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का साहचर्य प्राप्त करने के लिए श्रीव्रज मे जन्म लिए। वही खेल रहे हैं भगवान् के साथ। तो भगवान् ने सोचा कि गोपियों के प्रायश्चित के लिए सन्तों का होना आवश्यक है, सन्तों का दर्शन आवश्यक है।

''शरदातप निशि शशि अपहरई। सन्त दरस जिमि पातक जरई।।''

मानस ४/११७/६

सन्तों के दर्शन से पाप नष्ट हो जाते हैं, इसलिए गोपियों के पाप को नष्ट करने के लिए भगवान् कृष्ण सन्त बालकों को अपने साथ लाये।

''गंगा पापं शशि तापं दैन्यं कल्पतरूस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च हन्ति साधु समागमः।।''

गंगा जी एकमात्र जीवों के पाप को नष्ट करती हैं, चन्द्रमा जीवों के ताप को नष्ट करते हैं और कल्पतरू जीव के दीनताजन्य अभाव को नष्ट करता है, पर सन्त तो एक साथ तीनों को नष्ट कर देते हैं। इसलिए सन्त मे एक साथ गंगा, चन्द्रमा और कल्पतरू इन तीनों के गुण उपस्थित होते हैं। आज गोपियों के समक्ष भगवान् अपने बालसन्तों के स्वरूप मे एक साथ तीन–तीन विशिष्ट विभूतियों को प्रस्तुत कर रहे थे। भगवान् ने कहा, गोपियों! आपने केवल यमुनाजी मे स्नान किया गंगाजी के कभी दर्शन नहीं किए, तो लीजिए गंगा जी के दर्शन कीजिए। इनसे आपके अनन्तकालीन पाप नष्ट होंगे। प्रातःकाल आप चन्द्रमा के दर्शन कीजिए, जिससे आपके एक मास तक कठोर व्रत करने का ताप नष्ट हो जाएगा और लीजिए कल्पवृक्ष के दर्शन कीजिए जिससे आपकी सारी मनःकामनाएँ पूर्ण हों। दैन्य समाप्त हो जाए आप बन जायेंगी अब स्वामिनी। अब आपमे दीनता नहीं रहेगी इसलिए **''वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये''** भगवान् ने दोनों कृपायें कर दीं। कात्यायनी जैसी परमसन्तशिरोमणि का पूजन करवाया और यह कात्यायनी दोनों पक्ष मे

ठीक है चाहे वह भगवान् की महामाया रही हो, किंबा राधारानी। दोनों ही पक्षों मे कात्यायनी जी का पूजन गोपियों के लिए मंगलमय है। यह भगवान् का बड़ा अद्‌भुत प्रयास है। और द्वितीय यत्न है किसी प्रकार इन्हें सन्तों से मिला दिया जाए। इस प्रकार दोनों कोटि के सन्त उपस्थित किये। भगवान् ने साधुओं का भी दर्शन कराया सन्त का भी दर्शन कराया। कात्यायनी जी सन्त हैं और ये बालक साधु हैं, दोनों का दर्शन करा दिया और दोनों दर्शनों से गोपियों को धन्य करा दिया। साधक और सिद्ध दोनों कोटि के सन्त के दर्शन गोपियों को हो गए। अब भगवान् की मिलन मे कोई बाधा नहीं। मिलन नित्य हो जाए इसमे शरीर बाधक न बने, इसलिए **''तासां वासांस्युपादाय''** उनके उपवस्त्रों को भी भगवान् ने ले लिया और **''नीपमारुह्य सत्वरम्''** और कदम्ब पर चढ़ गए। यहाँ नीप का प्रयोग करके एक बात कहना चाह रहे हैं वेदव्यास जी और शुकाचार्य जी भी कि नीप पर इसलिए वस्त्रों को ले गए जिससे गोपियों की जो रही सही वासना है वो भी समाप्त हो जाए। **''नीचाः वासनाः पिबति इति नीपः''** जो नीच वासना को समाप्त कर देता है वह है नीप।

''उर कछु प्रथम वासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।''

मानस ५/४६/६

और अब गोपियों को भगवान् के श्रीचरणारविन्द मे आने से कौन रोकेगा? भगवान् ने प्रेम से कह दिया कि अब आ जाओ और अपने वस्त्र ले जाओ। इसका तात्पर्य क्या है? प्रसाद आकर लिया जाता है अब यह तुम्हारे शरीररूप वस्त्र मेरे प्रसादस्वरूप हो गए हैं। **''प्रसादे सर्व दुखानां हानिरस्योपजायते''** अब इन्हें प्रसाद मानकर ले जाओ और प्रसाद प्राप्त करने पर ही प्रासाद प्राप्त हो पाता है। आपको अब प्रासाद प्राप्त होनेवाला है सम्मान का, प्रतिष्ठा का, कीर्ति का, वैभव का और सौभाग्य का। अतः इसके पहले आपको प्रसाद लेना ही होगा। हे अबलाओं! अब आओ और अपने–अपने वस्त्रों को ले जाओ। यह भी भगवान् का एक विचित्र यत्न है। गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करती हैं। **''आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा''** आज्ञा ही सबसे बड़ी सेवा होती है। **''आज्ञा गुरुणां अविचारणीया''** गुरुजनों की आज्ञा पर विचार नहीं किया जाता और भगवान् श्रीकृष्ण तो जगद्‌गुरु हैं, **''कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुं''**। यदि उनकी आज्ञा पर गोपियाँ विचार करेंगी तो भी पाप लगेगा। इसलिए गोपियाँ अब ऐसी भूल नहीं करेंगी। गोपियाँ प्रेम से आ रही हैं

''ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः।।''

भागवत १०/२२/१४

गोपियाँ जान गई हैं कि भगवान् **''शास्त्रयोनित्वात्''** सर्वशास्त्रयोनिस्वरूप हैं। संपूर्ण शास्त्रों के आकार हैं और अब भगवान् हमारे हृदय मे आ चुके हैं, उन्हें कोई देख न ले इसलिए **''पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य''** अपने हृदय मे प्रकट हो रहे सर्वशास्त्रयोनि भगवान् को गोपियों ने दोनों हाथों से ढ़क लिया, कोई देख ने ले मेरे प्रभु को और उपस्थित हुईं। भगवान् ने कहा, कोई बात नहीं यहाँ तो सब सन्त ही हैं। यहाँ कोई विजातीय नहीं है, सब सजातीय हैं। सजातियों को मेरे दर्शन से नहीं रोकना चाहिए। दर्शन करने दीजिए, देख लेने दीजिए सबको। गोपियों के हृदय मे भगवान् कैसे विराजमान हो रहे हैं। सनातनधर्म के गोप्ता, गोपियों के हृदय मे कैसे विराजमान हो रहे हैं, इस दृश्य को सब लोग देखें। इसलिए भगवान् ने कहा, आप अपने दोनों हाथों को जोड़कर शिर पर रखें और प्रणाम

करें। ये तो आपने देवता का हेलन किया है। देवता कौन हैं? **"यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्"** भगवान् ने कहा, **"धृतव्रता यूयं अपः अलंव्यगाहत"** व्रत धारण करके भी आप लोगों ने जल मे बहुत देर तक स्नान किया अवभृथ स्नान की ये मर्यादा नहीं है। इसके कारण 'विवस्त्राः' आपके जल मे विहार करने के कारण आपके वस्त्र भी इतस्ततः हो गए हैं। **"व्यस्तानि व्रस्त्राणि यासां ताः विवसत्राः"** आपके वस्त्र अस्त–व्यस्त हो गए हैं। इसलिए अब तो इस पाप का प्रायश्चित करना पड़ेगा। कौन सा प्रायश्चित करें? तो भगवान् ने कहा, 'बध्वांजलिं' हाथ जोड़ लीजिए। क्या करें? बोले, 'मूर्ध्नि' उनको शिर पर ले आइए, क्योंकि शाप, पाप शिर पर आते हैं। अब क्या करें? 'अपनुत्तयेंऽहसः' क्यों ऐसा करें? बोले, 'अंहसः अपनुत्तये' पाप को नष्ट करने के लिए जो आपने यमुनाजी का और देव अर्थात् मुझ देवाधिदेव श्रीकृष्ण का अपमान किया है इसलिए। फिर क्या करें? बोले, शिर को नीचे करके प्रणाम कीजिए **"कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्"** फिर अपने वस्त्रों को विश्वासपूर्वक देखिए और विश्वस्त वस्त्रों को धारण कीजिए। 'प्रगृह्यतां' विश्वस्त वस्त्रों को देखिए, क्योंकि इस शरीर पर किसी का विश्वास नहीं होता और अब मैं विश्वास देकर ये शरीर दे रहा हूँ कि 'यावच्चन्द्रदिवाकरो' रासलीला चलेगी तब तक इन शरीरों का नाश नहीं होगा, ये दिव्य हो चुके हैं। ऐसा गोपियों के शरीर मे दिव्यता का भगवान् का यह यत्न। इतना सुन्दर यत्न क्या कभी देखा गया? प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए यत्न करता है अपनी सुविधाओं की संरक्षा के लिए यत्न करता है, किन्तु भगवान् कहते हैं, मेरा यत्न तो अपने भक्तों के लिए होता है।

**"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपाषते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।"**

गीता ६/२२

जो अन्य आश्रयों का त्याग करके मेरी उपासना करते हैं, मेरा भजन करते हैं, उन नित्य और अभीष्ट मे युक्त भक्तों के योगक्षेम का वहन मैं करता हूँ। भगवान् गोपियों के लिए योग का भी वहन कर रहे हैं, क्षेम का भी। **"अलभ्य लाभो योगः"** जो कृष्ण किसी को नहीं प्राप्त होंगे, उनका लाभ गोपियों को हो रहा है और शरीर की नित्यता के कारण अब **"लब्धस्य रक्षणं क्षेमं"** अब निरन्तर इस परम उपलब्धि स्वरूप श्रीकृष्ण भगवान् का रक्षण भी होता रहेगा। अब गोपियों से कभी भगवान् श्रीकृष्ण दूर नहीं होंगे। हम कह चुके हैं कि जीव के उपाय भी भगवान् हैं और जीव के उपेय भी भगवान् हैं दोनों भगवान् ही हैं। उपाय कितना सुन्दर, अपनी प्राप्ति का उपाय भी भगवान् ही इन्हें बताते हैं। भरत जी ने यही तो कहा कि प्रभु आप मुझे वह उपाय बताइए कि जिससे मैं चौदह वर्षों की अवधि को पूर्ण करके स्वस्थ शरीर से एक बार फिर आपके दर्शन कर सकूँ

**"जेहि उपाय पुनि पाय जन देखै दीनदयाल।
सो सिख देइय अबधि लगि कोसलपाल कृपाल।।"**

मानस २/३१३.

यही है भगवान् की प्राप्ति का उपाय। गोपियों को धन्य कर दिया भगवान् ने और इतने प्रभावित और प्रसन्न हुए व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण कि गोपियों के वस्त्रों को अपने कन्धे पर रख लिया **"स्कन्धे निधाय"**। मानो भगवान् ने कहा कि अब आपका भार हम अपने कन्धे पर ले रहे हैं। हमारे कन्धे बहुत सुदृढ़ हैं। हम दृढ़स्कन्ध हैं, इन कन्धों को कोई तोड़

नहीं सकता। दशकन्धर के कन्धरों को तोड़ करके हमनें इन कन्धों को बहुत स्वस्थ कर लिया है। इसलिए भगवान् ने **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** यहाँ द्विवचन होने पर भी विवक्षा होने से एकवचन हुआ है। **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** अर्थात् भगवान् कह रहे हैं कि मैं अनन्त हूँ और मेरे अनन्त रूप हैं तथा आप भी अनन्त हैं। गोपियों ने कहा कि, आप हमारे वस्त्रों को कहाँ ले जा रहे हैं? भगवान् ने कहा, अपने कन्धे पर। गोपियों ने कहा, हम तो अनन्त हैं, अनगिनत हैं तो आप अकेले एक कन्धें पर हमारा भार कैसे स्वीकारेंगे? कैसे हमे विश्वास होगा? तो भगवान् ने कहा, तब मेरे भी अनन्त कन्धे हैं। यदि तुम लोगों की गिनती नहीं तो मेरे कन्धों की भी गिनती नहीं है। इसलिए जितनी गोपियाँ हैं, उनकी रक्षा के लिए मेरे उतने ही स्कन्ध होंगे। जैसे **''कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः''** जितनी गोपियाँ हैं उतने भगवान् प्रकट हुए। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं कि तुम जितनी मात्रा मे हो तुम्हारी रक्षा के लिए उतने ही उतने कन्धे प्रकट हो जायेंगे, आप चिन्ता मत करो। इसलिए जाति के अभिप्राय से एकवचन का प्रयोग किया। **''जातावेकवचनं''** जैसे पाणिनि स्वयं **''अचोऽन्त्यादि टि''** (पा. आ.१/१/६४) सूत्र मे 'अचः' शब्द के जाति मे एकवचन का प्रयोग कर रहे हैं अर्थात् समस्त **''अच्त्वावच्छिन्न''** को यदि अच् कहेंगे यदि व्यक्ति मे बहुवचन का प्रयोग करते तो सूत्र मे एक अक्षर बढ़ जाता। **''अचोऽन्त्यादि टि''** (पा. आ.१/१/६४) और **''अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः''** अर्धमात्रा के लाघव से यदि वैयाकरण पुत्र का उत्सव मानते हैं तो यहाँ तो एक अक्षर और बढ़ रहा था। इसलिए भगवान् पाणिनि ने 'अचः' मे जाति का प्रयोग किया। श्रुति मे **''न ब्राह्मणं हन्यात्''** मे जाति मे एकवचन का प्रयोग हुआ है। **''ब्राह्मणत्वावच्छिन्न''** को नहीं मारना। इसलिए यहाँ बहुत होने पर भी **''स्कन्धे निधाय वासांसि''** 'स्कन्धत्वावच्छिन्न' मे वस्त्रों को धारण किया अर्थात् अनेक कन्धे पर वस्त्रों को धारण किया। यहाँ एकवचन होने पर भी 'वासांसि' में एकवचन का प्रयोग नहीं हुआ, क्योंकि वहाँ अवच्छेदक एक ही है स्कन्धत्व और यहाँ के अवच्छेदक भिन्न–भिन्न हो चुके हैं, क्योंकि किसी का वस्त्र नीला है, किसी का पीला है, किसी का लाल है किसी का श्वेत है। इसलिए विशेषणों के कारण यहाँ के अवच्छेदक भिन्न हो गये हैं। अतः 'वासांसि' भिन्न–भिन्न अवच्छेदकों से युक्त वस्त्रों को स्कन्ध पर रखकर भगवान् प्रेम से कह रहे हैं कि अब आप अपना वस्त्र ले जाइए। कितना प्यारा यत्न है उनका। भगवान् ने कहा, सिद्ध होकर अब आप व्रज को जाइए **''याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः''**(भागवत १०/२/२७)। यत्न कितना सुन्दर है। क्या परिणति होगी इस यत्न की? भगवान् ने कहा, अब यह यत्न अमोघ होगा, क्योंकि 'मया इमा' आप सब लोग **''मया रंस्यथ''** मेरे साथ रमण करेंगी। अथवा, **''मया रंस्यथ''** भगवती राधा जी के साथ, आप मुझसे रमण करेंगी अर्थात् राधा जी आपसे भिन्न नहीं होंगी, क्योंकि आप क्षपा हैं **''क्षपयन्ति इति क्षपाः''** अब आप संपूर्ण पापों तापों को नष्ट करने मे समर्थ हो चुकी हैं। इस प्रकार प्रशस्त यत्न होने से यहाँ भगवान् कहा जा रहा है। **''भगः श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिषु''** अब छठा अर्थ। 'भग' का अर्थ होता है अर्क अर्थात् सूर्य। एक सूर्य नहीं भगवान् के पास तो अनन्त सूर्य हैं **''भगाः अनन्ताः अर्काः सन्ति यस्मिन्''** अनन्त सूर्यों के समान भगवान् मे तेज है। भगवान् अनन्त सूर्यों से युक्त हैं, सूर्य के भी सूर्य हैं, प्रेरणा हैं। सूर्य प्रेरणा के स्रोत हैं न, **''तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्''** भगवान् सविता के भी भर्ग तेज हैं। तो भगवान् मे अनन्त सूर्यों का प्रकाश है। स्वयं धृतराष्ट्र से संजय कहते हैं कि धृतराष्ट! भगवान् के तेज की कल्पना करो। यदि कदाचित् आकाश मे एक साथ अनन्त–अनन्त सूर्य उपस्थित हो जायें तो भी वे उन परमात्मा के शरीर की शोभा की सदृश्यता प्राप्त करेंगे मैं नहीं कह पा रहा हूँ। कदाचित् ऐसा हो सके तो। तो आज भगवान् के पास 'भग' अर्थात् अर्क सूर्य

हैं। अनन्त–अनन्त सूर्यों का उनके पास प्रकाश है। उनका दक्षिण नेत्र ही सूर्य है **''चक्षोः सूर्यो अजायत''** और किं बहुना कोटि–कोटि बाल सूर्यों के समान चमक रहा है उनका पीताम्बर, अतः भगवान्। सूर्य की उपस्थिति का तात्पर्य यह है कि अब गोपियों मे अविद्या नहीं रहेगी इसलिए यहाँ भगवान्। 'कीर्ति' भग का अर्थ कीर्ति भी है, आज गोपियों को भी भगवान् कीर्तिमती बनाना चाहते हैं। अनन्तकीर्ति गोपियों की, दिव्ययश गोपियों का। गोपियों को भगावन् यश प्रदान करेंगे अपयश प्रदान नहीं करेंगे। गोपियों की महिमा संपूर्ण भुवनों मे होगी।

''वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णासः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।।''

भा. १०/४७/६३

तो भगवान् की कीर्ति प्रशस्त है, क्योंकि हम कह चुके हैं कि यहाँ 'प्राशस्त्य' मे मतुप् प्रत्यय है **''प्रशस्तः भगः कीर्तिः यस्य स भगवान्''**। भगावन् का यश कलिकल्मषघ्न है **''प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं''** (भा.१०/१/१४) वह कलियुग के पाप को नष्ट करे इसलिए भगवान्। वस्तुतस्तु 'भगवान्' शब्द से और कुछ शुकाचार्य को कहना था। शुकाचार्य कह रहे हैं कि भगवान् का अर्थ ये है कि जिसमे हेय गुण न हों और सभी उपादेय गुण हों **''हेयगुणरहितत्वे सति सकलकल्याणगुणगणनिलयत्वं भगवत्वं''**। काम, वासना हेयगुण है, इसलिए उसकी कल्पना भगवान् मे नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब श्रुति ने भगवान् के 'परत्व' की व्याख्या का प्रारम्भ किया तो उन्होंने कहा कि भगवान् परत्व की दृष्टि से सप्तम कक्षा मे आते हैं। इन्द्रियों से सूक्ष्म हैं विषय और विषयों से सूक्ष्म और श्रेष्ठ है मन, मन से श्रेष्ठ है बुद्धि, बुद्धि से श्रेष्ठ है जीवात्मा और जीवात्मा से भी श्रेष्ठ है अव्यक्त और अव्यक्त से श्रेष्ठ हैं परमपुरुष भगवान् उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। वही सबकी सीमा हैं और वही सबके गन्तव्य स्थान हैं। स्थूल शरीर से श्रेष्ठ है इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से श्रेष्ठ है अर्थ, अर्थ से श्रेष्ठ है मन, मन से श्रेष्ठ है बुद्धि, बुद्धि से श्रेष्ठ है जीवात्मा (प्रत्यगात्मा), प्रत्यगात्मा से श्रेष्ठ है भगवान् की माया (अव्यक्त) उससे श्रेष्ठ हैं भगवान्। तो जब भगवान् सातवीं कोटि मे हैं और काम तीन मे रहता है **''इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते''** इन्द्रियों मे, मन मे और बुद्धि मे। तो बुद्धि तक ही उसकी सीमा है इसके पश्चात् उसकी गति नहीं है, क्योंकि इसके पश्चात् है जीवात्मा और जीवात्मा इन सब द्वन्द्वों से दूर है। वहाँ काम का प्रवेश ही नहीं हो सकता और जीवात्मा से भी सूक्ष्म है प्रत्यगात्मा, उससे भी सूक्ष्म है भगवान् की माया (योगमाया) और योगमाया से परे हैं भगवान् तो काम इतना सबल कैसे हो सकेगा कि इतनी कक्षा को लाँघ करके भगवान् के पास आ सके? वहाँ तो उसके फटकने का अवसर ही नहीं है और यदि काम यहाँ फटकता है तो भगवत्व नहीं बन सकता, क्योंकि तब तो ये निन्दित् हो जायेंगे और निन्दित के अर्थ मे यहाँ 'मतुप् प्रत्यय' हुआ नहीं है।

''भूमनिन्दाप्रशंसाषु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।''

और यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि भाष्यकार पतंजलि का तात्पर्य यह है कि 'मतुप् आदि अन्य प्रत्यय प्रायशः 'भूम निन्दा' और अन्य अर्थों मे हो सकते हैं। निन्दा के अर्थ मे अन्य प्रत्यय हो सकते हैं 'इनि प्रत्यय' हो सकता है। अन्य प्रत्यय भी है जो कभी भूमादि अर्थों मे होते हैं। **''क्षीरिणो वृक्षाः''** वृक्ष क्षीरि हैं उनमे बहुत दूध है और 'अनुदरिणी कन्या' यहाँ अनुदरिणी कन्या, निन्दा अर्थ मे है परन्तु 'मतुप् प्रत्यय' को कभी भी निन्दा के अर्थ मे होते

नहीं देखा गया है। कभी भी 'मतुप् प्रत्यय' निन्दा के अर्थ मे नहीं होता वो तो प्रशंसा के अर्थ मे होगा या **''भूय स्त्रियाः''** अधिक्य के अर्थ मे होगा या नित्य के अर्थ मे या अतिशय के अर्थ मे अथवा, संबन्ध और अति विवक्षा मे, इसलिए यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय निन्दा के अर्थ मे होगा ही नहीं यदि यहाँ निन्दा के अर्थ मे 'भगवान्' शब्द मे 'मतुप् प्रत्यय' नहीं है तो फिर काम जैसे हेयगुण की कल्पना कैसे की जा सकती है? अतएव श्रीविष्णुपुराण मे श्रीपाराशर ने कहा,

''ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छण्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।।''

विष्णु पुराण ६/५/७६

कहते हैं कि हेयगुणों को छोड़कर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, पराक्रम और तेज जहाँ निरन्तर समग्रता से विराजते हैं, उन्हीं परमात्मा श्रीराम और श्रीकृष्ण को भगवान् कहते हैं। **''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''** 'तु' शब्द का अर्थ है अपि अर्थात् **''कृष्णेऽपि भगवान्''** श्रीरामजी तो भगवान् हैं ही, पर श्रीकृष्ण जी भी भगवान् हैं। 'तु' का अर्थ है अपि देखते हैं यहाँ 'तु' का प्रयोग क्यों होगा? **''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''** क्योंकि श्रीराम जी को भगवान् कहा जा चुका है। उन मे तो संपूर्ण ऐश्वर्य है ही, उनके साथ श्रीकृष्ण मे भी संपूर्ण ऐश्वर्य है। भगवान् के पास अनन्तज्ञान है, भगवान् के पास अपरिमित शक्तियाँ हैं, भगवान् के पास दुर्दान्त बल है, उनमे दिव्य ऐश्वर्य है, उनमे अतुलनीय पराक्रम और कोटि–कोटि सूर्यों जैसा तेज है। ऐसे भगवान् आज गोपियों के साथ रासलीला करने का मन बना रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि यहाँ अज्ञान की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। काम जो है, वह ज्ञानियों का वैरी है और उसके आने पर ज्ञान रह ही नहीं सकता। **''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा''** (गीता ३/३६) यह ज्ञानियों का नित्य शत्रु है। यहाँ तो भगवान् मे दिव्यज्ञान है। प्रशस्तज्ञान है और नित्यज्ञान है अर्थात् काम किसी भी मूल्य पर भगवान् के ज्ञान को आवृत नहीं कर सकता, ढ़क नहीं सकता। यदि काम का उद्देश्य ही नहीं पूर्ण होगा तो वो आएगा कैसे? काम जब आता है तो जीव को शक्तिहीन बना देता है और यहाँ तो भगवान् की शक्ति अप्रतिहत है, नित्यशक्ति है, इसलिए भी काम का उद्देश्य नहीं पूर्ण होगा। काम के आने पर व्यक्ति निर्बल हो जाता है, बलहीन हो जाता है और यहाँ तो ये भगवान् हैं। भगवान् का बल कभी समाप्त होता ही नहीं। नित्यबल है उनमे, इसलिए भी यहाँ काम की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि उसका यहाँ बलहीन का उद्देश्य नहीं पूर्ण होगा। हम कह चुके हैं कि 'भगवान्' शब्द का प्रयोग करके रासपंचाध्यायी के प्रारम्भ मे ही वेदव्यास जी ने यह सूचित कर दिया है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी मे हेयगुणों से भिन्न संपूर्ण ज्ञान, संपूर्ण ऐश्वर्य, संपूर्ण पराक्रम और संपूर्ण तेज निरन्तर विराजते हैं इसलिए वे भगवान् हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज, ये छहों भगवान् श्रीराम जी और भगवान् श्रीकृष्ण जी मे निरन्तर विराजते हैं और काम की उपस्थिति मे ये छहों आपद्ग्रस्त हो सकते हैं, क्योंकि काम के आने पर व्यक्ति मे ज्ञान नहीं आ सकता, काम व्यक्ति के ज्ञान को ढ़क देता है।

''आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।''

गीता ३/३६

भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान अखण्ड है, उनका ज्ञान त्रिकालाबाधित है, वह कभी आवृत नहीं होता, उसमे अज्ञान नहीं आता, इसलिए यहाँ काम के गन्ध की कल्पना भी नहीं करनी

चाहिए। काम की उपस्थिति मे व्यक्ति शक्तिमान नहीं रह सकता, जबकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सर्वशक्तिमान हैं। काम व्यक्ति को निर्बल बना देता है, जबकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी स्वयं कहते हैं, **"बलं बलवतांचाहं कामरागविवर्जितम्"** (गीता ७/११) काम और राग से विवर्जित बलवानों का बल मैं हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण के बल की कोई सीमा नहीं है। काम अनीश्वर के पास आ सकता है, ईश्वर के पास कभी नहीं आता। भगवान् शंकर ईश्वर हैं, इसलिए उन्होंने काम को जलाया और जो शंकर के भी ईश्वर हैं उनके संबन्ध मे कहना ही क्या। कामी कभी पराक्रमी नहीं हो सकता और भगवान् का पराक्रम तो असीम है। कामी कभी तेजस्वी नहीं हो सकता, भगवान् मे कोटि–कोटि सूर्यों से भी अधिक तेज है। इन्हीं छह सिद्धान्तों को रासपंचाध्यायी का महाप्रतिपाद्य प्रस्तुत करते हुए भगवान् वेदव्यास जी ने प्रारम्भ और अन्त दोनों मे 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया। प्रारम्भ मे प्रथमा विभक्ति के एकवचन में और विश्राम मे सप्तमी के एकवचन में। भगवान् मे हेयगुण नहीं है और काम सबसे हेय है और यहाँ स्पष्ट कहा जा रहा है **"बिना हेयगुणैः"**। यूँ भगवान् की दूसरी भी परिभाषा की जा सकती है कि **"हेयगुणरहितत्वे सति ज्ञानादिषट्कवत्वं भगवत्वं"**। अतएव **"भगवानपि ता रात्रीः"** आज भगवान् ने उन रात्रियों को देखकर जिनमे शरद्कालीन मल्लिकायें विकसित हो रही हैं, गोपियों से रमण करने का मन बनाया। उसमे सहायता ली योगमाया की। यहाँ कितना रोचक प्रकरण है, भगवान् किसे कहते हैं?

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिं।
वेत्ति विद्यामाविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।।"

विष्णु पुराण ६/५/७८

जो जीवों की उत्पत्ति, विनाश, गति, अगति, विद्या और अविद्या इन सबको जानता हो उसे भगवान् कहते हैं। भगवान् गोपियों की संपूर्ण अवस्थाओं से परिचित हैं, भगवान् गोपियों की मनोदशाओं को जान चुके हैं। जिन पंचविध गोपियों की यहाँ चर्चा की गई है उनके संबन्ध मे भगवान् को पूर्ण ज्ञान है। ये स्वयंसिद्धा भगवती आह्लादिनी शक्ति राधारानी के कायव्यूह से जो उत्पन्न हुई हैं गोपियाँ वे और समस्त वेदमन्त्रों की श्रुतियों की शक्तिरूपिणी गोपियाँ और पुनः दण्डकारण्य के श्रीरामावतारकालीन ऋषिगण अग्निकुमार, बालखिल्य ऋषिगण भी गोपी भाव को प्राप्त कर चुके हैं और समस्त देवकन्यायें और गोप अर्थात् मिथिलाधिराज के नगर की संपूर्ण मैथिलानी मैथिली कन्यकायें भगवान् के प्रति कान्ताभाव करने के कारण गोपीभाव को प्राप्त हो चुकी हैं। वे सब भगवान् के साथ रमण करेंगी। हम 'रमण' का भी अर्थ कह चुके हैं, रमण का अर्थ होता है निर्दोष क्रीड़ा इससे किसी को भी 'रमण' शब्द से अन्यथा अर्थ नहीं लेना चाहिए। **"रमु क्रीडायां"** (पाणिनि धातुपाठ ८५३) वो भी बालक की क्रीड़ा को 'रम' कहते हैं जैसे जहाँ योगी रमता है। रम दो ही सकते हैं या तो योगी रमे या तो बालक। विषयी रम ही नहीं सकता, इसलिए आज भी हमारे यहाँ धुनि रमाने की परम्परा है। धुनि रमाना, ये योगी लोग जानते हैं। मन रमाना, ये योगी लोग जानते हैं। राम का मन भक्तों मे रमता है और भक्तों का मन राम मे रमता है। यहाँ यह कहने मे कोई संकोच नहीं है कि भगवान् श्रीकृष्ण तभी रासलीला भी सम्पन्न कर सके जब वो अपने जीवन मे रामत्व ले आ पाए, क्योंकि रमण राम का ही धर्म है। यही राम का रामत्व है कि जहाँ योगी लोग निःस्संकोच समस्त देशकाल, परिस्थितियों की परिच्छेदक सीमाओं को पार करके रमते हैं वही तो राम हैं। आज भगवान् श्रीव्रजांगनाओं के साथ रम रहे हैं। **"भगवानपि"** अब तक गोपियाँ ही भगवान् के साथ रमण करने का संकल्प बना रही थीं आज भगवान् के मन मे भी संकल्प जग गया। गोपियों की प्रतीक्षा पूरी हुई। तब वेदव्यास

जी ने कहा, ''भगवानपि'' समस्त षड्विकारों से रहित, ऐश्वर्यादि छहों ऐश्वर्यों से युक्त, श्री आदि संपूर्ण विशेषताओं से सम्पन्न, भगवान् भी या भगवान् ने भी शरद्काल के कारण जिनमे मल्लिकायें विकसित हो चुकी थीं, उन रात्रियों को देखकर योगमाया का आश्रय लेकर गोपियों के साथ रमने का मन बनाया, खेलने का मन बनाया। भगवान् ने उन रात्रियों को देखा जो एक वर्ष पहले भगवान् के समक्ष उपस्थित हुई थीं। जिनके लिए उन्होंने कहा था, **''मयेमा रंस्यथ क्षपाः''** मेरे साथ तुम इन रात्रियों मे रमण करोगी। तो जो आधिदैविकी रात्रियाँ जो एक वर्ष पूर्व श्रीवृन्दावन मे प्रभु के समक्ष उपस्थित हुई थीं वे रात्रियाँ आज फिर आ रही हैं। उन रात्रियों को भगवान् ने देखा अर्थात् एक ही चार प्रहरवाली रात्रि मे अनन्त–अनन्त रात्रियों का समावेश होते हुए भगवान् ने देखा। रात्रियों को देखा, ये कोई सामान्य रात्रि नहीं है, भगवान् की भक्ति ही रात्रि है। **''राका रजनी भगति तव''** प्रभु की भक्तिरूप रात्रि को देखा, जहाँ **''शरदोत्फुल्लमल्लिकाः''** शरद् भगवान् की भक्ति के कारण भगवन्मिलन की भावरूप अनेक–अनेक मल्लिकायें विकसित थीं।

''कहुँ कहुँ वृष्टि शरद ऋतु थोरी।
कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।।'' मानस ४/१६/१०

अथवा, 'रात्रीः' श्लेष अलंकार के आधार पर गोपियों का भी विशेषण है और पाँचों प्रकार की गोपियों को भगवान् देख रहे हैं। इससे यहाँ **''रात्रयश्च, रात्रयश्च, रात्रयश्च, रात्रयश्च, रात्रयश्च इति रात्रयः ताः रात्रीः''** पाँच रात्रियों का भी एक शेष होगा। आह्लादिनीशक्तिरूप गोपियाँ, नित्यसिद्धा गोपियाँ, उपासनासिद्धा गोपियाँ, साधनासिद्धा गोपियाँ और भावसिद्धा गोपियाँ पाँच प्रकार की गोपियाँ हैं। श्रीराधासहचरीवर्ग, श्रुतिवर्ग, ऋषिवर्ग, देवकन्यावर्ग और मिथिलाधिराज नगरकन्यावर्ग इन सबको रात्रि की संज्ञा दी है। अतः **''भगवानपि ता रात्रीः''** तत् पद का भी यहाँ एक शेष है **''ताः राधा सहचरी वर्गरूपाः रात्रीः समर्पयित्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः शरवद् द्यन्तीति शरदाः एवं भूताः उत्फुल्लाः विरहमल्लिकाः यासु ताः वीक्ष्य योगमायामुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे''** अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उन राधा सहचरीवर्ग की सखियों को देखा। उन सखियों को निहारा निरीक्षण किया जो रात्रि अपना सर्वस्व भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों मे समर्पित कर चुकी थीं। यहाँ 'रा दाने' से 'तृन' प्रत्यय हुआ है। अर्थात् **''रान्तीति रात्रयस्ताः''** गोपियों ने प्रभु को अपना सब कुछ समर्पित कर दिया है और उनके हृदय में बाणों की भाँति मन को कष्ट देनेवाली भगवद्विरह की मल्लिकायें विकसित हो रही हैं। इस प्रकार की गोपियों का वीक्षण करके योगमाया का उपाश्रय करके भगवान् ने रमने का मन बनाया, खेलने का मन बनाया, अथवा **''भगवानपि ताः रात्रीः ताः''** तत् पद से अभिप्रेत श्रुतियों को देखा, जिन्होंने अपना संपूर्ण तात्पर्य भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन, यशोदानन्दवर्धन प्रभु के श्रीचरणों मे समर्पित कर दिया है। **''रान्तीति रात्रयस्ताः''** और उनके मन मे भी **''शरदा भगवद्भक्ति रूपया उत्फुल्लाः सेवाभाव मल्लिका यासु ताः''** शरद् अर्थात् भगवद्भक्ति के कारण उन श्रुतिरूप गोपियों के हृदय मे भी भगवान् की सेवाभावना रूप मल्लिकायें विकसित हो गईं। उन्हें भी भगवान् ने देखा और उन्हें देखकर उन श्रुतिरूपिणी गोपियों के साथ खेलने का मन बना लिया। अथवा, 'ताः' अर्थात् उन ऋषिरूपा गोपियों को भगवान् ने निहारा जो दण्डकारण्य की लीला मे श्रीराम को देखकर ऋषिगण गोपीभाव को प्राप्त हो गए थे। उनको निहारकर भगवान् उनसे रमने का मन बना रहे हैं। भगवान् तो भक्तों के साथ रमते ही हैं। देखा, ये रात्रि के समान अपना सब कुछ मुझको समर्पित कर चुके हैं। भगवान् ने देखा, 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' **''शरदा ज्ञानवृत्त्या उत्फुल्लाः मल्लिकाः''** अर्थात् **''साधना रूपाः यासु''**

उनमे ज्ञान की वृत्ति से साधनारूप मल्लिकायें उत्फुल्ल हो चुकी हैं। अब **"ऋषयो मंत्रद्रष्टारः"** अब तक ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है, आज वे मन्त्रार्थ को देख रहे हैं। गोपीभावापन्न हो गये हैं, प्रभु का आलिंगन करेंगे, अब तक तो मन्त्रों को देखा था, **"समानवृक्षं परिषष्वजाते"** आज भगवान् का स्वयं वे परिष्वंग करेंगे। उन्हें देखकर भी भगवान् ने रमण का मन बनाया, क्योंकि उस बार ऋषियों के साथ रमने का अवसर नहीं मिला था। अथवा, 'ताः' अर्थात् देवकन्यकारूप गोपियों को भगवान् ने निहारा जो 'रात्रीः' अपना सब कुछ समर्पित कर चुकी थीं। भगवान् की सेवा मे आने के लिए उन्होंने स्वर्गलोक का वैभव छोड़ दिया, गर्भ मे आना स्वीकार किया, अवतार लेना स्वीकार किया, प्रतीक्षा की इसलिए अब **"शरवद् द्यन्ति उत्फुल्लाः प्रतीक्षा रूपा मल्लिकाः यासु ताः"** अब भगवान् के मिलन की प्रतीक्षा की मल्लिका उनको बाण के समान बेध रही है। ऐसी देवकन्याओं को भी देखा जिन्हें प्रभु ने श्रीचित्रकूट मे आश्वासन दिया था और उनको देखकर उनके साथ रमने का मन बना लिया। अथवा, 'ताः' उन मिथिलानिवासिनी पुरन्ध्रियों को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने निहारा जो 'रात्रीः' अपना सर्वसमर्पण कर चुकी हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द मे प्रभु से मिलने के लिए उनके मन मे भी **"शरवद् द्यन्ति उत्फुल्लाः विरहमल्लिकाः यासु ताः"** उनके हृदय की विरह मल्लिकायें बाण की भाँति उन्हें वेध रही हैं, ऐसी सखियों को उन्होंने निहारा। **"वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः"** भगवान् के पास मन नहीं है, अतः उन्होंने गोपियों के साथ रमण करने के लिए नवीन मन बना लिया, क्योंकि यदि मन ही नहीं होगा तो संकल्प कैसे होगा? गोपियों ने कहा, प्रभु! आप मन बना लीजिए। कहाँ से मन बनाऊँ? मैथिलानियाँ ही गोपीभाव को प्राप्त हो गई हैं, उन्होंने कहा, सरकार! हमने मिथिला मे आपके ऊपर पुष्प वर्षण किये थे न **"हिय हरषहिं बरसहिं सुमन"** सुन्दर मन हम आपको दे चुके हैं, उन्हीं सुमनों का यहाँ आप प्रयोग कर लीजिए। **"वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे"** मिथिलानियों के द्वारा दिए हुए सुन्दर मनों को ही भगवान् ने अपना मन बना लिया। **"योगमायामुपाश्रितः"** भगवान् नवीन मन बना रहे हैं, क्योंकि बिना मन के संकल्प नहीं होगा और बिना संकल्प के भगवान् गोपियों के साथ रमेगे कैसे? अनमने होकर रमना ठीक नहीं होगा। गोपियों ने कहा कि हमारे मन को ही लेकर के आप मनस्वी बन जाइए प्रभु। यहाँ चक्रे का प्रयोग है अर्थात् "डुकृञ् करणे करणार्थक डुकृञ्' (पाणिनि धातुपाठ) धातु से आत्मने पद तब होगा जब क्रिया का फल कर्त्ता मे जा रहा होगा। यहाँ रमण का फल भगवान् मे जाएगा अर्थात् भगवान् अपने आनन्द के लिए गोपियों के साथ रमण कर रहे हैं **"वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे"**। कैसे? **"योगमायामुपाश्रितः"** भगवान् ने योगमाया का उपाश्रय किया। **"योगः अघटित घटना तस्मै माया शक्तिः इति योगमाया"** अघटित घटना पटीयसी लीला शक्ति का उपाश्रय किया भगवान् ने इसीलिए तो छोटे से पंच क्रोशात्मक वृन्दावन मे पंचाशत् सहस्र कोसों का समावेश हुआ। छोटे से वृन्दावन मे अनेक–अनेक ब्रह्माण्डों का समावेश हुआ। केवल चार प्रहर रात्रि मे ब्रह्मा जी की सहस्रों युगोंपर्यन्त चलनेवाली रात्रि का समावेश और दिव्य चन्द्रमा छोटे से पंच क्रोशात्मक वृन्दावन मे अनन्त–अनन्त गोपियों का समावेश और प्रत्येक गोपी की इच्छा के अनुसार उसके सुन्दरतम् देवोद्यान सदृश विहारस्थल ये सब योगमाया की ही तो लीला है। इसीलिए शरद्ऋतु में संपूर्ण ऋतुओं का समावेश भगवान् ने कर लिया यह योगमाया की ही लीला है, योगमाया की ही कृपा है, योगमाया के ही माहात्म्य से नन्दालय से आते समय भी भगवान् श्रीकृष्ण को किसी ने नहीं जाना। यशोदा, बलराम, नन्द, और रोहिणी को पता भी नहीं है। उनकी दृष्टि से तो कन्हैया जी सो रहे हैं। आज इस लीला को व्रज के किसी पुरुष ने नहीं जाना कि जिस प्रकार से योगमाया ने भगवान् श्रीकृष्णजन्म के समय सभी

प्रहरियों को सुला दिया, ताले खोल दिए, हाथ की हथकड़ी खोल दी, वसुदेव के चरणों की बेड़ी खोल दी और वसुदेव को श्रीबालकृष्ण को व्रज पहुँचाने के लिए विवश कर दिया। संपूर्ण मार्ग योगमाया ने ही बनाये। वसुदेव जी यमुना जी मे निर्भीकता से प्रवेश कर रहे हैं, किसी प्रकार उन्हें भय लगने नहीं दिया, शेषनारायण को वसुदेव जी की सहयोग मे नियुक्त किया, यमुना जी को वसुदेव जी के घुटने तक ही रहने दिया। तो जिस प्रकार कृष्णजन्म मे सभी असंभव घटनाओं का संकलन योगमाया ने किया उसी प्रकार इस रासलीला मे भी सभी लीलोपयोगी घटनाओं का संकलन योगमाया ने किया। अतः **''योगमायां उपाश्रितः''** क्योंकि योगमाया के कारण ही भगवान् सभी को नहीं दिखते **''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः''** (गीता ७/२५) योगमाया ने गोपियों के अतिरिक्त किसी भी व्रजवासी स्त्री या पुरुष को जानने नहीं दिया। जो रासमण्डल मे जाने की अधिकारिणी थीं उन्हीं व्रजांगनाओं को उसका ज्ञान हो पाया अन्यथा किसी को कोई ज्ञान नहीं हुआ। यही है योगमाया का विचित्र तात्पर्य और इसी तात्पर्य से यहाँ **''योगमायां उपाश्रितः''** का प्रयोग करते हैं। अथवा, **''योगमाया मुरली योगाय श्रीकृष्णचन्द्रचरणारविन्दसंयोगाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया''** संस्कृत मे शब्द को माय कहते हैं। माङ् माने शब्दे च (पा. धातुपाठ १०८८) श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द के संयोग के लिए जिस वंशी मे निरन्तर माय अर्थात् शब्द होता रहता है उसे योगमाया कहते हैं। वंशी की धुन जीव को श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द से जोड़ती है। कहा जाता है **''अन्यधाराप्रवाहस्तु आनुकूल्येन तिष्ठति''** किन्तु **''वेणुगीतप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति''** अन्य धाराओं का जो प्रवाह होता है वह व्यक्ति को अनुकूलता से ले जाता है अर्थात् जिधर जाता है उधर ले जाता है, परन्तु वेणुगीत का प्रवाह तो जीव को जिधर से आता है उधर जीव को ले जाता है। अथवा, **''योगः अस्ति येषु ते योगाः''** जिनमे प्रशस्त योग है उन योगियों को भी संस्कृत मे योग कहते हैं और **''योगेषु माया यस्याः सा योगमाया''** और उन योगियों पर जिसकी माया अर्थात् कृपा होती है वह वंशी योगमाया है जो साक्षात् रुद्रदेव के रूप मे ही उपस्थित हो रही है। **''वंशो ज्ञेयो महा रुद्रः''** ऐसी मुरली का भगवान् ने आश्रय लिया। अथवा, **''अयोगाय संसार संबन्धविच्छेदाय मायः शब्दः यस्याः''** संसार के संबन्ध के विच्छेदन के लिए जिसमे माय अर्थात् शब्द होता रहता है उसे योगमाया कहते हैं। अथवा, 'योगमाया' शब्द यहाँ राधा जी का वाचक है। **''योगाय भगवद्संबन्धाय माया कृपा यस्याः''** भगवान् के संबन्ध के लिए जो निरन्तर जीव पर कृपा करती रहती है उसे योगमाया कहते हैं। अथवा, 'अयोगाय माया' संसार विच्छेद के संबन्ध के लिए जिनकी कृपा होती रहती है। **''अयोगाय माया यस्य''** जो भक्त पर कृपा करती रहती हैं उन राधा जी को 'अयोगमाया' कहते हैं। अथवा, **''अकारः विष्णुः तस्य योगः येन स अयोगः कृष्णः तस्य माया''** अकार माने भगवान् विष्णु, उनका जिससे योग होता है, उन श्रीकृष्णचन्द्र जी को 'अयोग' कहते हैं और **''अयोगस्य माया''** उन 'अयोग' श्रीकृष्णचन्द्र जी की कृपाशक्तिरूप राधा जी का भगवान् ने आश्रय लिया **''योगमायां उपाश्रितः''**। अथवा 'यः' शब्द को अलग करें **''यः भगवान् अगमायां उपाश्रितः स एव शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रे''** ये भगवान् हैं और जो अगमा मे 'उपाश्रितः' अगमा अर्थात् 'न गच्छति इति अगा' और **''अगा चासौ मा अगमा तस्यां अगमायां''** जो किसी के द्वारा चलायमान नहीं होती उन भगवती को 'अगा' कहते हैं और निश्चल जो माँ भगवान् की शक्ति हैं उन्हें 'अगमा' कहते हैं और उन अगमा मे जो भगवान् उपाश्रित हैं, उन्होंने 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' रात्रियों को देखकर खेलने का मन बना लिया। अथवा, **''अकारं वासुदेवं गच्छति इति अगा सैव मा तस्यां''** अकार माने वासुदेव उन भगवान् वासुदेव के साथ जो गमन करनेवाली माँ हैं, शक्ति हैं, वही राधा जी हैं। **''अगमायां उपाश्रितः''** अथवा, **''योगमाया योगेन भगवत्चरण**

संयोगेन माया कृपा यस्यां सा'' भगवान् के चरणारविन्द के संयोग से जिसमे कृपा का आविर्भाव हुआ है, ऐसी श्रीयोगमाया राधारानी को भगवान् अनुकूल बना रहे हैं। इस रासपंचाध्यायी और रासलीला के लिए अथवा,'योजयतीति योगा', **''योगा चासौ माया इति योगमाया तां''** भगवान् के चरणों का संयोग करानेवाली जो माया ऐसी राधा जी का भगवान् ने उपाश्रयण किया अथवा, **''न गच्छति इति अगा सा चासौ माया''** भगवान् के चरणों मे स्थिर रहनेवाली भगवती राधा का भगवान् ने आश्रय लिया। अथवा, **''न गच्छति इति अगा, अगा माया लीला यस्याः''** भगवान् के चरणों मे स्थिर है लीला जिसकी, उसको कहते हैं योगमाया, अगमाया और यह जो अगमाया अर्थात् भगवान् के चरणों मे स्थिर लीलाशक्ति राधा जी का आश्रय लिया। ऐसे श्रीकृष्ण ने उन रात्रियों को निहारकर रमण करने का मन बनाया। अथवा, **''योगेषु योगिजनेषु माया कृपा यस्याः सा योगमाया तां''** योगीजनों के ऊपर जिनकी अहैतुकी कृपा है वे हैं योगमाया राधा उनका आश्रय किया। अथवा, **''योगानां अष्टांग प्रभृतिनां मा शक्तिः यस्यां सा योगमा तस्यां''** अर्थात् संपूर्ण योगों की जिनमें शक्ति विराजमान है उन राधा जी की उपस्थिति मे भगवान् गोपियों के द्वारा उपाश्रित हुये। **''योगमाायां गोपीभिः यः उपाश्रितः''** अथवा, **''अकारः वासुदेवः स गच्छति यां सा अगमा तस्यां यः गोपीभिरूपाश्रितः''** 'अ' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण भी जिनके पास निरन्तर गमन किया करते हैं ऐसी 'अगमा' श्रीराधाजी की उपस्थिति मे जो गोपियों के द्वारा उपाश्रित हुए, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र जी ने रमने का मन बनाया। अथवा, **''अं श्रीकृष्णं गमयति प्रापयति या सा अगमा तस्यां''** भगवान् श्रीकृष्ण को जो मिला देती हैं, जिनकी कृपा से भगवान् श्रीकृष्ण मिलते हैं, ऐसी राधा जी की उपस्थिति मे भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया। अथवा, **''अं श्रीकृष्णं एव गच्छति सर्वं त्यक्त्वा या सा अगमा तस्यां''** जो सब कुछ छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्ण को ही प्राप्त कर रही हैं, उन राधा जी की उपस्थिति मे श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया। अथवा, **''अं श्रीकृष्णं गच्छति प्राप्नोति या सा अगमा तस्याः''** अर्थात् जो भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त करती हैं अर्थात् जिनके प्राप्य एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण हैं अथवा, **''अं श्रीकृष्णं गच्छति जानाति या सा अगमा''** जो एकमात्र श्रीकृष्ण को ही जानती हैं, उनके अतिरिक्त और किसी को जानती ही नहीं हैं, ऐसी राधाजी की उपस्थिति मे भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया। अथवा, **''येन श्रीकृष्णेन साधनभूतेन गम्यते या सा अगमा तस्यां''** जो भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता से ही जानी जाती हैं, प्राप्त की जाती हैं ऐसी श्रीराधा जी की उपस्थिति मे भगवान् ने गोपियों से क्रीड़ा करने का मन बनाया। अथवा, **''अं श्रीकृष्णं गायति इति अगा वंशी तया मीयते शब्द्यते इति अगमाया तां''** 'अ' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण को जो गाती है उस वंशी को 'अगा' कहते हैं और उसके द्वारा जिसका निरन्तर नामोच्चारण किया जाता है उन राधा जी को अगमाया कहते हैं और वंशी के द्वारा निरन्तर गायी जाती हुई राधा जी का आश्रय करके भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया। अथवा, **''योगान् मिमिते इति योगमाया''** जो योगीजनों को बुला करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों से जोड़ देती हैं ऐसी राधा जी का आश्रय करके भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया। इस प्रकार से **''योगमायां उपाश्रितः''** राधा जी का आश्रयण करके भगवान् अब गोपियों के साथ रमण करने के लिए इच्छा कर रहे हैं। नवीन मन की रचना कर रहे हैं।

योगमायामुपाश्रितः

भगवान् श्रीकृष्ण ने शरदकाल के कारण विकसित मल्लिकाओं वाली रात्रियों को निहारकर योगमाया का आश्रय करके गोपियों के साथ रमने का मन बनाया। इस श्लोक में प्रयुक्त

योगमाया शब्द अनेक व्युत्पत्तियों की संभावना के कारण महात्माओं, भावुक भक्तों और विद्वानों की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है, इस पर सबसे अधिक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं, ''भाव भावविभाविका'' टीकाकार स्वर्गीय श्रीरानारायण ने। मैं भी स्वान्त सुखाय 'योगमाया' शब्द की व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। सारांशतः इस प्रसंग में प्रयुक्त 'योगमाया' शब्द भगवान् की लीलाशक्तिरूप वैष्णवी माया, मुरली एवं राधारानी जी इन तीन अर्थों में अभिप्रेत हुआ है। अतः आगे प्रदर्शित की जानेवाली सभी व्युत्पत्तियाँ इन्हीं तीन अर्थों पर केन्द्रित रहेंगी।

१. ''योगाय अघटित घटना संयोगाय माया लीला यस्याः सा योगमाया'' अर्थात् अघटित घटनाओं के संयोजन के लिए जिसकी लीला का प्रयोग होता रहता है वही है भगवान् की अचिन्त्यशक्ति योगमाया, इसी का आश्रय लेकर भगवान् ने पंचकोशवाले वृन्दावन में अनन्त ब्रह्माण्डों का समावेश किया, चार प्रहरवाली छोटी सी एक रात्रि में अनन्त रात्रियों का समावेश किया, करील प्रधान व्रजभूमि में नन्दनवन का वातावरण, शरद में भी वासन्ति प्रकृति का अवतरण, क्षणभर में अनदेखी पगडण्डियों को पार करके अनेक गोपियों का एक ही स्थान पर उपस्थित होना यह सब योगमाया का ही तो चमत्कार है।

२. अथवा, ''योगः आश्चर्यं, तस्मै माया लीला यस्याः सा योगमाया'' अर्थात् अनेक–अनेक आश्चर्यों को उपस्थित करने के लिए जिसकी लीला सक्रिय रहती है, उसे योगमाया कहते हैं। इसी के कारण भगवान् को सर्वाश्चर्यमय कहा जाता है ''सर्वाश्चर्यमयं देवं'' (गीता ११/११) इस रासलीला में भगवान् ने जो भी आश्चर्यजनक घटनायें घटायीं वे सब योगमाया के उपाश्रय की ही तो फलरूप थीं। इसीलिए तो रात्रि में भी परम प्रकाश, सामान्य आकारवाली वंशी में ऐसी ध्वनि का प्रस्ताव जो चौरासीकोश वाले व्रज में उन्हीं गोपियों को सुनायी पड़ी जिन्हें भगवान् के प्रति कान्ताभाव था। प्रत्येक गोपी बिना किसी से पूछे वंशी की ध्वनि का अनुसरण करती हुई सीधे श्रीकृष्ण भगवान् के पास चली आईं। किसने उन्हें मार्ग बताया? घोररूप वाली उस रात्रि में घोर जन्तु सिंह, बाघ, भालु, चीते आदि हिंसक जन्तुओं ने गोपियों पर आक्रमण नहीं किया। कोशों–कोशों दूरवाले मार्ग को कुछ ही क्षणों में गोपियों ने सम्पन्न कर लिया, यहाँ तक कि उनके चरणों में खरोंच तक नहीं आयी। साँप, बिच्छु आदि ने उन्हें डसा तक नहीं। दौड़ के जाने में किसी को साधारण ठोकर तक नहीं लगी। ऐसे आश्चर्य योगमाया के ही तो खेल है।

३. अथवा, ''योगानां अनेकेषां परमाश्चर्याणां मां शक्तिं आययति गमयति या सा योगमाया।'' अर्थात् जो परमात्मा के समक्ष अनेक आश्चर्यों की शक्ति को उपस्थित कर देती है वही योगमाया है। श्रीरासलीला में कन्हैया जी ने उसी का आश्रयण किया। तभी तो आश्चर्यजनक कौतुक कर सके।

४. अथवा, ''योगाय सामान्यजीवैः भगवतः संबन्धाभावाय माया शक्तिः यस्यां सा योगमाया।'' अर्थात् सामान्य जीवों के साथ भगवान् के संबन्धभावरूप योग के लिए जो लीला का प्रयोग करती है वही है भगवान् की योगमाया। इसी के अंचल में छिपने के कारण भगवान् सबको नहीं दिखते, ''नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः'' गीता ७/२५

५. अथवा, चक्रे शब्द में अकार का प्रश्लेष करके अयोगमाया शब्द मानना चाहिए, ''अयोगाय भजनहीनेभ्यो भगवत् संबन्धविच्छेदाय माया लीला यस्याः सा अयोगमाया।'' अर्थात् भजनहीनों

से भगवान् के संबन्ध विच्छेद के लिए जिसकी लीला का प्रयोग होता है वही योगमाया ही अयोगमाया है। इसी के आधार पर भगवान् की रासलीला में सामान्य लोग नहीं जा सके।

६. अथवा, ''योगाय अनन्तरूपकरणाय या मा शक्तिः सा योगमा तां आययति भगवन्तं प्रापयति इति योगमाया तां योगमायां।'' अर्थात् अनन्त गोपियों के लिए भगवान् को अनन्तरूप बनाना है, उस अनन्तरूपकरण के सामार्थ्य को जो भगवान् को उपलब्ध कराती है वही है योगमाया। उसका आश्रय करके भगवान् ने रासलीला का प्रारंभ किया। और इसी योगमाया के प्रयोग से भगवान् श्रीकृष्ण ने जितनी गोपियाँ थीं उतने ही अपने रूप बना लिए। यथा–

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपिलीलया।। भा. १०/३३/२०

७. अथवा, ''योगः अघटित घटना करण सामर्थ्यं तस्मै माया योगमाया।'' अर्थात् भगवान् के अघटित घटना के सामर्थ्य के लिए जो माय है उसी को योगमाया कहते हैं। उसी का आश्रय लेकर गोविन्द ने गोपियों के साथ रमने का मन बनाया।

८. अथवा, ''योगाः ज्ञान–कर्म–भक्ति–क्रियाष्टांगाख्या प्रशस्ताः सन्ति अस्मिन् इति योगः श्रीकृष्णः, तस्य योगस्य माया लीला इति योगमाया तां उपाश्रितः।'' अर्थात् ज्ञानयोग–कर्मयोग–भक्तियोग–क्रियायोग और अष्टांगयोग जिनमें प्रशस्त रूप से नित्य विराजते हैं, उन योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को योग कहते हैं, और उनकी माया को योगमाया कहते हैं।

६. अथवा, ''योज्यते अघटित घटना यया सा योगा, सा चासौ माया च इति योगमाया तां।'' अर्थात् अघटित घटनाओं का संयोजन करनेवाली परमेश्वर की अचिन्त्य छठी शक्ति को योगा कहते हैं और वही माया है, इसीलिए उसे योगमाया भी कहा जाता है।

१०. अथवा, ''योगेन भगवत् संयोगेन माया लीला यस्यां सा योगमाया तां योगमायां।'' अर्थात् भगवान् के संयोग से ही जिसमें लीला का प्रस्फुरण होता है उसे योगमाया कहते हैं। क्योंकि माया की कोई निजी सत्ता नहीं है, भगवान् की कृपा से ही उसमें अघटित घटना पटीयसी शक्ति का उदय हुआ है।

''जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।''
मा.१/११७/८

उसी योगमाया का आश्रय करके भगवान् ने महारास का प्रारम्भ किया।

११. अथवा, ''योगं श्रीकृष्णं आश्रयते इति योगाश्रया सा चासौ माया च इति योगमाया तां (मध्यम पदलोप समास)। अर्थात् संपूर्ण योगों के आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण को आश्रय करने वाली माया को ही योगमाया कहते हैं। क्योंकि परमेश्वर के आश्रय से ही इसकी सत्ता है। यहाँ मध्यम पदलोप समास हुआ। उसी योगमाया का अवलंब लेकर भगवान् ने रास का प्रारम्भ किया।

१२. अथवा, ''योगे भगवत् क्रीडोपकरणसंग्रहे संयोजने वा माया लीला यस्याः सा योगमाया तां।'' अर्थात् योग का अर्थ संग्रह और संयोजन भी होता है, चुँकि भगवान् की योगमाया

भगवान् के लिए लीलोपयोगी उपकरणों का संग्रह भी करती है और संयोजन भी अतः इस क्रिया में लीलाशक्ति का प्रयोग करने के कारण भगवान् की माया को योगमाया कहते हैं। इसी ने भगवान् की रासक्रीड़ा के लिए रात्रि–शरदऋतु–मल्लिका–निष्कलंक अखण्डमण्डल चन्द्रमा–अचिन्त्य सुन्दरी व्रजांगनाओं–परिष्कृतवृन्दावन–श्रीयमुना–निरभ्र आकाशमण्डल आदि लीला की सामग्रियाँ इकट्ठी भी की और उसका उचित संयोजन भी इसीलिए इसे योगमाया कहते हैं।

१३. अथवा, ''योगः दुर्लभ घटनानां संयोगः तस्मै माया लीला यस्यां सा योगमाया तां।'' अर्थात् दुर्लभ घटनाओं के संयोग को योग कहते हैं। उसी के लिए जहाँ भगवान् की लीलाशक्ति का स्फुरण होता है उसे योगमाया कहते हैं। दशम स्कन्ध की लीलाओं में योगमाया का बहुशः प्रयोग हुआ है। इसी योगमाया से भगवान् श्रीकृष्ण ने देवकी जी के गर्भ में स्थित श्रीबलराम जी को रोहिणी जी के गर्भ में स्थानान्तरित कराया। यथा–

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्।। भा.१०/२/६

देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय।। भा.१०/२/८

अर्थात् विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त यादवों पर कंस का भय देखकर योगमाया को आज्ञा दी। योगमाये! देवकी जी के गर्भ में वर्तमान शेष नामक मेरे अंश को रोहिणी जी के गर्भ में स्थानान्तरित कर दो और योगमाया ने वैसा ही किया। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के प्राकट्य के समय योगमाया ने ही प्रहरियों को सुलाया, देवकी और वसुदेव जी की हथकड़ी और बेड़ियाँ काटी, द्वारों के ताले खोले, श्रीबालकृष्ण के छत्र के रूप में शेषनारायण को नियुक्त किया, पुनः बालिका लेकर वसुदेव जी के वापस आ जाने पर सारी व्यवस्था पूर्ववत् कर दी। ''या योगमायाऽजनि नन्दजायया'' (भा.१०/३/४७) वही योगमाया इस रासलीला में अघटित घटनाओं का संयोग करेगी। उसका उपाश्रयण करके श्रीरासविहारी सरकार महारास का प्रारम्भ करेंगे।

१४. अथवा, ''युनक्ति अघटित घटनाः संपादयति इति योगा, योगा माया लीला यस्याः सा योगमाया तां।'' अर्थात् जिसकी लीला अघटित घटनाओं का संपादन करती है, ऐसी योगमाया का आश्रय करके भगवान् ने गोपियों के साथ रमण करने का मन बनाया।

इस रास लीला में भगवान् ने वंशी को भी उपकरण बनाया, अतः वंशी की दृष्टि से भी कतिपय भाव निवेदित किये जा रहे हैं।

१५. ''योगाय श्रीकृष्णलाभाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया मुरली तां योगमायां।'' जिसमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरण कमल के लाभार्थ शब्द होता रहता है, उस वंशी को ही उपाश्रित करके भगवान् ने महारास प्रारम्भ किया।

१६. अथवा, ''योगाय श्रीकृष्णचरणसंनिधये मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया मुरली तां योगमायां।'' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणों की समीपता के लिए जिसमें माय अर्थात् शब्द होता रहता है उस वंशी को योगमाया कहते हैं।

१७. अथवा, ''योजयति जीवं श्रीकृष्णचरणे यः स योगः योगः एव मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया मुरली तां योगमायां।'' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों में जो जीवों को जोड़ता है, उसे योग कहते हैं, वह योग ही माय अर्थात् शब्द बनकर जिसमें विराजता है उस वंशी को योगमाया कहते हैं।

१८. अथवा, ''योगानां योगवतां कृते मायः परमात्मसाक्षात्कारसूचकः शब्दः यस्यां सा योगमाया वंशी तां योगमायां।'' अर्थात् योगियों के लिए जिसमें परमात्मसाक्षात्कार सूचक शब्द होते रहते हैं वही भगवान् की वंशी ही योगमाया है। उसी वंशी का भगवान् महारास में आश्रय ले रहे है।

१९. अथवा, ''अयोगाय बन्धुबान्धवेभ्यः गोपीसंबन्धविच्छेदाय मायः ध्वनिः यस्यां सा योगमाया वंशी तां योगमायां।'' अर्थात् 'चक्रे' 'योगमायां' इन दोनों शब्दों के बीच में अकार का प्रश्लेष करना चाहिए अर्थात् 'अयोगमायां'। जहाँ संसार से संबन्धविच्छेद के लिए सतत नाद होता रहता है, वही अयोगमाया भगवान् की मुरली है। इसीलिए तो मुरली की धुनि सुनकर गोपियाँ घर–वार छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण की चरणों में आ गईं।

२०. अथवा, ''योगाय भगवद् भक्तियोगाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया तां।'' भगवान् की वंशी में प्रभु का भक्तियोगात्मक शब्द होता रहता है, इसीलिए उसे योगमाया कहते हैं। उसी वंशी का आश्रय लेकर भगवान् ने महारास का शुभारंभ किया।

२१. अथवा, ''योगाय समाधियोगाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया तां।'' संस्कृत में समाधि को भी योग कहते हैं। भगवान् की वंशी में प्रभु की प्रेम समाधि के लिए निनाद होता रहता है। इसीलिए वंशी को योगमाया कहते हैं। एक व्रजसीमन्तिनी ने यहाँ तक कह दिया कि अरी वीर! जब कन्हैया मुरली बजायें तब कान में अंगुली लगा लेना।

कानन दै अंगुली रहिये जबहीं मुरली धुनि मन्द बजइहैं
मोहन मूरति सुन्दर श्याम अटा चढ़ि धेनु गवईहैं–गवईहैं।
टेरि कहूँ सिगरे व्रजलोगनि काली कहा कितनों समझईहैं
माई री वा मुख की मुसुकानी सम्हारी न जैहैं न जैहैं न जैहैं।।

इसीलिए उस योगमाया मुरली का उपाश्रय करके भगवान् रास का शुभारंभ करते हैं।

२२. अथवा, ''योगाय तन्मयीभावाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया तां योगमायां।'' मुरली का शब्द श्रवण मात्र से भावुक भक्त के हृदय को तन्मय कर देता है। इस सन्दर्भ में एक मुझ अकिंचन श्रीकृष्ण सेवक का भावपूर्ण श्लोक सुनिये– एक व्रजांगना श्रीश्यामसुन्दर से ईर्ष्या और आश्चर्य भरे स्वर में कहती है प्यारे! आपका वंशी निनाद विचित्र ही इन्द्रजाल फैला रहा है। यथा–

स्फोटं स्फोटं मृड़ानीमहमृदुमनसो ध्यानतन्तुं तरस्वी
त्रोटं त्रोटं त्रुटीनां वसुमथ दधतो वेदमूर्तेः समाधिम्।
मोटं मोटं महीम्ना महिधरधरणीधारणोद्दामधैर्यं
धत्तेऽयं शक्रजालं कथय किमुहरे वल्गुवंशीरवस्ते।।

हे प्यारे श्यामसुन्दर! अपनी तीव्रता से पार्वती जी के हृदय में उत्सव प्रकट करनेवाले भगवान् शिवजी के ध्यान योग को स्फुटित कर–करके आठ नेत्र धारण करनेवाले वेदमूर्ति ब्रह्मा जी की समाधि को तोड़–तोड़कर अपनी महिमा से शेषनारायण के पृथिवी के धारण में प्रयोग किए हुए विशाल धैर्य को मसल–मसल कर आपश्री का मधुर मुरली निनाद किस प्रकार का इन्द्रजाल फैला रहा है? थोड़ा तो बताइये।

२३. अथवा, ''योगाय भजनकर्मकौशलाय मायः शब्दः यस्यां सा योगमाया तां।'' भगवान् की मुरली में भजनकर्म की कुशलता के लिए शब्द होता रहता है। इसे सुनकर भोजन व्यापार स्वयमेव रूक जाता है। एकबार महारास में विलम्ब से आने पर भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा विलम्ब का कारण पूछे जाने पर खीजकर व्रजबाला ने कहा, कन्हैया! मेरे विलम्ब का कारण तुम हो और तुम्हारे अधरों पर विराजमान यह वैरन वंशी। सावधान आज से हमारे रसोई करते समय मुरली मत बजाना। क्योंकि उसकी ध्वनि से सुखी लकड़ी में से रस टपकने लगता है ओर धधकती हुई आग बूझ जाती है। उसके परिणामस्वरूप हम भोजन भी नहीं बना पातीं और हमारे आने में विलम्ब हो जाता है।

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरली रवं मधुरं।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येते कृशतरताम्।।

२४. अथवा, ''योगः कान्ताभाव संबन्धः तस्मै मायः संबन्धो यस्यां सा योगमाया तां।'' संस्कृत में योग शब्द संबन्ध का भी वाचक है, यहाँ कान्ताभाव संबन्ध ही योग शब्द से विवक्षित है। उस कान्ताभाव रूप योग के लिए मुरली में निरन्तर शब्द होता रहता है। वस्तुतः मुरली ने ही सर्वप्रथम श्रीव्रजांगनाओं को कान्ताभाव की मदिरा से मत्त बनाया था। इस पर भागवत १०/२१/५श्लोक सर्वविदित ही है, जिसमें श्रीमुरली ने कान्ताभाव की भंगिमा से ही भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीवृन्दावन आगमन की सूचना दी, पर प्रभु का नाम नहीं लिया। यथा–

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।

भागवत १०/२१/५.

वंशी ने कहा, गोपियों! मोर मुकुट, नटवर शरीर, कानों में कर्णिकार पुष्प, कटितट पर पीताम्बर, गले में वैजयन्तीमाला धारण करते हुए, एवं वेणु के छिद्रों को अधर सुधा से पूर्ण करते हुए, गोपवृन्दो द्वारा जिनके लिए राधारानी जी का गान किया जा रहा है, ऐसे वे अपने श्रीचरणों से रमणीय वृन्दावन में प्रवेश कर चुके हैं। यहाँ वंशी ने प्रभु का नाम नहीं लिया। और यदि देखा जाये तो इसी श्लोक ने समस्त व्रजबालाओं को भगवत् प्रेमामृत पिलाकर धन्य–धन्य कर दिया। अतएव इसी वंशी को योगमाया कहते हैं और इसी का आश्रय लेकर भगवान् ने रास का शुभारंभ किया।

२५. अथवा, ''योगेन योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन मीयते शब्दायते या सा योगमाया तां।'' योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा जो वंशी निरन्तर बजाई जाती है, वही वंशी योगमाया है।

प्यारे मोहना मुरलिया बजाय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।
वृन्दावन की कुंज गलिन में।

तान मीठी साँवरिया सुनाय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल।
टेढ़ी चितवन की जादु चलाय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।
दै दै ताल सखिन्ह सँग नाचत।
गोपीजन की मनोरथ पुराय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।
कीर्तिकुमारी के सर्वस विहारी।
रास कौतुक मनोहर रचाय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।
परम पुनीत मीत 'गिरिधर' के।
दिव्य लीला के दरशन कराय दे, मन्द मुसकाय दे रे।।

उसी वंशी का आश्रय लेकर उसके माध्यम से सभी गोपियों को इकट्ठा करके भगवान् श्रीकृष्ण महारास शुभारंभ कर रहे हैं।

२६. वस्तुतः इस महारास लीला में भगवती राधारानी की मुख्य भूमिका है, इसीलिए मूलरूप से रासपंचाध्यायी के मंगलाचरणात्मक प्रथम श्लोक में प्रयुक्त योगमाया शब्द परमार्थतः राधाजी का ही वाचक है। अब इस शब्द की राधारूप अर्थ के अनुरूप व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की जा रही है। हम कह चुके हैं कि श्रीमद्भागवतम् में व्यंजना वृत्ति से श्रीराधाजी का बहुत बार संकीर्तन हुआ है। और यह भी कहा जा चुका है कि भागवत जी का प्रत्येक श्लोक राधा है और उसका अर्थ श्रीकृष्ण। श्रीमद्भागवतम् में कम से कम अठारह हजार बार श्रीराधा जी का संकीर्तन हुआ है। इसी अवधारणा के आधार पर महारासेश्वरी भगवती राधा जी के संबन्ध में यहाँ कुछ विचार किया जा रहा है।

योगमाया शब्द योग और माया इन दो शब्दों के समास से निष्पन्न हुआ है। योग शब्द भी अनेकार्थक है और माया शब्द भी।

"योगे निष्कलंके श्रीमहारासलीला प्रस्ताव सामर्थ्ये मा सरस्वती इति योगमा तां आययति श्रीशुकाचार्यं गमयति इति योगमाया तां।" अर्थात् संस्कृत में सामर्थ्य को भी योग कहा जाता है, श्रीरासलीला की निष्कलंकलता को प्रस्तुत करने के सामर्थ्य में जिस सरस्वती की अपेक्षा है उसे परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशुकाचार्य जी को जो उपलब्ध करा देती हैं, उन्हीं श्रीराधा रानी को योगमाया कहते हैं। और भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हीं का आश्रय लेकर महारास का प्रारंभ किया। इसीलिए रासलीला के प्रारंभ और विश्राम इन दोनों ही प्रसंग में महाराज परीक्षित ने रास के संबन्ध में प्रश्न किये हैं। यथा उपक्रम में –

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।। भा. १०/२६/१२

यहाँ परीक्षित की जिज्ञासा बहुत ही तार्किक है, उनका मानना यह है कि यदि ब्रह्म को ब्रह्मत्वेन गोपियाँ जानती होतीं तब उनके मायिक गुणों के प्रवाह का समापन तर्कसंगत भी होता और शास्त्र संगत भी। परन्तु गोपियाँ श्रीकृष्ण को ब्रह्मत्वेन नहीं जानतीं। वे तो उन्हें श्रेष्ठ कान्त के रूप में जानती हैं। तो फिर उनके गुणों का प्रवाह कैसे समाप्त हुआ? यदि ऐसा है तो घट को जानकर व्यक्ति क्यों नहीं मुक्त तो जाता? इस प्रश्न के उत्तर में शुकाचार्य जी ने जिस सरस्वती का प्रयोग किया है वह उन्हें श्रीराधा जी से प्राप्त हुई है। यहाँ श्रीशुकाचार्य जी की सरस्वती दर्शनीय है। शुकाचार्य जी का उत्तर है कि यद्यपि घट

भी ब्रह्म का रूप है परन्तु वहाँ घटत्व के द्वारा ब्रह्मत्व को ढ़क दिया गया है।घट भाव ने ब्रह्मभाव को ढ़क रखा है। इसीलिए घट के रूप में ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति संभव नहीं है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के संबन्ध में ऐसी परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वहाँ ब्रह्मत्व पूर्णरूप से प्रकट है। जैसे अग्नि में कोई अनजाने भी हाथ डाले तो भी वह उसे जलायेगा, क्योंकि वस्तुशक्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। और दूसरी बात यह भी है कि महाराज! आपने यह कैसे समझ लिया कि गोपियाँ श्रीकृष्ण को ब्रह्मरूप में नहीं जानतीं। हम पहले भी कह चुके हैं कि ''तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।।'' (भा. १०/२६/११) अर्थात् गोपियाँ श्रीकृष्ण को परमात्मा रूप में ही जानती हैं, शरीरावच्छिन्न जीवात्मा की बात तो बहुत दूर गई। गोपियाँ श्रीकृष्ण को शरीरानवच्छिन्न प्रत्यगात्मा भी नहीं मानतीं। ''परमात्मानमेव संगताः'' वे तो नन्दनन्दन को परमात्मा ही मानती हैं प्रत्यगात्मा भी नहीं। श्रीव्रजांगनायें श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्ण को समवाय संबन्ध से नित्य ज्ञानवान् मानती हैं, ''समवाय संबन्धेन नित्य ज्ञानवान् परमात्मा।। तर्कसंग्रह प्रत्यक्ष खण्ड आत्मलक्षण दीपिका।। यहाँ तमेव शब्द भी श्रीशुकाचार्य जी ने बहुत सोच समझकर पढ़ा है। तमेव शब्द से शुकाचार्य जी शुक्ल यजुर्वेद के उस प्रसंग की ओर संकेत कर रहे हैं जहाँ भगवती श्रुति ने स्पष्ट कहा कि ''तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय'' (शु.य.३१/१८) शुकाचार्य जी कहते हैं ''जारबुद्ध्या एव संगताः'' यहाँ अपि शब्द का भी एव में तात्पर्य है। अर्थात् तं एव संगताः परमात्मानं एव संगताः, जारबुद्ध्यया संगताः, गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के पास ही आईं। उन्हें परमात्मा मानकर ही आईं, और जारबुद्धि से युक्त होकर ही आईं। गोपियों ने कहा, अरी वीर! नन्दनन्दन तो चोरजारशिखामणि हैं। संसार का जार अपनी प्रेमिका के धर्म को नष्ट करता है और वह उपपति अर्थात् अधमपति होता है। परन्तु नन्दनन्दन तो ''जारयति जन्ममृत्युजराव्याधिं अधर्मं संपूर्णपापानि तापानि यः सः जारः उपकारकः पतिः उपपतिः'' जिससे स्नेह करते हैं उसके जन्म–मृत्यु–वृद्धावस्था–संपूर्ण व्याधियों– सभी पापों और तीनों तापों को नष्ट कर डालते हैं। और यही नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र एकमात्र उपपति अर्थात् उपकारक पति भी हैं। इसीलिए यह कहना कि गोपियाँ श्रीकृष्ण को ब्रह्मभाव से नहीं जानती थीं सत्य से बहुत दूर है। हाँ इतना अवश्य है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण को मायावादियों की भाँति निराकार नहीं मानतीं। वे तो श्रीनन्दनन्दन को असमोर्ध्व सौन्दर्य संपन्न त्रिलोकलावण्यललित कोटि–कोटि कन्दर्पदर्पदलन निरस्तसमस्तहेयगुणप्रत्यनीक सकल कल्याणगुणगणनिलय साक्षान्मन्मथमन्मथ इन्दीवरदलश्याम निखिलरसार्णवमूर्ति सकलसुखसेवधि परमानन्दमहोदधि शिखिपीच्छमौली परमरमणीय रसिकेन्द्रशेखर सगुणसाकार अतिसीकुसुमसुकुमार नन्दकुमार परमप्रेमास्पद ही मानती हैं। यह तो उचित ही है क्योंकि भगवान् की निराकारता न तो शास्त्र सम्मत है और न ही युक्ति युक्त। इसीलिए महाराज के प्रश्न पर असहमति जताते हुए शुकाचार्य जी खीज कर बोले–

उक्तं पुरस्तोदेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।। भा. १०/२६/१३

यह बात मैंने तुमसे पहले ही कह दी थी कि यदि भगवान् के प्रति द्वेष करता हुआ शिशुपाल मुक्ति को प्राप्त हो गया, तो फिर अधोक्षज श्रीकृष्ण की प्राणवल्लभा श्रीव्रजसीमन्तिनीयों के संबन्ध में क्या कहना। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए श्रीशुकाचार्य जी ने गोपियों के संबन्ध में तीन दाम्पत्यमूलक वाक्यखण्डों का प्रयोग किया ''किमुताधोक्षजप्रियाः'' (भा. १०/२६/१३) ''कृष्णवध्वः'' (भा. १०/३३/८) ''स्वान् गृहान्

भगवत् प्रियाः'' (भा. १०/३३/३६)। अब देखिए श्रीरासलीला के विश्राम में प्रयुक्त श्रीशुकाचार्य जी की सरस्वती को।

संपूर्ण रासलीला को श्रवण करके यद्यपि महाराज परीक्षित के मन में कोई सन्देह नहीं था परन्तु परीक्षित जी की सभा में विराजमान अन्य साधारण श्रोताओं के संशयों को समाप्त कराने की इच्छा से सभी के हृदय मरूस्थलों में श्रीशुकाचार्य जी के मुखचन्द्र को माध्यम बनाकर श्रीकृष्णप्रेमसुधा धारा का वर्षण कराने के लिए महाराज परीक्षित ने पुनः तीन श्लोकों में प्रश्न किया–

।। राजोवाच।।

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वर।।
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ।।
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत।।

भा. १०/३३/२७, २८, २९

परीक्षित जी ने सभी श्रोताओं की ओर से प्रश्न किया हे सुव्रत! जो भगवान् अपने अंश विष्णु से ही जगत् का ईश्वर बन जाते हैं वे ही देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण धर्म की स्थापना और अधर्म का विनाश करने के लिए ही श्रीनन्द्रव्रज में अपने ऐश्वर्यादि छहों भगों के साथ अवतीर्ण हुए हैं। परन्तु आज उनकी रासलीला में धर्म की हानि और अधर्म का विकास सा दीख रहा है। जो स्वयं धर्म की सेतुरूप मर्यादाओं के उपदेशक, आचरणकर्ता और पूर्णरूप से रक्षक भी हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण ने परदाराभिमर्शन (परायी नारी का स्पर्श) जैसा अधर्माचरण क्यों किया? ब्रह्मन् आप्तकाम यदुकुलशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण ने किस अभिप्राय से यह जुगुप्सित कार्य किया? हे श्रेष्ठव्रत संपन्न श्रीशुकाचार्य जी महाराज! आप हम लोगों के इस संशय को नष्ट कीजिए। यहाँ महाराज परीक्षित का तात्पर्य भी बहुत रोचक है। वे कहते हैं कि प्रभो! यद्यपि मेरे मन में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि भगवद्भजनरूप परमधर्म की स्थापना के लिए एवं भगवद् विस्मरणरूप अधर्म के विनाश के लिए ही जगत् के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महारास के रंगमंच पर अवतीर्ण हुए हैं। भला जो धर्म सेतुओं के वक्ता पालनकर्ता और रक्षक हैं वे परदाराभिमर्शनरूप धर्म विरुद्ध कार्य कैसे किए? कथमाचरत्? अर्थात् नहीं किए। परदाराभिमर्शन शब्द 'परेषां दाराणां अभिमर्शनं'' यह षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं है। यहाँ पर शब्द श्रेष्ठ का वाचक है 'परे च ते दाराः परदाराः तेषां अभिमर्शनं' अथवा 'परस्य परमेश्वरस्य दाराः परदाराः तेषां अभिमर्शनं'' अर्थात् भगवान् ने अपनी पर यानी श्रेष्ठ पत्नीयों का स्पर्श किया। भगवान् की पत्नीयों में गोपियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसा कि स्वयं बुद्धिसत्तम उद्धव जी कहते हैं–

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ –
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्।। भा. १०/४७/६०

अहो! महारास महोत्सव में परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र के गले में स्वयं हाथ डालकर तथा श्रीकृष्ण की भुजाओं से गलबहियाँ देकर विहार करती हुई श्रीव्रजांगनाओं के जीवन में जो भगवान का कृपा प्रसाद उपस्थित हुआ वह प्रसाद प्रभु के श्रीचरणों में निरन्तर प्रेम करने

वाली भगवती लक्ष्मी को नहीं प्राप्त हुआ, और न ही कमल के समान शोभा और सुरभिवाली स्वर्गललनाओं को प्राप्त हुआ, फिर अन्य को कैसे प्राप्त हो सकेगा? क्या भगवान् ने धर्म के प्रतिकूल आचरण किया? यह काकुवक्रोक्ति है। हे ब्रह्मन्! ''किं यदुपतिः जगुप्सितं कृतवान्''? क्या भगवान् ने जुगुप्सित कर्म किया? अर्थात् नहीं। ''वैजुगुप्सितं कृतवान्'' विगतं जुगुप्सितं तस्य भावः वैजुगुप्सितं'' भगवान् ने विगत जुगुप्सित अर्थात् निन्दित कार्य नहीं किया। ''किं अभि प्राये एतं'' प्राये प्रायोपवेशने भियः अभावः अभि, हे सुव्रत! यह सब कैसे हुआ? हमको अभयदान देते हुए, प्राये अर्थात् हमारे अनशन के समय 'नः एतं संशयं' हमारे इस संशय को ''छिन्धि'' काट् दीजिए। नः शब्द का का तात्पर्य यह है कि मेरे मन में कोई संशय नहीं है, परन्तु मेर साथ बैठे हुए अन्य श्रोताओं के मन में संशय है इसे नष्ट कर दीजिए। परीक्षित के इस प्रश्न पर चकित हुए श्रीशुकाचार्य जी को योगमाया अर्थात् श्रीराधारानी से सरस्वती प्राप्त हुईं। ''योगमां सरस्वतीं आययति इति योगमाया''।

।। श्रीशुक उवाच।।

अब भगवती नौ श्लोकों में सर्गादि नवलक्षण संपन्न श्रीकृष्ण के अद्भुत निष्कलंक चरित्र शुकाचार्य जी से गवा रही हैं। यथा—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।।

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्।।

भा. १०/३३/३०, ३१

श्रीशुकाचार्य जी कहते हैं, महाराज! मैं उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार इन तीनों में बहुत दृढ़ता के साथ स्पष्ट कर चुका हूँ कि गोपियाँ परकिया नहीं हैं। ये भगवान् की निज पत्नीयाँ हैं। परदारा का अर्थ है परमेश्वर की दारा। इन श्रीव्रजांगनाओं का भगवान् श्रीकृष्ण के साथ गन्धर्व विवाह हुआ है। और बाल—वत्स हरण लीला में भी जब ब्रह्मा जी ने भगवान् के बालकों और बछड़ों को चुरा लिया और भगवान् ने स्वयं प्रत्येक बालक और प्रत्येक बछड़े का रूप धारण कर लिया, उसी समय इन व्रजांगनाओं का गोपाल वेषधारी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ विवाह हो गया। और उन्हीं अपनी विवाहित पत्नीयों को भगवान् ने रास में बुलाया। और श्रीराधाकृष्ण के विवाह के संबन्ध में तो ''पदानि वहतो वधूम्'' कहकर गोपियों के माध्यम से वेदव्यास जी ने स्पष्ट ही कर दिया। अतः भगवान् ने परनारी का स्पर्श तो किया ही नहीं यही सत्य है और यही सिद्धान्त है। परन्तु थोड़ी देर के लिए खण्डन के पूर्व तक आपका पक्ष मान भी लिया जाए तो भी कोई आपत्ति नहीं है। यदि भगवान् ने परायी नारी का स्पर्श किया भी हो तो भी उन्हें कोई पाप नहीं लगता। क्योंकि जिनको भगवान् श्रीकृष्ण से थोड़ी सी ऐश्वर्यादि सिद्धियाँ मिल जाती है ऐसे प्रजापति—इन्द्र—वृहस्पति आदि ईश्वर कोटि के लोगों में भी कभी—कभी धर्म का उल्लंघन और अकार्य में सहसा प्रवर्तन देखा जाता है। परन्तु उन तेजस्वी महाविभूतियों में वह दोष उत्पन्न नहीं कर पाता। जैसे अग्नि में भक्ष्या भक्ष को जलाते हुए भी किसी पाप का स्पर्श नहीं होता, ''तेजीयसां न दोषाय'' तेजस्वियों का छोटा सा दोष उनकी विशाल तेज राशि में उसी प्रकार जल जाता है, जैसे आग में रुई।

समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं।
रवि शशि पावक सुरसरि की नाईं।। मा. १/६६/८

भगवान् विष्णु–सूर्य–अग्नि और गंगाजी ये चारों समर्थ हैं, ईश्वर कोटि के हैं। इन्हें भगवान् श्रीकृष्ण से ही ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है। तो यदि शुभ–अशुभ सर्वरसों का भक्षण करके सूर्य में दोष नहीं लगता। भक्ष्याभक्ष को जलाने से अग्नि में अपवित्रता नहीं आती। यदि सर्प की शैया पर शयन करके नारायण अशुद्ध नहीं होते और यदि कर्मनाशा के संगम से भी गंगा दूषित नहीं होती। तो फिर परमेश्वर श्रीकृष्ण में परनारी के स्पर्श का पाप क्यों लगेगा? क्योंकि भगवान् तो इन ईश्वरों के ईश्वर अर्थात् परमेश्वर हैं। ''तन्न प्रसीदः परमेश्वर'' (भा. १०/२६/३३) परन्तु जो असमर्थ है उस अनीश्वर को मन से भी धर्मविरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए। मोहवश ऐसा करता हुआ अनीश्वर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे रुद्र से भिन्न प्राणी कालकूट पीकर मर जाता है। यथा– ''अरुद्रः अब्धिजं विषं'' कोई शिव नहीं बन सकता क्योंकि शिव का स्वरूप है कालकूट विष को पचा लेना। फिर परमेश्वर श्रीकृष्ण का अनुसरण कौन कर सकता है? अरे भैया! भगवान् श्रीकृष्ण ने तो गोपियों के साथ रास करने से पूर्व पूतना का विष पिया, दावाग्नि को निम्बु की शिकंजी की भाँति घँट गये। इक्कीस किलोमीटर में फैले गोवर्धन को बायें हाथ की कनिष्ठिका पर धारण कर लिया। तब गोपियों के साथ महारास करते हुए भी अच्युत अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। क्या आज कोई सायनाइड की एक गोली भी पचा सकता है? अग्नि का पीना तो बहुत दूर रहा क्या कोई आज तथाकथित जलती हुई मोमबत्ती भी मुख में डाल सकता है? इसीलिए परमेश्वर का कभी भी अनुसरण नहीं करना चाहिए। फिर ऐसी परिस्थिति में सामान्य मनुष्य को क्या करना चाहिए? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीराधारानी जी से प्राप्त श्रीशुकाचार्य की सरस्वती बोल पड़ीं, ''योगमां आययति इति योगमाया।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

भागवत १०/३३/३२

शुकाचार्य कहते हैं, हे राजन्! ईश्वर कोटि के लोगों की वाणी तो सत्य होती है, उनके आचरण तो कहीं सत्य होते हैं। इस प्रकार के उदाहरण केवल एक हैं, वे हैं परिपूर्णतम परात्पर परमात्मा भगवान् श्रीराम। जिनका वचन भी अनुकरणीय है और आचरण भी। भगवान् श्रीराम ही एक ऐसे परमेश्वर हैं जिनकी कथनी और करणी में एकरूपता है। प्रभु श्रीराम जो कहते हैं वही करते हैं और जो करते हैं वही कहते हैं।

को रघुवीर सरिस संसारा। शील सनेह निवाहन हारा।।

मानस २/२४/४

भगवान् क्षमा करें, भगवान् श्रीराम जी के अतिरिक्त यह विशेषता न तो किसी परमेश्वर अवतार में है और न ही किसी ईश्वर कोटि के व्यक्तित्व में। किं बहुना, भगवान् श्रीकृष्ण का भी चरित्र इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्योंकि उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। अतः भगवान् श्रीराम जी के अतिरिक्त किसी की भी वाणी सर्वांश में अनुकरणीय नहीं है। यदि ईश्वर की वाणी 'स्व' अर्थात् वेद के अनुकूल हो तब तो बुद्धिमान को ईश्वर की उस वाणी का आचरण करना चाहिए, जैसे भगवान् श्रीकृष्ण की गीता। गीता जी इसीलिए श्रेष्ठ और अनुकरणीय नहीं हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा। भगवान् श्रीकृष्ण तो महाभारत में बहुत कुछ कहते हैं। प्रत्युत् गीता जी इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा वो वेद के अनुकूल कहा। केवल भगवान् श्रीराम जी के प्रत्येक वचन और प्रत्येक आचरण में अपौरुषेय भगवान् वेद की मोहर लगी है। इसीलिए अभियुक्त महापुरुष कहते हैं कि जब वेदवेद्य परम पुरुष परमात्मा श्रीराम श्रीदशरथ जी के पुत्र के

रूप में अवतार लिए तब भगवान् वेद भी वाल्मीकि जी से श्रीरामायण के रूप में अवतीर्ण हो गए।

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।।

लवकुश मंगलाचरण

परीक्षित के अन्तर्प्रश्न का उत्तर देते हुए शुकाचार्य जी कहते हैं कि जो कर्तृत्व के अहंकार से शून्य होते हैं उन्हें ही ईश्वर कोटि में माना जाता है। यहाँ ईश्वर और परमेश्वर का अन्तर भी समझना होगा। परमेश्वर अर्थात् परमात्मा ईश्वर अर्थात् नित्यमुक्त प्रत्यगात्मा महात्मा और परमेश्वर के अंशावतार। भगवान् श्रीराम तथा उनसे सर्वथा अभिन्न भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर अर्थात् परमात्मा हैं। यथा वाल्मीकीय रामायण में मन्दोदरी स्वयं कहती है–

''व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः'' वा. रा. ६/१११/१४

श्रीमानस में शिवजी कहते हैं–

''राम सो परमातमा भवानी।'' मानस १/११६/५

महर्षि वाल्मीकि भगावन् श्रीराम को ही श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुआ स्वीकारते हैं। यथा–

शाङ्‍र्गधन्वा हृषिकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः।। वा. रा. ६/११७/१६

रावण के वध के अनन्तर भगवान् श्रीराम की स्तुति करते हुए ब्रह्म जी कहते हैं कि हे राघवेन्द्र सरकार! आप ही शाङ्‍र्गधनुषधारी हैं, इन्द्रियों को जीतनेवाले, अप्रतिम पौरुषसम्पन्न परमात्मा हैं। आप ही क्षर–अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम हैं। आप किसी से जीते नहीं जा सकते। आप नन्दक तलवार धारी विष्णु हैं अर्थात् श्रीमन्नारायण आपके अन्तरंगतम विभूति हैं। और आप ही आगामी अट्ठाइसवें द्वापर में विशाल सेना संपन्न श्रीकृष्ण बनकर श्रीमथुरा और नन्दव्रज में प्रकट होंगे। अतएव श्रीराम और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और उनकी कृपा से उपलब्ध ऐश्वर्यादि के आधार पर श्रीशंकर आदि ईश्वर हैं। इन अहंकार शून्य ईश्वरों का इस संसार में शुभ और अशुभ किसी भी कर्म के साथ संबन्ध नहीं होता। इन्हें न तो वेद विहित कर्मों का पुण्य लगता है और न ही अविहित कर्मों का पाप। क्योंकि पुण्य और पाप तो उन्हें बाँधते हैं जिनमें कर्तृत्व का अभिमान होता है। जिनमें कर्ता का भाव ही नहीं है उन्हें कर्म के फल कैसे बाँधेंगे? जैसे श्रीहनुमान जी महाराज कर्तृभाव से बहुत दूर हैं अतः उन्हें लंका यात्रा में हुये न तो पापों ने बाँधा और न ही पुण्यों ने। भगवान् श्रीराम जी ने पूछा, आंजनेय! तुमने लंका जलायी कैसे? हनुमान जी ने सहज भाव में उत्तर दिया, हे राजीवलोचन! सब कुछ आपके प्रताप ने किया।

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निशिचर गन बधि विपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछु मोरि प्रभुताई।।

मानस ५/३३/८, ६

अतः यदि ईश्वरों के साथ शुभ और अशुभ कर्मों के फलों का संबन्ध नहीं होता तो फिर जो देवता–मनुष्य और देवयोनियों में वर्तमान सभी प्राणियों और ईश्वरों के भी ईश्वर अर्थात् परमेश्वर श्रीराम से अभिन्न श्रीकृष्ण हैं, उनके साथ शुभ और अशुभ कर्मों का संबन्ध कैसे और क्यों होगा? इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अगले दो श्लोक कहे जा रहे हैं।

कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो।।

किमुताखिलसत्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः।। भा१०/३३/३३, ३४

राजन्! यद्यपि श्रीव्रजांगनायें परदारा नहीं हैं, वे तो परमेश्वर के नित्य दारा हैं, फिर भी थोड़ी देर तक तुम्हारी बात मान लें तो भी यदि गोपियाँ परदारायें भी हों और भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका स्पर्श किया भी हो तथापि उनका यह आचरण धर्म विरुद्ध नहीं माना जाएगा। क्योंकि उनमें कर्ता का भाव है ही नहीं। यदि ईश्वर कर्मफल से नहीं बँधते, तो परमेश्वर क्यों बँधेंगे? और दूसरी बात यह भी है कि रासलीला के समय भगवान् श्रीकृष्ण की अवस्था मात्र आठ वर्ष दो महिने बाईस दिन की है जिसमें गोपियों का स्पर्श करने पर भी उनमें न तो संभोक्तृ भावकी कल्पना की जा सकती है और न ही संभव है। धर्मशास्त्र के अनुसार बारह वर्षपर्यन्त बालक में शुभ और अशुभ कर्मों का संबन्ध नहीं होता। अर्थात् बारह वर्ष तक बालक अशुभ कर्मों का पाप भागी नहीं होता। यह तथ्य महाभारत के विदुर की अवतार कथा से सुस्पष्ट हो जाता है। वहाँ कथा के अनुसार यमराज ने अणीमाण्डव्य को इस लिए शूलि पर चढ़ाने का दण्ड दिया कि उन्होंने अपने पूर्वजन्म में एक पक्षी को तीर से मारा और उनकी तीर की नोक पक्षी के शरीर में टूट कर फँस गई थी। अणी माण्डव्य ने कहा, बारह वर्ष से पहले बालक को पुण्य और पाप किसी का भी फल भोगना नहीं पड़ता जब कि आपने (यमराज ने) इसी बाल्यावस्था में किए हुए कर्म के दण्ड के अनुसार मुझे शूलि पर चढ़ाया। जाइये आपको एक ही समय राजा दासीपुत्र और भंगी बनकर जन्म लेना पड़ेगा।

"बालो हि द्वादशाद् वर्षाज्जन्मतो यत् करिष्यति।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्तिवै दिशः।।"

महाभारत आदिपर्व १०७—१४

इसी शाप के आधार पर यम को धर्मराज युधिष्ठिर, विदुर और एक चाण्डाल के रूप में जन्म लेना पड़ा। इस दृष्टि से भी भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला पूर्ण निर्दोष है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीशुकाचार्य जी कहते हैं—

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरंचरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना —
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः।।

भा. १०/३३/३५

अरे राजन्! जिन भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणकमलों के पराग की सेवा से सन्तुष्ट हुए मुनिजन भक्तियोग के प्रभाव से संपूर्ण शुभाशुभ कर्मबन्धनों को तोड़कर स्वच्छन्दता से विचरण करते हैं और विधि तथा निषेधों से संबद्ध नहीं होते, अर्थात् न तो उन्हें शुभ कर्म का पुण्य लगता है और न ही अशुभ कर्मों का पाप। तो फिर उन्हीं मुनिजनों के स्वामी अपनी इच्छा से दिव्य चिन्मय शरीर स्वीकारे हुए भगवान् श्रीकृष्ण के पास कर्मबन्धन कहाँ से आ जाएगा? भला जब भगवान् के भक्त ही शुभाशुभ कर्मफल से मुक्त होते हैं तो फिर भगवान् की क्या बात? राजन्! तुम्हारी अवधारणा की दृष्टि से भी रासलीला में कोई दोष नहीं है जबकि अभी सिद्धान्त पक्ष तो शेष ही है।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक्।।
अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।।

भागवत १०/३३/३६, ३७

हे राजन्! वास्तविक सिद्धान्त तो यह है कि श्रीव्रजांगनायें परकिया नहीं हैं, वे सब की सब भगवान् श्रीकृष्ण की ही पत्नीयाँ हैं। राजन्! थोड़ा विचार तो कीजिए, जो गोपियों के और सामान्य दृष्टि से गोपियों के सामान्य पतियों के और सभी प्राणियों के हृदयों में अन्तर्यामीरूप से विराजमान रहते हैं, वे ही श्रीकृष्णचन्द्र ''क्रीडनेन'' अर्थात् अपने खिलौनें बनी हुई गोपियों के शरीर का स्पर्श कर रहे हैं। ''क्रीडनेन'' में प्रकृत्यादित्वात्'' अभेद में तृतीया है। भगवान् गोपियों के हृदय में भी हैं और उनके सांसारिक पतियों के भी हृदय में। जो भीतर से आलिंगन कर रहा है उसके बाहर के आलिंगन में क्या आपत्ति है? इस श्लोक में प्रयुक्त ''तत्पतीनां'' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। पति शब्द मुख्य का भी वाचक है। जैसे दार शब्द पत्नी रूप अर्थ कहता हुआ भी पुलिंग में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार पति शब्द भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होकर मुख्य अर्थ को कहता है। संस्कृत में गृह की मुख्य महिला को गृहपत्नी और गृहपति दोनों कहते हैं। यहाँ ''विभाषा सपूर्वस्य'' (पा. अ. ४/१/३४) सूत्र से विकल्प से न अन्तादेश होकर गृहपत्नी और विकल्प में गृहपति बनता है। इसी प्रकार यहाँ भी पति शब्द मुख्य का वाचक है। अतः अब तत्पति शब्द का अर्थ होगा तन्मुख्य। इस दृष्टि से यहाँ वाक्यार्थ बन गया जो भगवान् गोपियों के और 'तत्पतीनां' अर्थात् उनके यूथेश्वरी श्रीराधा आदि आठ मुख्य सखियों के हृदयों में जो विराजते हैं वे ही भगवान् श्रीकृष्ण 'अध्यक्षः' अर्थात् प्रत्यक्ष होकर अपनी खिलौने बनी हुई गोपियों का स्पर्श कर रहे हैं। यदि कहें कि इस रासलीला की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर यह होगा कि ''अनुग्रहाय भक्तानां'' अर्थात् भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए उसी प्रकार की क्रीड़ाओं को स्वीकार करते हैं जिन्हें सुनकर मनुष्य शरीर में आस्था करनेवाले जीवात्मा भगवत्परायण हो जाए। तात्पर्य यह है कि श्रीरासलीला भगवान् की काम विजयलीला न होकर भक्तानुग्रह लीला है। पहले दिन पाँच प्रकार की गोपियों की चर्चा की गई है उन्हीं श्रीराधाजी की प्रिय सखीवर्ग, श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा, देवकन्यारूपा और मैथिलकन्यारूपा पाँच प्रकार की परमभक्त गोपियों पर कृपा करने के लिए भगवान् ने आप्तकाम होकर भी रासलीला की। इसे सुनकर सामान्य से सामान्य विषयी जीव भी मनुष्य शरीर का सदुपयोग करके भगवत्परायण हो सकता है। हे राजन्! आपकी सभा में स्थित श्रोताओं ने भले ही गोपियों में परकीयात्व का भ्रम कर लिया हो, जब कि तत्कालीन व्रजवासियों ने ऐसा भ्रम नहीं किया। उनमे भगवान् की कृपा से यह यथार्थ ज्ञान आ गया था कि ये गोपियाँ भगवान् की हैं। और व्रजवासियों के लिए तो भगवान् ने मायामय पत्नीयों की व्यवस्था कर ही दी थी।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्–स्वान् दारान् व्रजौकसः।।

भागवत १०/३३/३८

इस श्लोक का सामान्य अर्थ तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण की माया से मोहित हुए व्रजवासी अपनी अपनी पत्नीयों को अपने–अपने पास मान रहे थे, इसीलिए उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति असूया नहीं की, अर्थात् दोषबुद्धि नहीं की। वस्तुतस्तु व्रज में भगवान् की माया का प्रयोग संभव नहीं है। अतः यहाँ माया का अर्थ है कृपा और मोहिताः

शब्द अखण्ड न होकर मा और उहित इन दोनों शब्दों के बहुव्रीहि समास से सप्तमी अन्य पदार्थ में निष्पन्न होता है। यहाँ मा का अर्थ है यथार्थ ज्ञान और उहित का अर्थ है प्राप्ति। ''मा उहिता येषु ते मोहिताः'' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से व्रजवासियों में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो गया। और उन्होंने अपनी–अपनी पत्नीयों को अपने पास स्थित माना। इसी निश्चय के कारण भगवान् श्रीकृष्ण में दोषदृष्टि नहीं की और न ही भगवान् के प्रति कोप किया। अर्थात् उनको यह निश्चय हो गया था कि मायामय व्रजवासियों की मायिक पत्नी उनके पास है और मायातीत परमात्मा के पास हैं मायातीत उन्हीं की गोपियाँ। फलतः इस प्रकार की जटिलतम शंका के समाधान में श्रीशुकाचार्य जी ने जिस सरस्वती प्रतिभा का प्रयोग किया वह प्रतिभा महारासेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधारानी जी से ही प्राप्त हुई थी। अतः श्रीराधारानी जू को योगमाया कहा जाता है।

२७. अथवा, ''योगेषु माया (कृपा) योगमाया तां'' अर्थात् भगवान् के श्रीचरणों में जिनके चित्त का निरोध हो चुका है, ऐसे योगीजनों पर जिनकी अहैतुकी कृपा होती रहती है, वे राधारानी ही योगमाया हैं। यहाँ माया शब्द का कृपा अर्थ है।

२८. अथवा, ''योगाः सन्ति अस्य इति योगः कृष्णः तस्य माया कृपाशक्तिः इति योगमाया राधा तां'' अर्थात् सभी योग जिनके पास हैं, ऐसे योगेश्वर श्रीकृष्ण को भी योग कहते हैं। उन्हीं की माया अर्थात् कृपाशक्ति हैं राधारानी, इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण की कृपाशक्ति अथवा आह्लादिनी शक्ति, आदिशक्ति परमेश्वर की माया राधारानी ही यहाँ योगमाया हैं।

आदिशक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहिं मोर यह माया।।

मानस १/१५२/४

२९. अथवा, ''योगाय श्रीकृष्णचरण संबन्धाय माया कृपा यस्याः सा योगमाया राधा तां'' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीचरणकमल के संयोग के लिए जिनकी कृपा होती रहती है वही राधा रानी यहाँ योगमाया हैं।

३०. अथवा, यहाँ योग भक्ति का पर्यायवाची है, उसके लिए भी श्रीराधा जी की कृपा अपेक्षित है, ''योगाय भक्तियोगाय माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया राधा तां''।

३१. अथवा, यहाँ योग शब्द का बुद्धियोग अर्थ है, उसके लिए भी श्रीराधाजी की कृपा चाहिए। अतः उस बुद्धि योग के लिए जिनकी कृपा बरसती रहती है, उन श्रीराधा जी को ही योगमाया कहते हैं।

ताके जुगपद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ।।

मानस १/१८/८

''योगाय बुद्धियोगाय माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया राधा तां''।

३२. अथवा, ''योगानां मा शक्तिः यस्मिन् स योगमः कृष्णः तं अययति भक्तं प्रति आगमयति इति योगमाया राधा तां''। अर्थात् संपूर्ण योगों की मा याने शक्ति के आश्रय श्रीकृष्ण को ही योगमः कहते हैं। उन योगम श्रीकृष्ण को आययति जो भक्त के समक्ष उपस्थित कर देती हैं, वे वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा जी ही योगमाया हैं।

३३. यहाँ शुद्ध अय् धतु से योगम रूप कर्म के उपपद रहने पर अण् प्रत्यय करके अजादि गण में पाठ मानकर टाप् प्रत्यय से भी योगमाया बनाया जा सकता है। श्रीराधारानी योगम श्रीकृष्ण के पास सदैव बरषाने में आती रहती हैं, इसीलिए उन्हें योगमाया कहते हैं। ''योगमं श्रीकृष्णं अयते इति योगमाया तां योगमायां''।

३४. अथवा, ''अयते इति अया योगमाय श्रीकृष्णाय अया इति योगमाया राधा तां'' क्योंकि श्रीराधा जी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के लिए गोलोक से व्रजमण्डल में आईं इसीलिए उन्हें योगमाया कहते हैं। ''श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'' (गोपीगीत १) यहाँ इन्दिरा पद श्रीराधाजी का भी वाचक है। इन्दि का अर्थ है लक्ष्मी और उनको प्रकट करने के कारण श्रीराधा जी को भी इन्दिरा कहते हैं। ''इन्दिः लक्ष्मीः राति उत्पादयति इति इन्दिरा'' अथवा, ''इन्दिं लक्ष्मीं राति विष्णवे ददाति या सा इन्दिरा राधा''।

३५. अथवा, ''योगमेन श्रीकृष्णेन अय्यते गम्यते या सा योगमाया राधा तां योगमायां'' अर्थात् योगम श्रीकृष्णचन्द्र ही सदैव जिनकी सन्निधि में उपस्थित होते हैं वे श्रीराधा जी ही योगमाया हैं।

३६. अथवा, ''योगेन श्रीकृष्णेन मीयते वंश्यां गीयते या स योगमाया राधा तां योगमायां'' अर्थात् श्रीकृष्ण के द्वारा वंशी में जिनका कीर्तन किया जाता है वे श्रीराधा जी ही योगमाया हैं।

३७. अथवा, यहाँ भी अकार का प्रश्लेष करके व्याख्या करनी चाहिए। अयोगमायां उपाश्रितः, ''योगः संसार संबन्धः तस्य अभावः अयोगः तस्मै माया लीला (कृपा) वा सा अयोगमाया तां अयोगमायां''। भगवती श्रीराधारानी की कृपा से ही साधक का संसार के संबन्धों से विच्छेद होता है, इसीलिए श्रीराधा जी को अयोगमाया भी कहा जाता है।

३८. अथवा, संस्कृत में संबन्ध को भी योग कहते हैं, इसीलिए ''षष्ठीस्थाने योगा'' (पा.अ. १/१/४६) सूत्र में पतंजली ने अयोगा शब्द खण्ड मानकर अनिर्धारित संबन्धार्थ किया है। अतः ''योगाय श्रीकृष्णेन सह जीवस्य सेवक सेव्यभाव संबन्धाय माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया तां'' अर्थात् जिन श्रीराधारानी जी की कृपा से जीव को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के साथ सेवक–सेव्यभाव संबन्ध हो जाता है, वे श्रीवृषभानुकिशोरी ही योगमाया शब्द से कही जाती हैं।

३६. अथवा, ''योगाय भजनसामग्रीसंकलनाय माया शक्तिः यस्यां सा योगमाया तां योगमायां'' श्रीराधा जी में एक ऐसी अचिन्त्य शक्ति है जिससे साधक अपने जीवन में भजनोपयोगी सामग्रियों का संकलन कर लेता है, इसीलिए श्रीराधा जी को योगमाया कहते हैं।

४०. अथवा, संयोग को भी तो योग कहते हैं, श्रीराधा जी जीव के लिए कृपा करके श्रीकृष्णदर्शन का संयोग उपस्थित करती हैं, इसीलिए वे योगमाया हैं। ''योगाय श्रीकृष्णदर्शन संयोगाय माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया तां योगमायां''।

४१. अथवा, ''योगाय निजचरणसंयोगाय माया (कृपा) यस्यां सा योगमाया तां योगमायां''। श्रीराधाजी अपनी अहैतुकी कृपा से सामान्य जीव को भी अपने श्रीचरणकमल का संयोग प्रदान कर देती हैं, इसीलिए उन्हें योगमाया कहते हैं।

४२. अथवा, दर्शन में अलभ्य लाभ को योग कहा जाता है और भगवत् प्राप्ति ही साधक जीव का अलभ्य लाभ है, वह श्रीराधा जी की कृपा के बिना संभव नहीं हो पाता। श्री लाडिली जू उस अलभ्य लाभार्थ जीवों पर कृपा करती रहती हैं, अतः वे योगमाया हैं। ''योगाय श्रीकृष्णप्राप्तिरूपालभ्यलाभाय माया जीवेषु कृपा यस्याः सा योगमाया तां योगमायां''।

४३. अथवा, ''योजनं योगः योगाय गोपीजन योजनाय माया लीला यस्याः सा योगमाया तां योगमायां''। अनेक स्थानों में रहनेवाली अनन्त गोपियों को एक स्थान पर संयोजित करने के लिए जिन्होंने अपनी लीलाशक्ति का प्रयोग किया, उन्हीं श्रीराधा को योगमाया कहते हैं। भगवान् उन्हीं का उपाश्रय लेकर महारास का शुभारंभ करेंगे।

४४. अथवा, ''योगः भगवतो रासलीलाकरण संकल्पः तदर्थं माया लीला यस्याः सा योगमाया तां योगमायां''। भगवान् के रासलीलाकरण संकल्प को योग कहते हैं। उस संकल्प को सिद्ध करने के लिए जिनकी लीलाशक्ति का उपयोग होता है, उन राधा जी को योगमाया कहते हैं।

४५. अथवा, ''अकारो वासुदेवः तेन योगः अयोगः तस्मिन् माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया राधा तां अयोगमायां''। अथवा, संस्कृत में अकार भगवान् वासुदेव को कहते हैं। उनके साथ जीव के संबन्ध के निमित्त जिनकी कृपा होती रहती है, उन श्रीराधा जी को योगमाया कहते हैं।

४६. अथवा, ''युज्यन्ते भगवच्चरणारविन्देन ये ते योगाः गोपीयूथाः भक्तजनाः वा योगेभ्यः माया (कृपा) यस्याः सा योगमाया राधा तां योगमायां''। भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में संबद्ध होनेवाले गोपी समूहों और भक्तों को योग कहते हैं। उन गोपीसमूहों और भक्तों के लिए जो शतत कृपा करती रहती हैं उन राधारानी को योगमाया कहते हैं।

४७. अथवा, ''योगः अघटित घटना संकल्पः तस्मिन् माया यस्याः सा योगमाया राधा तां योगमायां'' अघटित घटनाओं के संकलन को योग कहते हैं, उसके लिए राधा जी अपनी लीलाशक्ति का उपयोग करती हैं, उन्हीं की लीलाशक्ति के प्रभाव से अनन्त गोपियाँ वंशीनिनाद के श्रवण से एक स्थान पर एकत्र हुईं, एक रात्रि में अनन्त रात्रियों का समावेश हुआ। एक पंचक्रोशात्मक वृन्दावन में अनन्त ब्रह्माण्डों का समावेश किया जा सका, इसीलिए उन योगमाया श्रीराधा के उपाश्रय से भगवान् इस लीला को संपन्न कर सके।

४८. अथवा, ''योगाय विवाहाख्याय माया बालकृष्णपरिचरणरूपा लीला यस्याः सा योगमाया राधा तां योगमायां'' अर्थात्, विवाह संबन्ध को भी योग कहते हैं, उसके लिए जिन्होंने बालकृष्ण की सेवारूप लीला प्रस्तुत की थी, अर्थात् बालकृष्ण लाल जू को नन्दालय पहुँचाने की लीला रची थी उन्हीं श्रीराधा को योगमाया कहते हैं।

४९. अथवा, ''योगाय श्रीकृष्णसमागमाय माया स्वकुटुम्बं प्रति छलो यस्याः सा योगमाया राधा तां योगमायां''। भगवान् श्रीकृष्ण से चुपके–चुपके मिलने के लिए जो अपने परिवार से माया अर्थात् छल किया करती हैं, उन परम गोपनशीला राधा जी को योगमाया कहते हैं। कहा जाता है कि एक बार दही बेचने का बहाना ढूँढ़कर श्रीराधारानी जी कन्हैया जी से मिलने जा रही थीं, संयोग से मार्ग में ही श्यामसुन्दर से भेंट हो गई। दही बेचना धरा रह गया अब तो राधारानी को अपने प्रियतम मनमोहन पर टक–टकी लग गई। घण्टों बीत गए उन्हें

ढूँढ़ने निकल पड़ीं वृषभानु जी की दासियाँ। दासियों को दूर से ही आती देखकर कन्हैया जी तो किसी झुरमुट में छिप गए, परन्तु राधा जी क्या करतीं? झट उन्होंने अपनी सहेलियों से कहा, अरी वीर! आज इसलिए विलम्ब हुआ, क्योंकि मार्ग में मेरी नथ गिर गई थी। अब तक मैं उस नथ को ढूँढ़ रही हूँ।

जाति हुति दधि बेचन को जमुना तट पे समुहाय गई री।
सुन्दर श्याम सुजान शिरोमणि झाँकि विलोकि लुभाय गई री।।
चितवनि चारु तिरीछि भटु अँखियान मे आय समाय गयो री।
ढूँढती हौं कब ते सजनी पथ मे नथ मेरी हेराय गई री।।

ऐसी योगमाया का भगवान् ने आश्रय लिया।

५०. अथवा, ''योगं योगेश्वरं कृष्णं मिमीते शब्दविषयी करोति या सा योगमाया राधा''। ''आतोऽनुपसर्गेकः (पा. अ. ३/२/३) इत्यनेन क प्रत्ययः युजागमश्च तां योगमायां'' जो निरन्तर योगेश्वर श्रीकृष्ण को शब्द का विषय बनाकर उनका कृष्ण नाम रटती रहती हैं, उन राधा जी को योगमाया कहते हैं। प्रभु ने उनका आश्रय लिया।

५१. अथवा, ''योगेन योगेश्वरेण श्रीकृष्णचन्द्रेण मीयते शब्द विषयी क्रियते या सा योगमाया'' श्रीराधा जी का उपाश्रय लेकर भगवान् श्रीकृष्ण ने रासलीला का शुभारंभ किया।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। चतुर्थ पुष्प सम्पन्न।।

।। अथ पंचम पुष्पं।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस –
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

अब रास का प्रारम्भ होता है। रास क्या है? रास किसे कहते हैं? बहुत सी नायिकाओं के बीच मे जहाँ एक नायक होता है और अनेक नायिकाओं के साथ वह नायक जिस क्रीड़ा मे नृत्य करता है उसे ही रास कहते हैं।

''एकस्तु नायको बह्वीस्त्रीणांक्रीडति मण्डले।
हल्लीसं नर्तनं यत्र स रासः इति कथ्यते।।''

हम कह चुके हैं कि रसों के समूह को रास कहते हैं। आज भगवान् अनन्त गोपियों को दिव्यस्वाद का अनुभव कराने के लिए अनन्त रसों के रूप मे प्रकट हो गए हैं। इसलिए रसों का समूह ही रास है **''रसानां समूहो रासः''** यहाँ **''तस्य समूहः''** (पा. सू. ४/२/३७) से 'षष्ठ्यन्त रस' शब्द से समूह के अर्थ मे तद्धितीय अण् प्रत्यय हुआ है। भगवान् ने मन बना लिया।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।।''

भागवत १०/२६/१

जिस समय भगवान् आनन्दकन्द ने गोपियों के साथ रास करने के लिए मन बनाया, उसी समय उस मन के देवता के रूप मे चन्द्रमा का भी प्रस्ताव हुआ। यहाँ 'रन्तुं मनश्चक्रे' का प्रयोग है 'भोक्तुं' नहीं, 'यभितुं' नहीं। भगवान् गोपियों के साथ रमण करने का मन बना रहे हैं, रमने का मन बना रहे हैं। यहाँ 'संभोग' या 'याभ' जैसे भावों का प्रवेश भी नहीं है, गन्ध भी नहीं है, उनका लेश भी नहीं है। हम कह चुके हैं कि गोपियाँ सामान्य नहीं हैं ये तो भगवान् आनन्दकन्द की लीला मे परिकरस्वरूप होने के लिए जीवात्म शक्तियाँ ही गोपीभाव को प्राप्त हो गई हैं। जीवात्मा से परमात्मा का रमण होगा। भगवान् की साक्षात् भक्ति, पाँच प्रकार के शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और कान्ताभावापन्न होकर भगवान् के साथ रमण करने की इच्छा कर रही है। भक्ति की भगवान् के साथ क्रीड़ा है। पाँच प्रकार की जो अर्थपंचक की अवधारणा है, वो अर्थपंचक की पाँचों अवधारणाओं से युक्त होकर के गोपियाँ भगवान् के साथ रमेंगी। अर्थात् स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, फलस्वरूप और विरोधीस्वरूप इन पाँचों अवधारणाओं की आज पुष्टि होगी। गोपियाँ चातकवृत्ति, कोकिलवृत्ति, शुकवृत्ति, चकोरवृत्ति और मयूरवृत्ति से संपन्न होकर भगवान् के साथ रम रही हैं, भगवान् की क्रीड़ा मे उपकरण बन रही हैं, भगवान् की खिलौने बन रही हैं। गोपियाँ भगवान् की खिलौने हैं **''क्रीडनवच्च कारिताः''** और इन्हीं खिलौनों के साथ भगवान् रमेगे **''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे''**। जब भगवान् का संकल्प हुआ गोपियों के साथ रमण करने का, गोपियों के साथ खेल करने का, उसी समय दिव्य चन्द्रमा भी उदित हुए।

''तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्याः विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः।।''

भागवत १०/२६/२

'तदा' अर्थात् उस समय 'उडुराजः' नवीन चन्द्रमा 'प्राच्याः ककुभः' प्राची दिशा के 'मुखं' मुख को 'अरुणेन विलिम्पन्' सुन्दर अपने अरुणिम किरणों से अथवा **"शन्तमैः करैः धृतेन अरुणेन विलिम्पन्"** अपनी सुन्दर किरणों मे धारण किए हुए 'अरुण' अर्थात् कुम्कुम् से अभिनन्दित करते हुए और 'चर्षणीनां' संपूर्ण जीवों के 'शुचः मृजन्' शोक को दूर करते हुए 'दीर्घदर्शनः प्रियः प्रियायाः मुखं विलिम्पन् इव' उसी प्रकार प्रकट हो रहे हैं, जिस प्रकार से बहुत विलम्ब से जिनका दर्शन हुआ है अथवा, दीर्घ (विशाल) हैं दर्शन अर्थात् नेत्र जिनके ऐसे 'प्रियः' समस्त प्राणीमात्र के प्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण 'प्रियायाः' जिस प्रकार राधा जी के मुख का लेप करते हुए प्रकट होते हैं और सबको आनन्द देते हैं अर्थात् चन्द्रमा उसी प्रकार प्रकट हो रहे हैं जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण राधारानी जी के मुख को कुम्कुम् से अभिरक्त करते हुए दर्शन देते है। **"तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्याः विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः"** अथवा, यहाँ 'उडुराज' पद भी भगवान् श्रीकृष्ण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है **"दीर्घदर्शनः प्रियः ककुभः प्राच्याः प्रियायाः मुखं करैः अरुणेन विलिम्पन् चर्षणीनां शुचः मृजन् इव उदगात्"** अर्थात् 'तदा' उस समय 'उडुराजः' **"उरुधा राजते इति उडुराजः"** अनेक प्रकार से सुशोभित होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र 'दीर्घदर्शनः' **"दीर्घे दर्शने नेत्रे यस्य"** विशाल कमल नेत्रों से संपन्न होकर 'प्राच्याः' परमपूज्य 'ककुभः' के **"गोलोके कौ पृथिव्यां श्रीवृन्दावने भातीति ककुभ् तस्याः"** अर्थात् गोलोक और श्रीवृन्दावन मे सुशोभित होनेवाली ऐसी 'प्रियायाः' अपनी प्राणप्रिया श्रीराधाजी के 'मुखं' मुख को **"शन्तमैः करै धृतेन अरुणेन"** अपने परमपूजनीय कोमल–कोमल हाथों मे धारण किए हुए कुम्कुम् से 'विलिम्पन्' लिप्त करते हुए, अभिरक्त करते हुए 'चर्षणीनां' सखियों के 'शुचः' शोक को नष्ट करते हुए जैसे 'उदगात्' श्रीरासमण्डल मे उपस्थित हुए, अर्थात् जिस समय भगवान् ने गोपियों के साथ क्रीड़ा करने का मन बनाया, उसी समय चन्द्रमा भी उदित हुए। जैसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी श्रीराधारानी के मुखचन्द्र पर सुन्दर कुम्कुम् लगाते हुए सुशोभित होते हैं उसी प्रकार पूर्व दिशा के मुख को भी चन्द्रमा अपनी समरुण किरणों से अभिरक्त करते हुए विराजमान हुए। उसी समय अनेक प्रकार से सुशोभित होनेवाले, दीर्घ नेत्रोंवाले, सबके परमप्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी परम पूजनीय गोलोक ओर श्रीवृन्दावन मे समान रूप से सुशोभित होनेवाली श्रीराधाजी के मंगगलमय मुखकमल को अपने करकमल मे धारण किए हुए कुम्कुम् द्वारा लिप्त करते हुए अर्थात् श्रीराधाजी के मुखारविन्द मे कुम्कुम् लगाते हुए सखियों के शोक को दूर करते हुए प्रकट हुए, अर्थात् गोपियाँ तो रास के लिए उद्यत है ही, परन्तु बिना रासेश्वरी राधाजी के भगवान् रास कैसे करेंगे? इसलिए श्रीराधाकृष्ण का भी प्राकट्य हो गया। कुछ लोग निरर्थक भ्रम करते हैं और एक सन्देह उपस्थित करते हैं कि भागवत् जी मे राधा रानी जी का वर्णन नहीं है, उनका यह पक्ष अत्यन्त सारहीन है। वस्तुतस्तु भागवत् का प्रत्येक श्लोक राधा है और प्रत्येक श्लोक का अर्थ ही श्रीकृष्ण हैं। भागवत् मे वर्णित प्रत्येक अक्षर राधा है और अक्षरार्थ ही श्रीकृष्ण हैं। भागवत् मे प्रयुक्त प्रत्येक शब्द राधा हैं और शब्दार्थ श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा के बिना श्रीकृष्ण कैसे? **"बिना राधा के श्याम आधा"** और भागवत् जी के प्रसंगों मे पग–पग पर श्रीराधारानी जी का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्य पुराणों की भाँति श्रीमद्भागवतम् मे राधारानी का वर्णन अभिधा से प्राप्त नहीं हो पाता वहाँ व्यन्जना वृत्ति का सहारा लेना ही पड़ता है और वही उचित है। अन्य पुराणों मे राधा नाम अभिधेय है, परन्तु श्रीमदभागवम् मे

राधा अभिधेय नहीं, किन्तु व्यंग्य है और उचित भी यही है, क्योंकि **''परोक्ष प्रिया ही देवा भवन्ति''** श्रीमद्भागवतम् के दशम् स्कन्ध मे जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र जी के जन्म की चर्चा आती है, वहीं ब्रह्मा जी के मुख से राधाजी के चरित्र का भी पल्लवन प्रारम्भ हो जाता है। ब्रह्मा जी देवताओं को आकाशवाणी का अर्थ समझाते हुए कहते हैं–

''वसुदेव गृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः।।''

भागवत १०/१/२३

श्रीवसुदेव जी के गृह अर्थात् भवन मे साक्षात् परमपुरुष भगवान् जन्म लेंगे। उनके प्रिय के लिए सुरस्त्रियों को भी जन्म लेना चाहिए, यह है भागवत् का अत्यन्त साधारण अर्थ। वस्तुतस्तु जब विचार किया जाएगा तब अर्थ इसके बहुत ही विपरीत होगा, क्योंकि 'गृह' शब्द का साधारण रूप से भवन अर्थ लिया जाए तो यहाँ सीधा सा प्रश्न होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य श्रीवसुदेव के घर मे तो नहीं हुआ था। वसुदेव तो कंस के कारागार मे हैं तो कंस के कारागार को वसुदेव का गृह कैसे कहा जाए और भगवान् का प्रिय देवताओं की स्त्रियाँ कैसे संपादन करेंगी? **''तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः''** इसलिए यहाँ कुछ और अर्थ की अभिव्यंजना करनी होगी। वस्तुतः ब्रह्मा जी कह रहे हैं कि वसुदेव जी की धर्मपत्नी देवकी में परमपुरुष परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र जी का आविर्भाव होगा। यहाँ **''वसुदेव गृहे''** का अर्थ है **''वसुदेव धर्मपत्न्यां''** **''न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते''** गृहणी को भी गृह कहते हैं। अतः **''वसुदेवे गृहे वसुदेवस्य पत्न्यां''** वसुदेव जी की पत्नी देवकी जी मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का आविर्भाव होगा और **''तत्प्रियार्थं''** **''तस्य श्रीकृष्णचन्द्रस्य प्रिया राधा तत्प्रिया तस्यै इदं तत्प्रियार्थं''** 'तत्' माने श्रीकृष्णचन्द्र जी की प्रिया जो राधा जी हैं उनके लिए 'सुरस्त्रियः संभवन्तु' देवताओं की स्त्रियाँ श्रीव्रज मे गोपी के रूप मे प्रकट हो जायें। अथवा, **''सुरस्त्रियः संभवन्तु''** **''सुष्ठु रमन्ते इति शुभाः मुनयः त एव स्त्रियः''** सुन्दर प्रभु मे रमण करनेवाले मुनि ही स्त्रियों के रूप मे प्रकट हो जायें। अथवा, **''शोभनं रान्ति ब्रह्मतात्पर्यं अर्पयन्तीति सुराः श्रुतयः ता एव स्त्रियः''** ब्रह्म का तात्पर्य निश्चय करनेवाली श्रुतियाँ ही गोपियों के रूप मे प्रकट हो जायें। अथवा, **''नरेषु सुरः नरसुरः जनकः तस्य तेन वा पालिताः स्त्रियः सुरस्त्रियः''** यहाँ 'नर' शब्द का लोप है, नरदेव जनकराज के द्वारा पालित मिथिला की कन्यायें ही गोपियों के रूप मे प्रकट हो जायें। इस प्रकार गोपियों के प्राकट्य के समय 'तत्प्रियार्थं' शब्द का प्रयोग करके ब्रह्मा जी ने स्पष्ट कह दिया कि श्रीकृष्णचन्द्र जी की परमप्रिया, प्राणप्रिय श्रीराधाजी अब वरषाने मे प्रकट हो रही हैं। उनकी सेवा के लिए संपूर्ण मुनिगण, श्रुतिगण, ऋषिगण, देवकन्यायें और जनकराज द्वारा पालित मैथिली कन्यायें गोपीभाव मे श्रीव्रज मे अवतीर्ण हो जायें। इसी प्रकार पग–पग पर श्रीराधाजी की चर्चा श्रीभागवतम् मे आई है। श्रीराधाजी के नाम के संबन्ध मे बड़ी चर्चायें की जाती हैं कि शुकाचार्य जी ने श्रीराधाजी का नाम नहीं कहा, वेदव्यासजी ने भागवत् मे राधाजी का नाम नहीं लिखा, किन्तु यह पक्ष भी बहुत निराधार है। श्रीमद्भागवत् जी के द्वितीय स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे जहाँ श्रीशुकाचार्यजी प्रथम मंगलाचरण कर रहे हैं, वहाँ भी श्रीराधाजी का नाम है–

''नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः।।''

भागवत २/४/१४

भगवान् शुकाचार्य जी कहते हैं, 'सात्वतां' यदुवंशियों मे श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र जी को बारम्बार प्रणाम। कुयोगियों के लिए अर्थात् संसार के भोगों से जुड़े हुए लोगों के लिए जो बहुत दूर हैं ऐसे परमात्मा को बारम्बार प्रणाम और तृतीय तथा चतुर्थ चरण मे बहुत मंगलमय विशेषण दिया है भगवान् के लिए **''निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः''** अर्थात् **''निरस्तसाम्यातिशयेन''** यह एक पद नहीं है **''निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा''** इतना एक पद है। 'राधा' शब्द को शान्त मानकर ''राधाः राधसौ राधसः'' रूप चलाकर भगवान् वेदव्यास जी राधा को एक विलक्षण शक्ति के रूप मे प्रकट करना चाहते हैं, क्योंकि श्रीकृष्णावतार के समय राधा नाम से दो महिलायें प्रसिद्ध थीं। अथवा, यों कहें कि श्रीकृष्ण अवतार काल मे राधा नाम से दो महिलाओं का उल्लेख है एक राधा हैं कर्ण की माता अधीरथ की पत्नी, इसीलिए कर्ण को राधेय कहा जाता है **''राधेयमाराधित जामदग्न्यम्''** (कीरातार्जुनीयम्) और दूसरी राधा हैं आप सबकी माँ, मेरी भाभी माँ भगवान श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया राजराजेश्वरी, त्रिपुरसुन्दरी नित्यनिकुन्जेश्वरी, कीर्तिविजित, निलिम्पनिर्झरी ज्ञानगंभीरचेतस्वती, भास्वती भगवती, तत्रभवती, वरषानेश्वरी, विगत बाधा भगवती राधा। अतः कर्ण की माता अर्थात् अधीरथ की पत्नी राधा से कृष्ण प्राणप्रिया श्रीराधा जी को पृथक् करने के लिए यहाँ वेदव्यास जी ने एक मधुर उपाय प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि कर्ण की माता जो राधा है उसका रूप तो आकारान्त ही चलेगा, **''राधा राधे राधाः''**। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया राधा के लिए जो वेद की विधि है **''राधसां पतये नमः''** उसी प्रकार इस राधा का रूप सकारान्त होगा। स्त्रीलिंग में ''राधा राधसौ राधसः'' अतएव **''निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा''** शब्द का अर्थ होगा **''अतिशयस्य भावः आतिशयं साम्यंच आतिशयं च साम्यातिशये, निरस्ते साम्यातिशये येन यस्माद् वा स निरस्तसाम्यातिशयः, निरस्तसाम्यातिशयः इनः स्वामि प्राणबल्लभः यस्याः सा निरस्तसाम्यातिशयेना निरस्तसाम्यातिशयेना चासौ राधाश्च इति निरस्तसाम्यातिशयेनराधाः तया निरस्तसाम्यातिशयेनराधसा''** अर्थात् जिनके स्वामी प्राणवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र जी साम्य और आतिशय इन दोनों धर्मों से रहित हैं अर्थात् संसार मे न तो कोई श्रीकृष्ण के समान है और न कोई उनसे अधिक है। श्रुति कहती हैं **''न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते''** (श्वेता. ५/८) श्रीमद्भगवद्गीता भी कहती हैं **''न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः''** (गीता ११/४३) कोई भी न तो भगवान् के समान है न भगवान् से अधिक, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण को निरस्तसाम्यातिशयेन कहा जाता है और 'निरस्तसाम्यातिशय' हैं 'इन' स्वामी जिनके उन राधा जी को निरस्तसाम्यातिशयेना कहा जाता है। राधा जी के साथ अपने धामभूत अथवा, अपने तेज से युक्त **''स्वस्य धामः तेजः यस्मिन् तस्मिन्''** अपने तेज से युक्त तेजोमय श्रीमद्वृन्दावन रूप परब्रह्म मे रमण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण जी को हम नमस्कार करते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत् जी के प्रथम स्कन्ध में भीष्मस्तुति के प्रथम श्लोक मे भी राधा शब्द का संकेतन हुआ–

''इति मतिरुपकल्पितावितृष्णा भगवतिसात्वतपुंगवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भव प्रवाहः।।''

भागवत १/६/३२

तात्पर्य यह है कि भीष्म जी कहते हैं कि अब मेरी मति मेरी बुद्धि संसार की तृष्णा से रहित होकर उन यदुवंशियों मे शिरोमणि ऐश्वर्यादि छहों भगों से संपन्न भगवान् श्रीकृष्ण मे उपस्थित हो गई है जो 'स्वसुखं' अपने भक्तों को सुखी करने के लिए और 'क्वचित्' किसी एकान्त निभृत निकुंज मे 'विहर्तुं' विहार करने के लिए प्रकृतिं उपेयसि प्रकृतिं अर्थात्

''**प्रकृष्टा कृतिः यस्या सा**'' श्रीराधा जी की कृति प्रकृष्ट है। सूरदास जी ने प्रकृष्ट कृतिवाली राधाजी का वर्णन करते हुए कहा कि राधा जी एक अनुपम बगीचे के समान हैं। वहाँ प्रत्येक उपमान किसी से विरोध नहीं करता। दो कमलों के ऊपर श्रेष्ठ हाथी खेल रहा है। क्या कमल की कभी हाथी से मित्रता संभव है? और सिंह के पास सरोवर, सरोवर के पास पर्वत और उसके पश्चात् वहाँ भी पर्वत के पास सुन्दर कपोत और उसके पश्चात् दिव्य मणियों से युक्त नाग। कहीं तोते, कहीं कोयल, कहीं कौआ और खन्जन के साथ–साथ धनुष भी जबकि धनुष को देखकर अन्यत्र खन्जन डरता है। इस प्रकार अनुपम वाटिका रूप भगवती श्रीराधा जिनकी कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती। यही उनकी इस प्रकार की कृति सबसे प्रकृष्ट है। ''अद्भुत एक अनुपम बाग जुगल कमल पर गज वर क्रीडत ता पर सिंह करत अनुराग''। कहीं सिंह हाथी से प्रेम नहीं करता पर यहाँ सिंह हाथी से प्रेम कर रहा है। ''हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कन्ज पराग रुचिर कपोत बसे ता ऊपर शुक पिक मृग मद काग खन्जन धनुष चन्द्रमा ता ऊपर एक मणिधर नाग। सूर श्याम प्रभु पिबत सुधारस मानत अधरव मुख बड़ भाग।'' इस प्रकार से भागवत् जी के प्रत्येक रमणीय प्रसंग मे राधा जी की चर्चा तो मिलती ही है ओर रासपंचाध्यायी तो बिना राधा जी के संभव ही नहीं है। 'योगमायामुपाश्रितः' स्पष्ट कह दिया कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अयोगमाया किंबा योगमाया दोनों का उपाश्रय कर रहे हैं। राधा जी अयोगमाया भी हैं योगमाया भी हैं। उन ''**योगेषु माया यस्याः सा योगमाया**'' योगियों पर भी उनकी कृपा है और 'अयोगेषु' और जो योग नहीं जानते केवल राधा–राधा नाम रट लेते हैं उन पर भी ''**माया कृपा यस्याः**'' उन पर भी जिनकी कृपा है ''**सा अयोगमाया**'' ऐसी राधा जी का उपाश्रय करके भगवान् श्रीरासलीला का प्रारम्भ कर रहे हैं। चन्द्रमा भी उदित हो गये हैं, नवीन मन भी आ गया है, अब क्या कहना है अब तो लीला का प्रारम्भ होना ही चाहिए और उचित भी है। रसवर्षण कैसे होगा? रसवर्षण के लिए वंशी को नियुक्त करते हैं।

''दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।।''

भागवत १०/२६/३

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र चन्द्रमा को निहार रहे हैं, कुमुदवान को निहार रहे हैं ''**कुमुद–नड–वेतसेभ्यो ड्मतुप्**'' (पा. अ. ४/२/८७) यहाँ 'ड्मतुप्' प्रत्यय हुआ। ''**कुमुदानि सन्ति विकसनियानि यस्य स कुमुद्वान्**'' यहाँ 'मत्वर्थिय' अर्थ मे 'डुमतुप्' प्रत्यय हुआ और इसी डकार के लोप के कारण 'भ' संज्ञा न होने पर भी 'टी' का लोप हुआ तो कुमुद्वान् न होकर अकार का लोप कर कुमुद्वान् बन गया। कुमुद्वान् चन्द्रमा को भगवान् ने देखा, कैसा था? ''**अखण्ड मण्डलं**'' उनके मण्डल मे किसी प्रकार का खण्ड नहीं है। यह चन्द्रमा तब तक उदित रहेंगे जब तक महारास चलेगा और उनको आभा किससे मिली है तो भगवान् शुकाचार्य कहते हैं ''**रमाननाभं**'' ''**रस्य श्रीकृष्ण रसस्य मा शक्तिः राधा**'' अथवा ''**रमयति इति रामा**'' श्रीकृष्ण की रास की जो शक्ति है उसे राधा कहते हैं अथवा, कृष्ण को रमानेवाली राधा रमा है यहाँ और ''**रमायाः आननात् आभा यस्मिन्**'' उन श्रीकृष्ण भगवान् की रमयित्री श्रीराधा जी के मुखचन्द्र से जिसे आभा शोभा प्राप्त हुई है ऐसे चन्द्र को भगवान् ने देखा। और ''**नवकुंकुमारुणं**'' नवीन कुम्कुम के समान अरुण लाल थोड़ी सी लालिमा लिए हुए और 'वनं च तत्कोमल' ऐसे चन्द्र को निहारा भगवान् ने और ''**वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं**'' ''**तत् कोमलगोभिः**'' चन्द्रमा की कोमल–कोमल किरणों से अभिरंजित श्रीवृन्दावन को 'दृष्ट्वा' निहारकर, दर्शन करके भगवान् ने 'कलं जगौ' सुन्दर श्रीमद्वंशी

का आश्रय लेकर सुन्दर गीत गाया। कैसा था वह गीत? **''वामदृशां मनोहरं''** सुन्दर नेत्रवाली गोपियों के मन को हरनेवाला था। अथवा, **''जगौ कलं वाम दृशां मनोहरं, वाम दृशां मनोहरं श्रीकृष्णचन्द्रस्य वामे स्थिता या राधा सा वामस्था तस्यां दृग् यासां ताः वामदृशः तासां मनोहरं''** श्रीकृष्णचन्द्र जी के वामभाग मे विराजमान श्रीराधा जी मे जिनके नेत्र लगे हुए हैं ऐसे गोपियों के मन को हरनेवाला गीत गाया। यहाँ मध्यम 'पदलोपी' बहुव्रीहि हुआ है। अथवा, 'वामदृशां मनोहरं' यहाँ आदरार्थ मे बहुवचन है **''वामा दृक् यासां ताः वामदृशः''** जिनकी सुन्दर दृष्टि है ऐसी राधा जी के मन को भी हरनेवाला गीत भगवान् ने गाया। **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरं''** इतना सुन्दर गीत भगवान् ने गाया। अथवा, **''वामदृशां मनोहरं''**, **''वामा अति रमणीया दृक् तात्पर्य दृष्टिः यासां ताः वामदृशः श्रुतयस्तासां मनोहरम्''** जिनकी तात्पर्य दृष्टि अत्यन्त सुन्दर है ऐसी वाम दृश श्रुतियों के मन को हरनेवाला गीत भगवान् श्रीकृष्ण ने गाया। अथवा, **''वामदृशां मनोहरं''**, **''भगवतो वामा राधा तस्यां दृशः यासां ताः वामदृशः ऋषिरूपाः''** भगवान् के वामांग मे विराजमान राधा जी के चरणों मे जिनकी दृष्टि है ऐसी ऋषिरूप वामदृश गोपियों के मन को हरनेवाला गीत भगवान् ने गाया। अथवा, **''वामा स्वर्ग विरूद्धा श्रीकृष्ण चरणारविन्दानिरुद्धा दृक् यासां ताः वामदृशस्तासां''** 'वाम' अर्थात् स्वर्ग से विरूद्ध जिनकी दृष्टि हो गई है, वह जो एकमात्र श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के ही अनुरोध मे तत्पर है, ऐसी जिनकी दृष्टि है उन देववधूओं के भी मन को हरनेवाला गीत भगवान् ने गाया। अथवा, **''वामदृशां''**, **''वामा वमन्ति अनुरागं इति वामाः एवं भूताः दृशः नेत्राणि यासां ताः वामदृशः''** अर्थात् श्रीकृष्णप्रेमरस का वमन करनेवाली जिनकी दृष्टियाँ हैं ऐसी मैथिली गोपियों के मन को भी चुरानेवाला गीत भगवान् ने गाया। 'जगौ कलं' 'कलं जगौ' अव्यक्त और मधुर गाया जिनका सामान्य व्यक्ति अर्थ नहीं लगा सकता, जिनका अर्थ समझने मे भी संपूर्ण संसार असफल हुआ, जिस गीत का अर्थ केवल उन्हीं परम भागवती श्रीव्रजांगनाओं ने समझा, जिन्हे भगवान् बुलाना चाह रहे थे **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्''**। यहाँ यह ध्यान रहे कि राधा जी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के साथ निरन्तर विराजमान हैं, इसलिए इसी दशम स्कन्ध के तेइसवें अध्याय मे जो भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान वर्णित हुआ है, यज्ञपत्नियों के समक्ष कितना रोचक है।

''श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्।।''

भागवत १०/२३/२२

यज्ञपत्नियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को निहार रही हैं। वे कैसे हैं? नवीन जलधर के समान श्यामल, नीलकमल के समान श्यामल, नीलजम्बूफल के समान श्यामल, नीलदूर्वादल के समान श्यामल, नीलयामुनजल के समान श्यामल, नीलातिशी पुष्प के समान श्यामल और 'हिरण्यपरिधिं' सुन्दर स्वर्ण के समान पीत आभा मे देदीप्यमान पीताम्बर धारण किए हुए **''वनमाल्यबर्ह धातुप्रवालनटवेषं''** सुन्दर वनमाला, 'बर्ह' अर्थात् मयूरपीच्छ, धातु और प्रवाल को धारण करनेवाले नटवेश मे विराजमान और 'अनुव्रतांसे विन्यस्तहस्तं' अनुव्रत अर्थात् मित्र नहीं प्रत्युत् **''अनुव्रतायाः अनुकूलं व्रतं यस्याः सा अनुव्रता राधा तस्याः अंसे अनुव्रतांसे''** जिनका व्रत श्रीकृष्ण के लिए अनुकूल है, ऐसी श्रीकृष्ण की अनुव्रता राधा जी के स्कन्ध पर 'विन्यस्तहस्तं' अपनी दाहिनी भुजा को धारण किए हुए 'इतरेण धुनानमब्जं' और वाम हस्त से कमल पुष्प को हिलाते हुए 'कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्' और अपने कर्ण मे नीला कमल धारण किए हुए सुन्दर कुटिल–कुटिल कोटि–कोटि भ्रमरावलियों को निन्दित् करनेवाले अलकों से सुशोभित कपोलवाले 'कर्णोत्पलालककपोल' और सुन्दर कर्ण कुण्डल

को धारण किए हुए मंगलमय मुखचन्द्र से मन्द–मन्द मुस्कुराते हुए ऐसे त्रिभंगललित मदनमोहन श्यामसुन्दर को यज्ञपत्नियों ने निहारा। वहाँ भी 'अनुव्रता' शब्द से राधारानी का संकेतन हुआ। इसी प्रकार यहाँ श्रीरासलीला मे श्रीराधारानी भी तो भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नित्य हैं ही और ये गोपियाँ भी उनकी कायव्यूह गोपियाँ हैं और अन्य जो भी गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रास में आयेंगी वो राधारानी जी की कृपा से ही आयेंगी। उनकी कोई प्रतिपक्षिणी हो ही नहीं सकती। जहाँ भी प्रतिपक्ष की चर्चा है वह केवल रस अभिवर्द्धन की दृष्टि से है, परमार्थतः राधारानी की कोई भी गोपी प्रतिपक्षिणी नहीं है। उनका किसी से सापत्न्य नहीं है, क्योंकि मुख्यरूप से तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र राधा जी के ही वर हैं और किसी के नहीं। इस पर एक विनोदपूर्ण आख्यायिका भी प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा था, कितने वर होते हैं? बीरबल ने कहा, हमनें तो दो ही वर सुने हैं या तो सीतावर या राधावर। अकबर ने कहा, बीरबल! तो क्या तुम अकबर को नहीं सुने हो? बीरबल ने कहा, यदि इसी प्रकार के वरों की गणना की जाएगी तो हमनें तो गोबर को भी तो सुना है, फिर गोबर को भी वर माना जाए। तात्पर्य यह है कि भगवान् मुख्यरूप से राधावर हैं, इसलिए कभी 'गोपीवर' उन्हें नहीं कहा जाता, 'गोपीपति' नहीं कहा गया, 'गोपीश' नहीं कहा गया, कहा तो जाता है राधेश ही। एतावता प्रत्येक गोपी राधारानी की इच्छा से ही रासमण्डल मे प्रवेश कर पाती है। अतएव **''जगौ कलं वामदृशां मनोहरं''** भगवान् ने गीत गाया इससे इस रासपंचाध्यायी को श्रौत सिद्ध करते हैं वेदव्यास, क्योंकि श्रुति कहती हैं कि **''तद् गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते''** भगवान् ने प्रेम से गाया और भगवान् का गान सुनकर के ही गोपियाँ आयेंगी। और अब क्या था, मुरली ने सन्देश दे दिया ''श्रीकृष्ण आ चुके हैं''। श्रीवेणुगीत के क्रम मे तो मुरली ने स्वयं गाया था और आज अब मुरली नहीं गायेगी। गोपियों के प्रति उसको थोड़ा सा सापत्न्य भाव हो गया है, परन्तु मुरली को माध्यम बनाकर भगवान् स्वयं गा रहे हैं। आगे वेदव्यास जी ने 'इन्द्रवंशा' और 'वंशस्थ' दोनों की उपजाति छन्द ने गाया।

''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।''

भागवत १०/२६/४

''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं'' यह श्लोक बहुत महत्वपूर्ण है और इसको समझने के लिए संपूर्ण सनातन धर्मावलम्बियों को भी अपना मन महत्वपूर्ण बनाना पड़ेगा। चिन्तन, अपनी की दिशा बदलनी पड़ेगी क्योंकि यह समय कुछ विचित्र सा है। चारों ओर से चतुर्दिक् भारतीय संस्कृति को निगल जाने के लिए विदेशी संस्कृति सुरसा के समान खड़ी है। भिन्न–भिन्न 'टी0 वी0 चैनल्स' पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी संस्कृति का ही प्रचार करने मे लगे हैं, अकाण्ड ताण्डव मचा हुआ है। दुर्भाग्यवशात् वर्तमान मे भारत की प्रायशः ७५ प्रतिशत युवक युवती विदेशी चकाचौंध मे प्रभावित होकर भारतीय मूल्यों से विमुख होते जा रहे हैं। इसलिए अब हमको पहले की अपेक्षा अधिक सावधान रहाना होगा और भारतीय वाङ्मय को ठीक–ठीक मूल्यांकित करना होगा। हम कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण का गीत प्राकृत नहीं है। 'अनंगवर्धनं' का यदि सीधा अर्थ लिया जाए तो 'अनंग' अर्थात् काम को बढ़ानेवाला गीत है श्रीकृष्ण का तब तो अनर्थ हो जाएगा। ऐसा संभव ही नहीं है श्रीकृष्ण का गीत काम को नहीं बढ़ा सकता। जिनकी 'गीता' सारे संसार को अलौकिक आध्यात्मिक सुधा से आप्लावित करती आ रही है लगभग पाँच सहस्राब्दियों से, उन्हीं श्रीकृष्ण का गीत तुच्छ काम को क्यों बढ़ावा देगा? इसलिए यहाँ 'अनंगवर्धनम्' पर कुछ दूसरा ही सोचना

पड़ेगा। यहाँ टीकाकारों के मतों को उद्धृत करना भी मैं उचित मान रहा हूँ। दुर्भाग्य से श्री श्रीधराचार्य से लेकर अन्वितार्थ प्रकाशिकाकारपर्यन्त सभी संस्कृत टीकाकारों ने 'अनंग' का अर्थ काम और 'वर्धनम्' का अर्थ बढ़ानेवाला माना है, जबकि यह अत्यन्त असंगत है। होगा 'गीत गोविन्द' अद्‌भुत ग्रन्थ अन्तरंग उपासकों की दृष्टि से, उनकी भावना को हम ठेस नहीं पहुँचाते। किन्तु मैं तो यही निवेदन करूँगा कि सामान्य रूप से 'गीत गोविन्द' मे जिस उच्छृंखल श्रृंगार का वर्णन किया गया वह संस्कृत साहित्य ही नहीं भारतीय साहित्य के लिए भी दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय रहा होगा अथवा था और है भी। क्योंकि जयदेव की उस उक्ति का यदि हम अनुशीलन करें तो यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति उच्छृंखल श्रृंगार का आरोप जयदेव की व्यक्तिगत मानसिकता का परिणाम है। उनकी प्रतिज्ञा है **''यदि हरिस्मरणे सरसं मनः यदि विलासकलासु कुतूहलम्।''** यदि भगवान् के स्मरण मे मन सरस है तब भी जयदेव को सुनो और इसके अतिरिक्त भी यदि विलासकला यदि कामकेलि के संबन्ध मे तुम्हें जिज्ञासा है तो भी सुनो। कितना दुर्भाग्य है श्याम के साथ काम का संबन्ध। श्याम के साथ काम का संबन्ध उतना ही दुर्भाग्यपूर्ण है जितना गंगा जी के साथ गटर का संबन्ध है। जैसे अमृत के साथ विष का संबन्ध, **''जहाँ राम तहाँ काम नहीं''** संयोग से सामान्य भारतीय मानस संस्कृत जानता नहीं। यदि 'गीत गोविन्दम्' के उत्तेजक श्रृंगार की ओर देखा जाए तो कभी कभी तो मन को बहुत–बहुत पीड़ा होती है। जयदेव ने अपनी व्यक्तिगत कामवासना को श्रीकृष्ण का माध्यम बनाकर जनता को परोसा यह ठीक नहीं हुआ। इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि श्रीकृष्ण की अवस्था अभी मात्र आठ वर्ष की है आज भी आठ वर्ष का बालक इस प्रकार के उच्छृंखल कामकेलि मे प्रवृत्त नहीं हो सकता, तो फिर योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण क्यों ऐसा करेंगे? हम इस बात को बार–बार कहते आए हैं कि यहाँ 'रम' धातु का प्रयोग हुआ है **''रमु क्रीडायां''** (पा. धा. ८५३) 'रमु' धातु का अर्थ है क्रीड़ा और वो भी बालक की निर्दोष क्रीड़ा **''यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः''** (भा.१०/३३/१७) जैसे छोटा सा बालक अपने प्रतिबिम्बों के विलास का आनन्द लेता है, जैसे छोटा सा बालक अपनी परछाईयों से खेलता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण खेल रहे हैं। वहाँ कैसा ग्राम्य धर्म? वहाँ कैसी वह पशुप्रवृत्ति की क्रीड़ा? यह सब तो राजकवियों की रीझानेवाली परम्परा है और इसी कारण विद्यापति जैसे कवि भी इस भावना के शिकार बने। राजा रानी को संतुष्ट करने के लिए जयदेव से लेकर घनानन्द और पद्माकर प्रवृत्ति संपूर्ण राजकवियों ने जिस उच्छृंखल मनोवृत्ति का परिचय दिया उससे भारतीय मानस बहुत आहत हुआ है। भारत का शौर्य सन्देहग्रस्त हुआ है। अतः श्रीकृष्ण के इस रासलीला को यदि राष्ट्रलीला के परिप्रेक्ष्य में देखा जाता तो कदाचित् बहुत प्रासंगिक हो गया होता और मुझे तो लगता है तब भारत को यह परतन्त्रता का दुःखद अध्याय भी नहीं देखना पड़ता। इसलिए यहाँ मैं यही निवेदन करूँगा 'अनंगवर्धनम्' के और भी कुछ अर्थ हो सकते हैं उनकी चर्चा करके फिर अपनी सिद्धान्तसम्मत चर्चा करूँगा। 'अनंगवर्धनम्' यदि 'वृधु' धातु से ही 'वर्धनम्' शब्द को निष्पन्न करना हो तो 'अनंगवर्धनम्' अर्थात् सात रस अंगी होते हैं। और श्रृंगार–शान्त–वीर–करुण और भक्तिरस को काव्यशास्त्र मे अंगीरस माना गया है, तो अंगीरस को 'अनंग' कहते हैं। अंग से भिन्न रस अर्थात् **''अनंगं श्रृंगारम् वर्धयति''** श्रृंगाररस को बढ़ानेवाला गीत अथवा, **''अनंगं अंगिरसं वीराख्यं वर्धयति इत्यनंगवर्धनं''** भगवान् श्रीकृष्ण ने वीररस का उद्दीपक गीत गाया, इस गीत से गोपियों को यह संकेत किया कि हे गोपियों तुम डरो नहीं, तुम वीरांगना हो अतः इस नीच कामभावरूप पागल और हिंसक हाथी के गण्डस्थल को फोड़कर तथा मेरे मिलन मे बाधक सांसारिक कठीन लोहबन्धनों को तोड़कर मुझ श्यामसुन्दर के शरण में चली आओ। अथवा, ''अनंगं

अंगरस भिन्नं शान्तमंगिरसं वर्धयति इति अनंगवर्धनं'' भगवान् श्रीकृष्ण ने शान्तरसरूप अंगीरस को बढ़ानेवाला गीत गाकर गोपियों को यह संकेत दिया कि हे व्रजांगनाओं! अब तुम संसार के प्रति निर्वेदभाव, स्थायीभाव के अनुसार अनासक्त होकर सभी आलोचनाओं प्रत्यालोचनाओं को शान्तभाव से सहन करती हुई मुझ शान्ताकार योगेश्वर कृष्ण के शरण में आ जाओ। अथवा, ''अनंगं अंगरसभिन्नं करुणं अंगिरसं वर्धयति इति अनंगवर्धनं'' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ने अंगरस भिन्न अंगीरस करुणरूप अनंग को बढ़ानेवाला गीत गाया अैर यह संकेत किया कि हे व्रजांगनाओं! यह संसार करुणरस के स्थायीभावरूप शोक का महासागर है और मेरी मुस्कुरान शोकाश्रु सागर को शोषनेवाली है, इसीलिए इस शोकार्णव संसार को छोड़कर मुझ अकारणकरुण करुणावरुणालय परमात्मा श्रीकृष्ण के शरण में आ जाओ। अथवा, ''अनंगं अंगरसभिन्नं अंगिनं भक्तिरसं वर्धयति इति अनंगवर्धनं'' भगवान् श्रीकृष्ण ने अंगरस से भिन्न भक्तिरसरूप अंगीरस अर्थात् अनंग को बढ़ानेवाला गीत गाकर गोपियों को यह निर्देश दिया कि इस भारत भूमि में जन्म लेकर देवदुर्लभ मानवशरीर प्राप्त करके इसका दुरुपयोग मत करो। मुझ परमेश्वर को भजो।

देह धरे कर यह फल भाई।
भजिय राम सब काम बिहाई।। मानस ४/२३/७

''न विद्यते लौकिकः अंगसंगः यस्मिन् सः अनंगः भगवत्प्रेमा तं वर्धयति'' जिसमें लौकिक अंग–संग की वासना भी नहीं है ऐसे 'अनंगवर्धन' अलौकिक भगवत्प्रेम को बढानेवाले गीत को श्रीव्रजांगनाओं ने सुना। अथवा, **''अनंगः भगवत्प्रेम भाव तं वर्धयति इति अनंगः वर्धनम्''** जहाँ अंग–संग की परिकल्पना भी नहीं है, जहाँ संसार का अंग–संग फटकने भी नहीं पाता, ऐसे भगवद्भाव को बढ़ानेवाला, अथवा **''अनंगः न विद्यते अंग संगः यस्मिन् एवं भूतं अनंगं वैराग्यं''** जहाँ संसार का अंग–संग नहीं है, ऐसे वैराग्य को बढ़ानेवाला श्रीकृष्ण का गीत श्रीव्रजांगनाओं ने सुना। **''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्''** वस्तुतस्तु यहाँ 'वृधु' धातु से 'वर्धन' शब्द नहीं निष्पन्न हुआ, यह तो 'वर्ध छेदनपूरणयोः' (पा. धा. १६५५) इस 'वर्ध' धातु से 'वर्धन' शब्द कर्त्ता मे 'ल्युट' प्रत्यय करके बाहुलकात् सिद्ध हुआ है। **''अनंगं कामं वर्धयति छिनत्ति इति अनंगवर्धनम् तत् अनंगवर्धनम्''** भगवान् श्रीकृष्ण ने ऐसा गीत गाया जिसको सुनकर गोपियों के मन में रहा सहा काम समाप्त हुआ। अर्थात् कामरूप वृक्ष को समाप्त करनेवाले, काम लता को काटनेवाले, कामवासना के महापर्वत को चूर–चूर कर देनेवाले, ऐसे श्रीकृष्ण के गीत को गोपियों ने सुना। **''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्''** और केवल गोपियाँ ही नहीं, यह गीत रासपंचाध्यायी के श्रवणकर्ताओं के मन मे भी रहनेवाले धर्मविरूद्ध कामवृक्ष को काट कर फेंक देता है, ऐसे गीत को गोपियों ने सुना। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या 'वर्ध' धातु का प्रयोग छेदन के अर्थ मे अन्यत्र भी हुआ है? यदि नहीं तब तो अप्रयुक्त दोष लग जाएगा। इसका मे विनम्रता से यही उत्तर दे रहा हूँ कि इसके पहले भी आदिकाव्य श्रीवाल्मीकिरामायण के युद्धकाण्ड के १२८वें सर्ग के १३वें श्लोक के दूसरे चरण मे महर्षि वाल्मीकि ने 'वर्धन' शब्द को काटनेवाले अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है–

''ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः स्मश्रुवर्धनाः।
सुखहस्ताश्च शीघ्राश्च राघवं पर्यवारयन्।।''

इसके अनन्तर शत्रुघ्न के वचन को श्रवण करके कुशल दाढ़ी काटनेवाले नाईयों ने श्रीराघव को घेर लिया तो यहाँ 'स्मश्रुवर्धनाः' शब्द का अर्थ है दाढ़ी काटनेवाले, दाढ़ी के बाल काटनेवाले। इसी प्रकार यहाँ भी 'अनंगवर्धन' का अर्थ है काम को काटनेवाले। आज भी

व्यापारियों के समाज मे बोला जाता है, दुकान बढ़ा दो, अर्थात् दुकान को विश्राम दे दो, समाप्त कर दो। और गुजराती मे बोलते हैं, श्रीफल बधेरी दियो अर्थात् श्रीफल को फोड़ डालो, समाप्त कर दो, छिन्न भिन्न कर दो, फोड़ दो, इसलिए यहाँ 'वर्धन' का अर्थ है काटना। इसलिए संस्कृत मे लकड़ी काटनेवाले को 'वर्धकी' कहते हैं **''वर्धयति काष्ठं छिनत्तीति वर्धकी''**। **''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्''** गोपियों ने उस कामवृक्ष को काट देनेवाले गीत को सुनकर 'कृष्णगृहीतमानसाः' भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा जिनके मनों को ग्रहण कर लिया गया है, ऐसी व्रजस्त्रियाँ एक–दूसरे को अपना व्यापार न दिखाती हुई वहाँ आईं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र विराज रहे थे। वेग के कारण श्रीव्रजांगनाओं के कुण्डल भी हिल रहे थे।

''निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम् व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।''

भागवत १०/२६/४

परिपूर्णतम् परात्पर परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र आज गोपियों को रसपान कराने के लिए रासमण्डल में उपस्थित हैं। ये गोपियाँ कोई सामान्य महिलायें नहीं हैं। 'गोपी' शब्द की यदि निरूक्ति की जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि **''गाः इन्द्रियाणि पान्ति श्रीकृष्णचन्द्रचरणारविन्दसमर्चन द्वारा रक्षन्ति याः ताः गोप्यः''** जो अपने इन्द्रियों को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीमद्चरणारविन्द मे समर्पण के द्वारा कामादि विकारों से बचा लेती हैं वे हैं गोपियाँ और **''गोभिः पिबन्ति इति गोप्यः''** जो अपने इन्द्रियों से भगवान् को ही पीती रहती हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि मे भगवान् रस हैं और रस पेय होता है, अर्थात् जो अपने श्रवणेन्द्रिय से भगवान् का चरित्रामृत पीती हैं, जो अपने रसनेन्द्रिय से भगवान् का सुन्दर मंगलमय कीर्तनामृत पीती हैं, जो अपने त्वगेन्द्रिय से भगवान् का स्पर्शामृत पान करती हैं, जो अपने नेत्रेन्द्रिय से भगवान् का सौन्दर्यामृत पान करती हैं, जो अपने घ्राणेन्द्रिय से भगवान् का सौगन्ध्यामृत पान करती हैं और **''गोभिः निजभजनरसमपि भगवन्तं पाययन्ति यास्ता गोप्यः''** जो अपने इन्द्रियों से भगवान् को भी भजनरस का पान कराती हैं, वे हैं गोपियाँ। अर्थात् जो भजनरस का भगवान् को पान कराती हैं और भगवत्रस का पान स्वयं करती हैं। **''गोपायन्ति इति गोप्यः''** जो भगवान् को अपने कान्ताभाव के अंचल मे छिपाकर रखती हैं वे हैं गोपियाँ। अतः इस प्रसंग मे भगवान् के श्रीचरणों मे ग्यारह प्रकार की गोपियों के आगमन का उल्लेख है। ग्यारह प्रकार की गोपियाँ भगवान् के श्रीचरणारविन्द मे आ रही हैं। परन्तु श्रवण सबका समान है आगमन के प्रकारों मे भेद है। ग्यारह प्रकार की गोपियाँ और ग्यारह प्रकार के इनके आगमन। वस्तुतः एक होने पर भी आसक्ति भेद से अन्तर आ जाता है। यहाँ यह जानना आवश्यक होगा कि 'गोपी' का अर्थ है भक्ति। भगवान् की भक्ति ही गोपी है और लगता यही है कि भगवान् आनन्दकन्द, परब्रह्म परमेश्वर, श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणारविन्द की जो भक्ति है वही ग्यारह प्रकार की आसक्तियों के भेद से ग्यारह प्रकार की गोपियों के रूप मे प्रकट हुई। देवर्षि नारद जी कहते हैं, ''गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, पूजासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, नित्यवात्सल्यासक्ति, नित्यकान्ताभावासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्तिरूपाएकाकि एकादशधा भवति।'' एक भक्ति गुणमाहात्म्य की आसक्ति से, भगवान् के रूप मे आसक्ति से, भगवान् के स्मरण मे आसक्ति से, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की पूजा मे आसक्ति से, भगवान् के दास्य मे आसक्ति से, भगवान् के प्रति सख्य अर्थात् विश्वास मे आसक्ति से, भगवान् के प्रति परमवात्सल्य की आसक्ति से, भगवान के प्रति

कान्ताभाव की आसक्ति से, प्रभु श्रीशिखिपीच्छमौलि के श्रीचरणारविन्द मे आत्मनिवेदन की आसक्ति से, तन्मयता की आसक्ति से और परमविरह की आसक्ति से, ग्यारह प्रकार की दिख जाती है। यही आसक्ति इनकी आगमन मे ग्यारह भेद प्रस्तुत कर रही है इस लीला मे। इसमे सर्वप्रथम परमविरहासक्ति का वर्णन करते हैं, क्योंकि वही मुख्य है। भगवान् के परमविरह मे आसक्ति है भगवती राधाजी की, क्योंकि **''रं भगवत्विरह रसं आदरेण दधाति पुष्णाति हृदये या सा राधा''** जो भगवान् की परमविरह माधुरी को आदर से पुष्ट करती हैं वही हैं राधा। एतावता प्रथम प्रकार की जो सखियाँ हैं, श्रीराधा की सखियाँ, श्रीराधा का सखीवर्ग उन्हीं के आगमन की प्रथम चर्चा की। और शुकाचार्य भी लगता है उनके साथ स्वयं हैं। अतः प्रथम बार 'आजग्मुः' कहा, शेष दस गोपियों के संप्रयाण को 'ययुः' कहेंगे अर्थात् प्रथम प्रकार की गोपियाँ आईं और शेष कृष्ण भगवान् के समक्ष गईं, परन्तु सबके श्रवण मे एकता है। श्रीमद्वंशी की ध्वनि सुनी, वह कैसी थी? भगवान् शुकाचार्य कहते हैं **''तदनंगवर्धनम्'' ''तासां एकादश विधानां अपि गोपीनां अनंगं वर्धयति छिनत्तीति तदनंगवर्धनम्।''** एकादश प्रकार की गोपियों के 'अनंग' को अर्थात् काम को नष्ट करनेवाले उस गीत को सुनकर, गोपियाँ प्रभु के पास आ रही हैं। इस पर विवेचन किया जा चुका है कि यहाँ 'वर्धन' शब्द को भुलकर भी 'वृधु' धातु से निष्पन्न नहीं मानना चाहिए। **''वर्ध छेदनपूरणयोः''** पाणिनि धातुपाठ मे १६५५वीं धातु 'वर्ध' से निष्पन्न कर्त्ता मे 'ल्युडन्त' प्रयोग करके 'वर्धन' शब्द को सिद्ध समझना चाहिए अर्थात् **''वर्ध छेदनपूरणयोः''** भगवान् श्रीकृष्ण का यह गीत गोपियों के हृदय मे रहनेवाले काम को काट रहा है और उनके 'अनंग' अर्थात् सांसारिक अंग–संग से रहित परमपावन प्रेमामृत को पूर्ण कर रहा है। यह गीत काम का छेदक है और प्रेम का पूरक है। इस गीत को गोपियों ने सुना और **''कृष्णगृहीतमानसाः''**। प्रथम प्रकार की गोपियों का वर्णन करते हैं। श्रीराधा जी तो भगवान् के साथ नित्य हैं, परन्तु श्रीराधा जी का जो सखीवर्ग है अब उसके आगमन की चर्चा करते हैं। 'कृष्णगृहीतमानसाः' **''कृष्णे गृहीतानि मानसानि यासां ताः''** वे गोपियाँ अब आ रही हैं, जिनके मनों को श्रीकृष्ण ने ग्रहण कर लिया है। अथवा, **''कृष्णेन गृहीतानि मानसानि यासां ताः''** अर्थात् जिनका मन भगवान् श्रीकृष्ण मे गृहीत हो गया है, **''गृहं इतानि गृहीतानि''** भगवान् श्रीकृष्ण को ही जिन्होंने अपना घर मान लिया है निवासस्थान मान लिया है। अथवा **''कृष्ण एव गृहीतः मानसेषु याभिस्ताः''** जिन्होंने अपने मन मंदिर मे श्रीमद्राधामुखचन्द्रचारूचक्षुश्चकोर श्रीनन्दकिशोर कृष्णचन्द्र को जिन्होंने अपने मन मंदिर मे पधरा लिया है वे हैं 'कृष्णगृहीतमानसाः' अथवा, **''कृष्ण गृहीतः मानसेषु याभिः''** भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को जिन्होंने अपने मन मंदिर मे बिठा लिया अथवा, **''कृष्ण एव गृहीतः मानसैः याभिः''** भगवान् श्रीकृष्ण को जिन्होंने अपने मनों के द्वारा ग्रहण कर लिया है, मन से पकड़ लिया है **''ताः कृष्णगृहीतमानसाः''**। अथवा, यहाँ 'मानस' शब्द मनोव्यापारों का उपलक्षण है **''मनसः इमानि मानसानि''** मनोवृत्ति, मनोव्यापारों को 'मानस' कहते हैं। उन मानस व्यापारों मे भी **''कृष्ण एव गृहीतः मानसेषु याभिः''** संपूर्ण मन के व्यापारों मे भी गोपियों ने भगावन् श्रीकृष्ण को ही ग्रहण कर लिया है और इसकी चर्चा मथुरा की स्त्रियाँ करती हैं–

> **''या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।**
> **गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः।।''**
>
> भागवत १०/४४/१५

वेदान्त के मत मे भगवान् वृत्यारूढ़ होते हैं, परन्तु भक्तों के मत मे भगवान् प्रवृत्यारूढ़ होते हैं। ज्ञानी कहता है भगवान् वृत्ति मे आरूढ़ होते हैं, भक्त कहता है,

भगवान् हमारे प्रवृत्ति मे आरूढ़ होते हैं। ज्ञानियों के विचार मे भगवान् आते हैं, पर भक्तों के तो व्यवहार मे भी भगवान् आते हैं। गोपियाँ गोदोहन के समय, अवहनन अर्थात् चावल कूटते समय, दही मथते समय, बालकों को पालने पर झुलाते समय, बालकों को स्नान कराके पोंछते समय, रोते हुए बालकों को चुप कराते समय, और अपने गृहों को मार्जित करते समय, स्वयं स्नान करते समय भी एकमात्र आनन्दकन्दमुकुन्द, मुनिजनपरिपीतचरणारविन्दामन्दमकरन्द, सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को ही गाती हैं। उनकी बुद्धियाँ अनुराग से ओतप्रोत हो जाती है, उनके नेत्र के आँसू उनके कण्ठ तक आ जाते हैं। ऐसी व्रजस्त्रियाँ धन्य हैं जो **''उरुक्रमचित्तयानाः''** उनके चित्तरूप विमान में एकमात्र उरुक्रम रासलीला मे थिरकनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र ही विराजते हैं। अतएव 'कृष्णगृहीतमानसाः' **''कृष्ण एव गृहीतः मानसै याभिः''** उन्होंने अपने मनरूप उपकरण से कृष्ण को ही ग्रहण कर लिया है। अपने मन मे श्रीकृष्ण को ही ग्रहण कर लिया है। अथवा, **''कृष्णेन गृहीताः मानसेषु याः कृष्णेन गृहीतानि मानसानि यासां''** जिनके मन को भगवान् श्रीकृष्ण ने ग्रहण कर लिया है ऐसी श्रीगोपियाँ आज भगवान् के पास आ रही हैं। **''अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः''** अन्योन्य अर्थात् **''अन्योन्यैः न लक्षितः उद्यमः यासां''** किसी के व्यापार को कोई दूसरी सखी नहीं देख रही है। प्रत्येक सखी अपने–अपने व्यापार मे इतनी तन्मय है कि किसी को किसी की चिन्ता नहीं। किसी को किसी की चेष्टा का चिन्तन नहीं हो रहा है और कोई किसी के भी व्यापार को देख नहीं पा रही है। कौन क्या कर रही है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक सन्त के श्रीमुख से सुना हुआ मिथिलाप्रसंग का दोहा प्रस्तुत कर देना उपयुक्त होगा। भगवान् श्रीआप्तकाम पूर्णकाम परमनिष्काम आत्माराम श्यामसुन्दर नीलोत्पलदलश्याम नीलनीरधरश्याम नीलदूर्वादलश्याम भगवान् श्रीराम श्रीमिथिला को पधारे और उनकी रूपमाधुरी का पान करने के लिए संपूर्ण मिथिला के लोग टूट पड़े।

''धाए धाम काम सब त्यागी।
मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।।''

मानस १/२२०/२

श्रीव्रजांगनाओं ने भगवान् के दर्शन के लिए जब अनुधावन प्रारम्भ किया तो उन्होंने पहले काम को छोड़ा फिर धाम छोड़ा, परन्तु यहाँ तो श्रीमिथिला के लोग पहले धाम छोड़ रहे हैं फिर काम को छोड़ रहे हैं **''धाए धाम काम सब त्यागी''** अर्थात् कोई स्नान करता हुआ भी चल पड़ा, मार्ग मे भले उसके हाथ से लोटा या बाल्टी गिर पड़ा हो। कोई भोजन करता हुआ चल पड़ा, मार्ग मे भले उसके मुख से रोटी गिर गई हो। कोई वस्त्र पहनते हुए चल पड़ा, मार्ग मे भले उसके हाथ से वस्त्र छूट गया हो। श्रीव्रज मे तो पहले काम छोड़े गए फिर लोग चले, पर यहाँ पहले चल पड़े फिर उनके काम अपने आप उनसे छूट गए। तो वहाँ एक विशाल भीड़ जमी। सभी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार के मंगलमय मुखचन्द्र को निहार रहे थे। सभी भगवान् के गोल–गोल कपोलों पर लटकते हुए कोटि–कोटि भ्रमरावलियों की भी निन्दा करते हुए सुन्दर–सुन्दर प्रेमरस की श्यामता से परिपूर्ण, कुटिल–कुटिल अलकावलियों से आवृत, साक्षात् अनन्त–अनन्त आनन्द शरद्चन्द्र के समान सुन्दर श्रीमन्मुखारविन्द को देखने मे तन्मय थे। उसी समय एक सास ने अपनी बहु से कहा, अरी पगली! तू यहाँ आ गई है। अभी तेरा नया–नया विवाह हुआ है सभी तुझको देख रहे होंगे। उस बहु ने जो उत्तर दिया वह बहुत मननीय है, उसने कहा, सासू माँ! यहाँ सभी लोग श्रीराम को निहार रहे हैं मुझको कोई नहीं निहार रहा है। आप ही एक ऐसी पापात्मा हैं जो श्रीराम को छोड़कर मुझे निहार रही हैं।

''सबहीं निहारत राम को मोहि न देखत कोई।
तो समान को पापिनी प्रभु तजि देखत मोई।।''

तात्पर्य यही है कि आज कोई किसी को नहीं देख रहा है, सबके दृष्टि मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं, सबके मन मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं, सबके उद्देश्य में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं, सबके परिवेश मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी के मन या वचन अथवा कर्म मे कोई ध्येय, कोई गेय अथवा चिन्त्य पदार्थ नहीं रह गया है। सभी के मन मे एक ही बात है **''कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने''**। प्रत्येक गोपी एक ही भावना से ओतप्रोत है–

''वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने।।''

जिनका श्रीकरकमल वंशी से विभूषित है, जो नवीन बादल के समान आभा से संपन्न हैं, जिनके श्रीविग्रह पर दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर विराजमान है, जिनका 'अधर' ओष्ठ अरुण बिम्बफल के समान है, जिनका श्रीमुख शरद्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा को भी निन्दित् कर रहा है और जिनके नेत्र सुन्दर कमल के समान हैं, ऐसे श्रीकृष्णजी के अतिरिक्त मैं किसी परमतत्त्व को जानने की जिज्ञासा नहीं रखता अर्थात् हम श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते। प्रत्येक गोपी का यही मनोरथ है। अतएव **''आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः''** कोई किसी के उद्यम को नहीं देख रही है। इस प्रकार वे गोपियाँ कहाँ आईं? भगवान् शुकाचार्य जी कहते हैं, **''स यत्र कान्तः''** जहाँ उनके कान्त हैं। संस्कृत मे 'क' का अर्थ है सुख और सुख के अंत अर्थात् सीमा संपूर्ण सुखों की सीमा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी जहाँ विराज रहे हैं वहाँ वे आईं। उनकी परिस्थिति क्या है? 'जवलोलकुण्डलाः' वेग के कारण उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे और **''कुण्डलं कर्णभूषणे आशापाशे च''** कुण्डल का कर्णभूषण भी अर्थ होता है और आशापाश भी। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के मंगलमय तन्द्रा मे सांसारिक आशापाश भी गोपियों के हिल गये। संसार के बन्धन चरमरा गए, संसार की वासनायें समाप्त हो गईं। जो कुछ रही सही थी वे भगवान् की प्रीति सरिता मे बह गईं–

''उर कछु प्रथम वासना रही।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।'' मानस ५/४६/६

गोपियाँ कैसे आईं, किसी ने नहीं देखा। यहाँ 'आजग्मुः' का प्रयोग करके शुकाचार्य जी संकेत करते हैं कि श्रीराधा जी के सखीवर्ग के साथ मैं भी गोपीभावापन्न होकर भगवान् के पास आ गई। अर्थात शुकाचार्य जी कहते हैं मैं भी गोपीभावापन्न हुआ। मैं शुक न होकर शुकी बन गया। शुक धन्य हो गया शुकदेवी बन गया मैं। और आज वहाँ गोपियाँ पहुँच गयी हैं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मुरली श्रीअधरओष्ठ पर धारण करके त्रिभंगललित मुद्रा मे तिरछी चितवन से सबका मन मोह रहे हैं **''स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः''**। इस प्रकार परमविरहासक्तिरूपा जो श्रीराधारानी की सखियाँ हैं उनका वर्ग आ गया। अब शेष दस गोपियों की चर्चा यहाँ करेंगे, जो क्रमेण दस आसक्तियों की प्रतिनिधि हैं। यदि और विचार किया जाए तो हम कह ही रहे हैं कि 'श्रीरासपंचाध्यायी' अर्थपंचक की व्याख्या है अर्थात् इसके एक–एक अध्याय मे अर्थपंचक की एक–एक सिद्धान्त की व्याख्या की गई है। अर्थपंचक मे पाँच सिद्धान्त निरूपित किये जाते हैं 'स्वस्वरूप, परस्वरूप, उपायस्वरूप, फलस्वरूप और विरोधिस्वरूप। 'स्व' अर्थात् जीव का क्या स्वरूप है, किस प्रकार जीव की भगवान् के प्रति क्या भूमिका है? जीव के भगवान् से कौन–कौन से संबन्ध हैं? किस संबन्ध

से जीव सांसारिक प्रपंच को छोड़कर परमात्मा को प्राप्त कर सकता है? जीव के स्वरूप का वर्णन प्रथम अध्याय मे है जिसे हम स्वस्वरूप कहते हैं। द्वितीय अध्याय मे परस्वरूप परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। तृतीय अध्याय मे परमात्मा की प्राप्ति के उपायों के स्वरूप का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय मे परमात्मा की प्राप्ति का जो फल है उस स्वरूप का वर्णन है और रासपंचाध्यायी के पंचम् अध्याय मे परमात्मा की प्राप्ति मे जो बाधक है, उसके स्वरूप का वर्णन है। इसलिए प्रथम अध्याय स्वस्वरूप के वर्णन मे पर्यवशन होता है। जैसा कि हम पहले वक्तव्यों मे कह चुके हैं कि सामान्य लोगों के मत मे यह श्रृंगार प्रवृत्तिलीला है, प्रवृत्तिपरकलीला है। व्यक्ति श्रृंगार मे कैसे प्रवृत्त हो और अपने श्रृंगाररस को भगवान् मे समर्पित करके अपने को धन्य–धन्य कर ले। और श्रीधराचार्य के मत मे यह निवृत्तिपरक रासपंचाध्यायी है "**वस्तुतोऽयं निवृत्तिपरेयं रासपंचाध्यायी**"। और मेरे मत मे यह प्रपत्तिपरक रासपंचाध्यायी है। कैसे जीव भगवान् की शरण मे जा सकता है? कौन–कौन माध्यम हैं, जिनसे वह भगवान् की चरणों मे प्रपन्न हो सकता है? और जब प्रपत्तिपरक इसको माना जाएगा तब यहाँ अर्थपंचक का विचार करना ही पड़ेगा। हमारे श्रीवैष्णवसिद्धान्त मे एक श्लोक कहा जाता है, किन्हें कहते हैं भागवत्, क्योंकि श्रीमद्भागवतम् मे भागवतों की चर्चा है "**श्रीमन्तो भागवताः यस्मिन् प्रतिपाद्याः तत् श्रीमद्भागवतम्**" श्रीराधा जी के कृपाकटाक्ष से संपन्न भागवत् अर्थात् भगवद्भक्तों की जहाँ चर्चा हुई है, जहाँ भगवान् नहीं प्रतिपाद्य हैं प्रत्युत् भगवान् के भक्त भागवत् प्रतिपाद्य हैं "**भगवत इमे भागवताः**" जो भगवान् के हैं उन्हें भागवत् कहते हैं अथवा, "**भगवता अनुगृहीताः भागवताः**" जो भगवान् के द्वारा अनुगृहीत हैं, जिन पर भगवान् कृपा करते हैं वे भागवत् हैं। अथवा, "**भगवता दृष्टा इति भागवताः**" जिन्हें भगवान् ने अपने राजीवलोचन से निहार लिया है उन्हीं को भागवत् कहते हैं। भीष्म ने चलते–चलते यही भगवान् से प्रार्थना की थी, हे देवदेव! भगवान् एक बार आप मुझे निहार लीजिए "**स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम्**" (भा.१/९/२४) एक बार मुझे आप अपने राजीवनेत्रों से निहार लीजिए। "**तनिक हँसि हेरहु नन्दकुमार**" एक बार मुझे निहार लीजिए। "**हम चितवत तुम चितवत नाहीं ऐसी करत अबार**" हे राजीवलोचन! एक बार निहार कर हमे कृतकृत्य कर दीजिए, क्योंकि "**जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन् मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः।।**" जिस प्राणी को एक बार भी भगवान् निहार लेते हैं, वह सात्विक बन जाता है और वही मोक्षार्थ के चिन्तन का अधिकारी बन जाता है। इसलिए "**भगवता दृष्टाः भागवताः**" जिन्हें भगवान् राजीवनेत्र से निहारते हैं उन्हें कहते हैं भागवत्। अथवा "**भगवता रक्षिताः ये ते भागवताः**" जिनकी भगवान् निरन्तर रक्षा करते रहते हैं वे भागवत् हैं। अथवा, "**भगवता भज्यन्ते ये ते भागवताः**" जिनका भगवान् स्वयं भजन करते हैं, वे हैं भागवत्। भगवान् गोपियों का स्वयं भजन करते हैं स्वयं श्रीमुख से भगवान् इसी रासपंचाध्यायी के चतुर्थ अध्याय मे कह रहे हैं–

> **"एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।**
> **मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः।।"**
>
> भागवत १०/३२/२१

जिन्होंने मेरे लिए लोक, वेद और अपने आत्मीय, आत्मा, धन तथा जाति का त्याग कर दिया है, ऐसी आपश्री गोपियों का मैं परोक्ष मे भजन करता रहता हूँ। श्रीरामचरितमानस के श्रीभरत और श्रीमद्भागवत् की गोपियों की प्रायशः एक ही भूमिका है। श्रीरामचरितमानस मे भगवान् श्रीभरत का भजन करते हैं और इस बात को कहते हैं बृहस्पति–

"भरत सरिस को राम सनेही।
जग जप राम राम जप जेही।।"

मानस २/२१८/८

संपूर्ण संसार श्रीराम का भजन करता है और श्रीराम श्रीभरत का भजन करते हैं। ठीक इसी प्रकार से यहाँ भी संपूर्ण संसार भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करता है और भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्व्रजांगनाओं का भजन करते हैं। जहाँ भगवान् ने अपने भक्त के चार प्रकार कहे **"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन"** (गीता ७/१६) चार प्रकार के सुकृत भक्त मेरा भजन करते हैं, **"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"** (गीता ७/१६) आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। भगवान् कहते हैं कि आर्त वे हैं जो चारों प्रकार के पुरुषार्थ मुझी से प्राप्त करना चाहते हैं और विशेषकर अर्थ और काम इन दोनों को मुझसे ही प्राप्त करना चाहते हैं। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए मेरा भजन करते हैं वे आर्त होते हैं। जिज्ञासु धर्म और मोक्ष की इच्छा से मेरा भजन करता है। अर्थार्थी केवल अर्थ की इच्छा से मेरा भजन करता है, परन्तु ज्ञानी केवल मोक्ष की इच्छा से मेरा भजन करता है। तब अर्जुन को जिज्ञासा हो गई कि प्रभु! चारों कुछ न कुछ चाहते हैं, पर श्रीरामावतार के भरत तो कुछ भी नहीं चाहते और श्रीकृष्णावतार की गोपियाँ भी कुछ नहीं चाहतीं। क्या वे लोग आपके भक्त नहीं हैं? श्रीभरत जी कहते हैं,

"अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनक रति राम पद यह बरदान न आन।।"

मानस २/२०४.

तो भरत जी को किस श्रेणी मे माना जाये? श्रीमद्गोपियाँ भी कुछ भी नहीं चाहतीं आप स्वयं श्रीमुख से कह चुके हैं **"एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वनां हि वो मय्यनुवृत्तये"** मेरे लिए इन्होंने लोक, वेद, आत्मा, आत्मीय, धन तथा जाति का त्याग कर दिया है तो इनको किस श्रेणी मे माना जाये? ये तो आर्त नहीं हो सकते, क्योंकि आर्त, अर्थ और काम की इच्छा से आपका भजन करता है। इन्हें धर्म और मोक्ष भी नहीं चाहिए अतः इन्हें जिज्ञासु भी नहीं कहा जा सकता। इन्हें अर्थ नहीं चाहिए अतः ये अर्थार्थी भी नहीं हैं। इन्हें मोक्ष भी नहीं चाहिए इन्होंने तो उद्धव जैसे परमज्ञानी को झुका दिया और उनके ज्ञान पक्ष को बिल्कुल नहीं स्वीकारा। तो इन्हें किस श्रेणी मे रखा जाए प्रभु? तब भगवान् ने बहुत मधुर उत्तर दिया। इसके उत्तर मे मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि यहाँ चकार से निष्काम कर्मयोगियों के ज्ञानियों मे अन्तर्भाव माना जाएगा, परन्तु ऐसा नहीं है। भगवान् का उत्तर यहाँ मननीय है। भगवान् कहते हैं कि यहाँ उनकी चर्चा की है जो मेरा भजन करते हैं **"चतुर्विधा भजन्ते माम्"** परन्तु मैंने उनकी चर्चा नहीं की जिनका मैं भजन करता हूँ। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्त तो मेरा भजन करते हैं, परन्तु श्रीभरत और श्रीव्रजांगनाओं का मैं भजन करता हूँ। तो अपने भजनीय की चर्चा मैंने नहीं की है। अपने भक्तों की चर्चा मैंने यहाँ की है। भगवान् गोपियों का भजन करते हैं। अतः **"भगवता भज्यन्ते ये ते भागवताः"** जिनको भगवान् भजते हैं वे हैं भागवत्। **"भगवान् अस्ति येषु ते भागवताः"** जिनके हृदय मे निरन्तर स्वयं भगवान् विराजते रहते हैं, वे हैं भागवत् और इस प्रकार के भागवत् जिसके प्रतिपाद्य हैं उस ग्रन्थ का नाम है 'श्रीमद्भागवतम्'। तो यदि श्रीमद्भागवतम् भजनप्रधान ग्रन्थ है और भागवत् की व्याख्या क्या है? किसे कहते हैं भागवत्? तो शास्त्र ने कहा कि वस्तुतः भागवत् कौन होता है? अर्थपंचक, **"पंचसंस्कार संपन्नाः अकारत्रयसंयुताः। अर्थपंचकतत्वज्ञा ते वै भागवतास्मृताः"** जो पंचसंस्कारों से संपन्न

होते हैं, जहाँ अकारत्रय होता है और जो अर्थपंचक का तत्व जानते हैं उन्हीं को कहते हैं भागवत् और ऐसे भागवत् के प्रतिपादकग्रन्थ को कहते हैं 'श्रीमद्भागवतम्'। तात्पर्य यह है कि भागवत् के सिद्धान्त की यदि निष्पक्षपात दृष्टि से समीक्षा की जाए तो शास्त्र मे वर्णित भागवत् के लक्षण श्रीमद्भागवतम् मे प्रतिपाद्य भक्तों मे अवश्य होनी चाहिए और भागवत् के लक्षणों मे प्रथम लक्षण है 'अर्थपंचकतत्वज्ञत्व' अर्थात् जो अर्थपंचक का तत्व जानते हैं और जिनके जीवन मे अर्थपंचक उतर आया है वे ही भागवत् हैं। और इस ग्रन्थ मे श्रीमद्व्रजांगनाओं को परमभागवत्शिरोमणि कहा गया है, ये परमभागवती हैं। अतः इनके जीवन मे अर्थपंचक का रहना तो अनिवार्य है ही। इसलिए मेरा पक्ष भागवत् जी के सिद्धान्तों से पूर्ण रूप से अनुमोदित प्रतीत होता है कि यह रासपंचाध्यायी प्रपत्तिपरक ही है। न तो प्रवृत्तिपरक और न ही निवृत्तिपरक। हाँ, निवृत्ति उसका आनुसंगिक फल हो सकता है, क्योंकि शरणागत तो संसार के वासनाओं से निवृत्त होता ही है। इसलिए यदि यह रासपंचाध्यायी निवृत्तिपरक है और प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति तो प्रपत्ति का सिद्धान्त इसमें होना चाहिए और प्रपत्ति के सिद्धान्तों मे सर्वप्रथम सिद्धान्त है 'अर्थपंचक'। अर्थपंचक मे प्रथम ज्ञातव्य है 'स्वस्वरूप'। जीव का क्या स्वरूप हो सकता है? जीवात्मा इस संसार मे जब आता है दस इन्द्रियों के साथ आता है। जिनमे पाँच कर्मेन्द्रियाँ तो छूट सकती हैं पर ज्ञानेन्द्रियों को कभी वह छोड़ नहीं पाता। **"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति"** (गीता १५/७) कर्मेन्द्रियाँ उसकी छूट जाती हैं, पर मन को लेकर के पाँच ज्ञानेन्द्रियों को छोड़ नहीं पाता। जहाँ–जहाँ जाता है, वहाँ–वहाँ वह ले जाता है। जब भगवान् की कृपा हो तब पाँचों इन्द्रियों के संस्कार उससे छूट पाते हैं, नहीं तो

"श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।" गीता १५/८

विषयों के सेवन मे भी वह इन छहों का प्रयोग कर देता है। एतावता इस प्रसंग मे जो ग्यारह प्रकार की गोपियों का वर्णन किया जा रहा है, जो ग्यारह प्रकार की गोपियाँ श्रीकृष्णचन्द्र के चरणारविन्द में आ रही हैं, उनमे मन के सहित दस इन्द्रियों से अविच्छिन्न जीवात्माओं के आगमन का ही वर्णन है। अतः मन के सहित जो गोपियाँ भगवान् की शरण मे आईं उनके लिए शुकाचार्य जी ने कहा 'आजग्मुः' क्योंकि मन उनका भगवान् ने ग्रहण कर लिया **"कृष्णेन गृहीतानि मानसानि यासां"** इसलिए 'आजग्मुः' उनके मनों को भगवान् ने ग्रहण कर लिया है। अथवा, **"कृष्णः गृहीत मानसेषु याभिः"** जिनके द्वारा कृष्ण भी मन में ग्रहण कर लिए गए हैं। अथवा, **"कृष्णः गृहीतः मानसैः याभिः"** जिन्होंने मन को कर्म बनाकर श्रीकृष्ण को अपने मन मे ग्रहण कर लिया है। अथवा, **"मयूरव्यंसकादित्वात्"** समास करें **"कृष्णेन गृहीताः मानसेषु मानसे याः"** गोपियाँ ही भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा मन मे ग्रहण कर ली गई हैं। तो गोपियों को भगवान् ने मन मे ग्रहण किया है और भगवान् को गोपियों ने मन मे ग्रहण किया है। दोनों ने एक–दूसरे को पकड़ कर रखा है। दोनों एक–दूसरे को गलबहियाँ दे रहे हैं। दोनों 'अन्योन्याबद्धवाहवः' इस प्रकार अद्भुत् आनन्द है। प्रथम प्रकार की गोपियाँ **"आजग्मुरन्योन्मलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।"** क्योंकि जो मन की समस्या है वह है 'काम' उसको भगवान् पहले ही काट चुके हैं **"निशम्य गीतं तदनंगवर्धनम्"** 'अनंगं वर्धयति' हम कह चुके हैं कि वाल्मीकि रामायण मे भी छेदनार्थक 'वर्ध' धातु का ही प्रयोग उपलब्ध है। जब भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार रावण का वध करके श्रीअयोध्या पधारते हैं, तब उनकी क्षौर क्रिया करने के लिए सुन्दर कोमल हस्तलाघव से संपन्न श्रीअवध के नाई लोग प्रभु के पास पधारते हैं, तब वहाँ महर्षि वाल्मीकि कहते हैं

''ततः शत्रुघ्नवचनान्निपुणाः श्मश्रुवर्धनाः'' 'श्मश्रु' को काटनेवाले नाई भगवान् के पास आये। इसलिए 'वर्धन' शब्द का छेदन अर्थ में आदिकवि भी प्रयोग कर चुके हैं। अतः यहाँ भी 'अनंगवर्धनम्' मे छेदनार्थक 'वर्ध' धातु का ही प्रयोग करना चाहिए। प्रथम प्रकार की गोपियाँ आ गईं, जिनमे शुकाचार्य भी हैं। अब शेष गोपियों के आगमन की चर्चा करते हैं, जिन्हें हम कई प्रकार से व्याख्यायित कर रहे हैं। एक साथ ग्यारह प्रकार की आसक्तियों से संपन्न ग्यारह प्रकार की ये गोपियाँ हैं और मन सहित दसों इन्द्रियों की अभिमानी जीवात्माओं की वृत्तियाँ भी गोपियाँ हैं। वे भी भगवान् के पास आ रही हैं और श्रीराधा जी के अतिरिक्त एकादशधा भक्ति की प्रतीक जिसमे श्रीमद्भागवतम् मे नवधा भक्ति का वर्णन मिलता है और श्रीरामचरितमानस मे भी नवधा भक्ति का वर्णन उपलब्ध है। दोनों मे थोड़े–थोड़े प्रकारों मे अन्तर हो गया होगा, परन्तु है नवधा भक्ति दोनों मे। नवधा भक्ति के साथ दो भक्तियों के और वर्णन मिलते हैं, प्रेमाभक्ति का वर्णन और प्रेमाभक्ति के साथ–साथ आसक्तिरूपिणी भक्ति का वर्णन इस प्रकार ग्यारह भक्तियाँ भी हो जाती हैं। तो ये भगवान् की भक्ति की प्रतीक हैं गोपियाँ अतः भक्ति के जो ग्यारह प्रकार होते हैं वही यहाँ आगमन के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार प्रथम आसक्ति 'परमविरहासक्ति' जिसका प्रतिनिधित्व राधारानी कर रही हैं और प्रथम भक्ति 'प्रेमाभक्ति' उसका भी प्रतिनिधित्व राधारानी करेंगी। वो और जीवात्माओं की दृष्टि से प्रथम मनोवृत्यवच्छिन्न प्रत्यगात्मवृत्ति उसका भी प्रतिनिधित्व राधारानी का सखीवर्ग कर रहा है। अतः 'आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः' और उसी प्रथम आनेवाली सखियों मे शुकाचार्य ने अपना भी नाम जोड़ा। अतः कह दिया 'आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः' कैसे आईं? शुकाचार्य जी ने यहाँ जानकर परोक्ष लिट् का प्रयोग किया। 'परोक्षे लिट्' ये परोक्ष भी है, भूतकाल भी है और अनद्यतन भी है। अर्थात् हे परीक्षित! ये आज की घटना नहीं है, ये अनद्यतन घटना है। अद्यतन घटना नहीं है और भूतकाल की घटना है। कुछ दिन बीत चुके हैं अब तो रास प्रारम्भ हो चुका है और परोक्ष की घटना है तात्पर्य ये है कि मैं भी गोपीभावापन्न होकर भगवान् श्रीश्यामसुन्दर के चरणारविन्द मे आया। सभी गोपियाँ आईं, पर जब किसी ने नहीं देखा, तो मैं कैसे देख सकता हूँ और जब मैंने नहीं देखा तो मैं इसका वक्ता होने के कारण क्यों न 'परोक्ष' लिट् का प्रयोग करूँ, क्योंकि इसका प्रत्यक्षीकरण मैंने भी नहीं किया। अतः मेरी दृष्टि से भी आगमन का अनुभव मैंने किया है, परन्तु आगमन मे मैं कैसे आया? आगमन मे कौन सा मार्ग रहा होगा? कौन सी गली होगी? पूर्व दिशा से हम लोग आए थे, की पश्चिम से, की दक्षिण से, की उत्तर से यह किसी को कुछ ज्ञात नहीं, क्योंकि 'अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः' इसलिए 'आजग्मुः'। शेष गोपियाँ गईं भगवान् के पास फिर परीक्षित जी के साथ शुकाचार्य जी हो गए हैं। अब कह रहे हैं कि अब मैं आपकी ओर से बोल रहा हूँ। देख रहा हूँ जाना, पर फिर भी मार्ग नहीं देख रहा हूँ। 'ययुः' अनुभव कर रहा हूँ कि अब वो गईं, क्योंकि मैंने अपनी भूमिका तो प्रस्तुत कर ली अब वक्ता की भूमिका मे मैं बात करूँ, क्योंकि वक्ता का वाच्य से पृथक् होना ही पड़ता है। इसलिए अब कहते हैं–

''दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।।''

भागवत १०/२९/५

कुछ गोपियाँ जो दोहन कर रही थीं अथवा गोदोहन करा रही थीं, उन्होंने उन्हें छोड़ दिया। उस कर्म को छोड़ा। कुछ गोपियों ने उबलते हुए दूध को नीचे रखा और उसमे गोधूम के कण डाल ही रही थीं हलुवा बनाने के लिए की वंशी धुन सुनकर उसे

छोड़ा और चल पड़ीं। चलने का हेतु कहते हैं ''समुत्सुकाः'' वे भगवान् के श्रीदर्शनों के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं। श्रीमद्भगवद्गीता मे चरम श्लोक का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों की इस उत्सुकतापूर्ण आगमन का ही स्मरण किया है। गोपियाँ भगवान् की शरण मे कैसे आईं और इसको भगवान् शरणागति ही मानते हैं और इसी रासपंचाध्यायी का स्मरण करके गीता जी को संपूर्ण करते हुए भगवान् ने इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा, यहीं विश्राम ले लिया। अठारहवें अध्याय के ६६वें श्लोक को जब हम देखें तो एक विचित्र परिस्थिति मे भगवान् दिखेंगे। व्रज को वे कभी भूल नहीं पाते **''उद्धव मोहि व्रज बिसरत नाहीं''**। श्रीमद्भगवद्गीता जैसे महाग्रन्थ का प्रस्ताव करते हुए भी वे श्रीव्रज के श्रीस्मरण का अवसर ढूँढ़ रहे थे। कहाँ व्रज का स्मरण किया जाए? क्योंकि बिना व्रज के स्मरण के यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं हो सकेगा। भगवान् ने अर्जुन को बहुत समझाया और अर्जुन बहुत समझे भी, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता के १८वें अध्याय के ६३वें श्लोकपर्यन्त ग्रन्थ को यदि हम देखें तो न तो अर्जुन संतुष्ट लग रहे हैं और न ही भगवान् श्रीकृष्ण, दोनों अभी असंतुष्ट हैं। अर्जुन को लगता है कि अभी भगवान् को और कुछ कहना चाहिए और भगवान् श्रीकृष्ण को भी लगता है कि अभी अर्जुन को और कुछ समझना चाहिए, क्योंकि इतने से अर्जुन का कल्याण नहीं होगा। यद्यपि इसलिए भगवान् को थोड़ा सा रूकना पड़ रहा है। अब तक तो भगवान् धाराप्रवाह से बोल गए। अर्जुन के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे दिया। अर्जुन के पास कोई प्रश्न नहीं रह गया है। अर्जुन प्रश्नशून्य हो गए हैं, परन्तु प्रश्नशून्य होकर भी अर्जुन प्रसन्न नहीं दिख रहे हैं। तो अभी अर्जुन की विषण्णता नहीं गई, प्रसन्न नहीं दिख रहे हैं। भगवान् ने सोचा कि क्या करूँ? अर्जुन का विषाद कैसे जाएगा? प्रश्न है जब तक उन्हें प्रसाद नहीं मिलेगा तब तक विषाद नहीं जाएगा। क्या हो सकता है प्रसाद? अब तक तो मैंने इनको संवाद सुनाया अर्जुन ने कहा, संवाद से मेरा कल्याण नहीं होगा। कितनी भी सुन्दर कथा कोई कहे पर जब तक कथा का प्रसाद नहीं मिलता तब तक कथा पूर्ण नहीं मानी जाती। प्रभु! आपने कथा बड़ी प्यारी कही, संवाद सुना दिया, पर उसका मुझे प्रसाद नहीं मिला और जब तक व्यक्ति को प्रसाद नहीं मिलता तब तक व्यक्ति के दुःखों का नाश नहीं होता **''प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते''** (गीता २/६५) तो अर्जुन भी प्रसाद की अपेक्षा कर रहे हैं। संवाद तो पूर्ण हुआ पर अभी प्रसाद नहीं मिला भगवान् का। अर्जुन से लगता है खीझकर भगवान् ने कहा, **''इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु''** (गीता २/६३) इस प्रकार गोपनीय से भी गोपनीय ज्ञान मैंने तुमको कह सुनाया। इस पर इसका पूर्णरूप से विमर्श करके तुम जो इच्छा करते हो करो **''यथेच्छसि तथा कुरु''**। पहले इसका विमर्श करो फिर जो तुम्हारी इच्छा हो वह कर लेना। अर्जुन चकित हो गए अब मेरी क्या इच्छा रह गई जब मैंने यह कह दिया कि **''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्''** मैं आपका शिष्य हूँ आपके श्रीचरणकमलों मे मैं प्रपन्न हूँ मुझे अनुशासित कीजिए आप। फिर अनुशासन मे क्या अनुशिष्य की अपेक्षा रहती है? यदि इच्छा को ही स्वतंत्रता दी जाए तो अनुशासन कैसा? तो आपने मुझे अनुशासित नहीं किया। अर्जुन कहते हैं, अभी गीता पूर्ण नहीं हुई **''शाधि मां त्वां प्रपन्नम्''** जब तक आप प्रपत्ति का अनुशासन नहीं करेंगे तब तक गीता जी पूर्ण नहीं मानी जायेंगी। भगवान् भी कुछ देर के लिए रूके, लगता है कुछ विचार किया भगवान् ने और फिर कहा, ठीक है अर्जुन अब मैं तुम्हें प्रसाद दे रहा हूँ, क्योंकि बिना प्रसाद के संवाद पूर्ण नहीं हो सकेगा। मैंने गीता के तीन रहस्य तुम्हें सुनाए गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम्। संपूर्ण गीता गुह्य है **''य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति''** (गीता १८/६८) गीता परमगुह्य है और गीता जी का ज्ञान गुह्यतर है **''इति ते ज्ञानमाख्यातं**

गुह्याद् गुह्यतरं मया'' (गीता १८/६३) और उसमे भी पुरुषोत्तम योग जो है वह गुह्यतम् है ''**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ**'' (गीता १५/२०) इतने पर भी जो तुम नहीं समझ पाए तो अब मैं तुमको सर्वगुह्यतमं सुना रहा हूँ ''**सर्वगुह्यतमं भूयः श्रुणु मे परमं वचः**''(गीता १८/६४)। अर्जुन ने कहा, ये तो मैंने पहले ही कह दिया था कि मुझे 'सर्वगुह्यतमं' सुनाइए। इसीलिए आपके स्वभाव से परिचित होने के कारण आपसे तीन संबन्ध स्वीकारे थे। मैं जानता था कि इस अवतार मे आपको कान्ताभाव बहुत प्रिय है प्रभु, इसलिए मैंने आपके सामने अपना कान्ताभाव भी प्रस्तुत कर दिया फिर भी आप मुझसे छिपा रहे हैं। प्रभु! गीता जी के ११वें अध्याय के ४४वें श्लोक में मैंने स्पष्ट कहा है–

''**तस्मात् प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।**
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।''

मैं भी उसी भूमिका मे हूँ श्रीव्रजांगनाओं की भूमिका मे हूँ। जैसे गोपीचीरहरण के प्रसंग मे आपने गोपियों को प्रणाम करने के लिए विवश कर दिया–

''**बद्धवांजलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः।**
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम्।।''

आपने कहा, हाथ जोड़कर अंजलि शिर पर रखकर साष्टांग दण्डवत् करो फिर ले जाओ। तो प्रभु यहाँ तो बिना कहे ही मैं आपको साष्टांग दण्डवत् कर रहा हूँ। आप दण्डवत् करने पर प्रसादित होते हैं ''**शुद्धभावप्रसादितः**'' अतः मैं आपको प्रसादित करना चाह रहा हूँ ''**तस्मात् प्रणम्य**''। भगवान् ने कहा, भाव बताओ न। तो कहा, मैंने तीन भाव प्रस्तुत किए हैं ''**पितेव–पुत्रस्य**'' जैसे पिता पुत्र को क्षमा करता है, जैसे मित्र–मित्र को क्षमा करता है और अंतिम भाव मुझे लगता है आप वही स्वीकार करेंगे। मैं आपका मित्र भी हूँ, पुत्र भी हूँ और वस्तुतः परमार्थ क्या है? अर्जुन ने विनोद मे कह दिया कि प्रभु ''**प्रिय पियायाः**'' जैसे पति अपनी पत्नी के अपराध को क्षमा करता है, उसी प्रकार आप मुझे क्षमा कर दीजिए। भगवान् ने कहा, यदि ये भाव आ गया तो अब मैं तुमसे प्रपत्ति सिद्धान्त का अनुशासन प्रस्तुत करता हूँ। अर्जुन! यदि गोपीभाव की निष्पत्ति होनी ही होगी तो गोपियों जैसी प्रपत्ति भी तुम्हें स्वीकारनी होगी। गोपियों की प्रपत्ति का तुम्हें ज्ञान है? कैसी प्रपत्ति है गोपियों की? ''**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**'' (गीता १८/६६) संपूर्ण धर्मों में से कर्त्तव्य बुद्धि छोड़कर एकमात्र मेरी शरण मे आ जाओ। अर्जुन ने कहा, कोई पहले का उदाहरण है? भगवान् ने कहा, जी। किसका? बोले, व्रज। व्रज का तात्पर्य है 'व्रज इव व्रज' 'व्रज इव आचर' इस सिद्धान्त का व्रजबालाओं के समान ही आचरण करो। जैसे श्रीव्रजांगनायें संपूर्ण धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ गईं। कोई गोदोहन कर रही थी, दोहन का कर्म छोड़ दिया। कोई हलुवा बना रही थीं, दूध नीचे रखा था और उसमे गेहूँ का आटा डालना था वह छोड़कर चली गईं अर्थात् गृह का धर्म छोड़ा, अपना कुलधर्म छोड़ा। कोई गोपी अपने पति को परिवेषण कर रही थी, भोजन परोस रही थी छोड़ दिया, कोई अपने सौतनों के पुत्रों को दूध पिला रही थीं, छोड़ दिया, कोई गोपी पतियों की सेवा कर रही थीं वह छोड़ा, कोई स्वयं भोजन कर रही थी वह भी छोड़ा। कोई अपने शरीर मे लेप कर रही थी अथवा घर को ही गोबर से लीप रही थी उसे छोड़ा। किसी ने घरों का और अपने शरीर का मार्जन छोड़ा। कोई अपने नेत्रों मे अंजन लगा रही थी, सुरमा लगा रही थी उसे छोड़ा और किसी ने तो अपने वस्त्रों को ही व्यत्यस्त कर लिया अर्थात् कटि का वस्त्र ऊपर पहन लिया और ऊपर का वस्त्र कटि मे पहन लिया। तो इस प्रकार जैसे व्रजांगनाओं ने संपूर्ण कर्त्तव्यों को छोड़कर मेरी शरणागति स्वीकारी। तात्पर्य ये था कि व्रजांगनायें जानती हैं कि यदि हम कर्त्तव्य करेंगे तब हम गलत कर सकते हैं, क्योंकि

"**ज्ञात्वा–ज्ञात्वा प्रकुर्वीत**" कर्मों को जान–जानकर करना चाहिए और कर्म इतने कठिन होते हैं कि इसमे बड़े–बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं। कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इसमे विद्वान भी मोहित हैं "**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः**" (गीता ४/१६) तो यदि हम जान–जानकर कर्म नहीं करेंगे तो हमको पाप लगेगा और हमारा ज्ञान सीमित है। जीव का ज्ञान सीमित होता है वह अज्ञान से आवृत होता है। इसलिए हम उसको प्रामाणिकता से जान नहीं सकते, क्योंकि कर्म के ज्ञान मे वेद प्रमाण हैं और वेदों को पूर्ण रूप से जीव जान नहीं सकता, क्योंकि वेदविद् तो केवल भगवान् हैं "**वेदान्तकृत वेदविदेवचाहम्**" (गीता १५/१५) इसलिए भगवान् कहते हैं कि तुम मेरी शरण मे आ जाओ तो मैं तुम्हें प्रामाणिकता से बता दूँगा कि यही करो, यही तुम्हारे लिए वेदविहित् है। क्योंकि विहित् का ज्ञान तुम्हें है नहीं और कभी–कभी व्यक्ति अविहित को भी विहित् मानकर कार्य करने लगता है तो प्रत्यवाय हो जाता है। तो भगवान् ने यहाँ कर्मों के परित्याग की बात नहीं की है और न ही भगवान् की ऐसी कोई धारणा है। यहाँ भगवान् का मन है कि तुम मेरी शरण मे आ जाओ तो तुम्हें सही–सही कर्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाएगा, यथार्थ ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि जो व्यक्ति भगवान् की शरणागति प्राप्त कर लेता है। उसको एक साथ तीनों वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। वह भगवान् की भक्ति रहस्य को भी समझ लेता है। वह भगवत्तत्व के ज्ञान को भी समझ लेता है और उसको संसार से वैराग्य भी हो जाता है। इसका उदाहरण बड़ा मधुर है। जैसे जब व्यक्ति भोजन करने लगता है तो प्रत्येक ग्रास में उसको तीन उपलब्धियाँ होती हैं। उसको स्वाद का अनुभव होता है, शरीर क्रम से पुष्ट होता जाता है और भूख मिटती जाती है। श्रीमद्भागवतम् मे इस सिद्धान्त को बहुत रोचकता से कहा नवयोगेश्वरों ने–

"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतःस्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।"
भागवत ११/२/४२

नवयोगेश्वर कहते हैं कि यद्यपि भक्ति और भगवान् के तत्त्व का ज्ञान और संसार की विरक्ति ये तीनों अन्यत्र पृथक्–पृथक् हैं। इनका कभी समन्वय नहीं होता। जो भजन मे तल्लीन हो जाता है, उसे ज्ञान की इच्छा नहीं होती, क्योंकि वह जिज्ञासु नहीं हो सकता और जो जिज्ञासा मे पड़ जाता है वह उतना मधुर भक्त नहीं हो पाता और जिसको संसार से विरक्ति होती है वह इन दोनों मे नहीं पड़ना चाहता। तो तीनों का समन्वय कहीं नहीं हो सकता। इन तीनों का एक साथ कहीं यदि दर्शन करना है तो वह है भगवान् की शरणागति। भगवान् की शरणागति मे एक ही साथ तीनों होते हैं। जैसे भोजन करते समय प्रत्येक ग्रास में तीनों का अनुभव होता है शरीर स्वस्थ होता है, स्वाद की अनुभूति होती रहती है और भूख की निवृत्ति भी होती रहती है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ पर भी है। इसलिए भगवान् ने कहा, "**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**" (गीता १८/६६) अर्जुन ने कहा कि कर्त्तव्यों को छोड़ने से पाप लगेगा? तब भगवान् ने बहुत मधुर उत्तर दिया, "**अहम् त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**" (गीता १८/६६) भगवान् ने कहा, ये बताओ, सब कुछ छोड़कर गोपियाँ मेरी शरण में आयीं, तो क्या उन्हें कोई पाप लगा? क्या उनको कहीं नरक हुआ? क्या उनको कोई अपवाद हुआ? कुछ नहीं। क्यों? भगवान् ने कहा, वो तो मेरा दायित्व है, मैं तुम्हें पापों से छुड़ा दूँगा, तुम चिन्ता मत करो। इसका तात्पर्य क्या है? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तुम गलत कर्म करोगे फिर भी तुम्हें पाप नहीं लगेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि जब तुम मेरी शरण मे आ जाओगे तब तुम गलत कर्म कर ही नहीं

सकोगे। भगवान् का शरणागत् कभी गलत कर्म कर नहीं सकता। फिर तो भगवान् का दायित्व हो जाता है इससे भगवान् बुरा कर्म होने ही नहीं देते।

''स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोतिसर्वं हृदि सन्निविष्टः।।''

भागवत ११/५/४२

अपने श्रीमत्चरणारविन्द का भजन करनेवाले व्यक्ति से भगवान् विकर्म नहीं होने देते। बुरा कर्म यदि हो भी जाए तो उसे भगवान् समाप्त कर देते हैं। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए श्रीरामचरितमानस के एक प्रसंग की ओर हम जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। श्रीभरत जी भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त हैं। उन्होंने संपूर्ण धर्मों को छोड़कर भगवान् की शरण ली है।

''अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहउँ निरबान।।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन।।''

मानस २/२०४

भरत जी जानते हैं कि उनसे कोई विकर्म नहीं होगा, वेदविरूद्ध कर्म नहीं होगा यदि होगा भी तो भगवान् संभालेंगे और हुआ भी वही जो भरत जी सोच रहे थे। श्रीभरत जी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार द्वारा चौदह वर्षों के लिए श्रीअयोध्या की सेवा मे नियुक्त हुए। भगवान् कह रहे हैं अयोध्या का पालन करो **''पालहु अवध अवधि भरि जाई''** (मानस २/३१५/६) और भरत जी कह रहे हैं, मैं पालन तो नहीं करूँगा, क्योंकि मैं स्वामी नहीं हूँ। मैं सेवक हूँ अतः **''सेवउँ अवध अवधि भरि जाई''** (मानस २/३१३/८) मैं अवधिपर्यन्त श्रीअवध की सेवा करूँगा। सेवक का दायित्व कितना कठिन होता है। भगवान् से उन्हें श्रीपादुका प्राप्त हुयी है।

''नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत राजकाज बहुभाँति।।''

मानस २/३२५

श्रीभरत निरन्तर भगवान् श्रीराम जी के श्रीपादुकाओं का पूजन करते हैं और श्रीपादुकाओं से आज्ञा माँगकर ही अनेक प्रकार के राज्यकार्य करते हैं।

''तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद् भरतो यथावत्।।''

वा. रा. २/११५/२४

अर्थात् जो भी कार्य आता है **''उपायनं चोपहृतं महार्हम्''** जो भी बहुमूल्य उपहार आते हैं **''स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य''** भरत जी महाराज सर्वप्रथम उसे पादुका जी को निवेदित करते हैं फिर **''चकार पश्चाद् भरतो यथावत्''** फिर यथावत् विधिवत राज्य का संचालन धर्म भी कर रहे हैं। ये उनकी एक सरणी बन गई है, पद्धति बन गई है, दिनचर्या बन गई है। वे निरन्तर भगवान् की श्रीपादुकाओं की आज्ञा के बिना कुछ काम नहीं करते। एक दिन उनके जीवन मे ऐसा आ ही गया, यों विकर्म हो रहा है उनसे। श्रीराम–रावणसंग्राम चरम सीमा पर है और श्रीलक्ष्मण को मेघनाद ने शक्ति से घायल कर दिया।

"बीरघातिनी छाँडेसि साँगी। तेज पुँज लक्ष्मण उर लागी।।"

मानस ६/५४/७

और उस शक्ति का प्रभाव यह हुआ कि लक्ष्मणजी मूर्च्छित हुए। लक्ष्मण जी को संजीवित करने के लिए संजीवनी लाने हनुमान जी को जाना था हनुमानजी पधारे भी। संजीवनी लेकर श्रीअवध को पधार रहे हैं हनुमान जी महाराज। यहाँ दोनों से थोड़ा–थोड़ा विकर्म होने जा रहा है। हनुमानजी को श्रीअयोध्या को दण्डवत् करके जाना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् का धाम है, पर हनुमान जी का दोष नहीं है उनकी विवशता में उनसे विकर्म हो रहा है। हनुमान जी अपने हाथ में द्रोणाचल पर्वत लिए हुए हैं और द्रोणाचल पर्वत को कहीं रखा नहीं जा सकता, क्योंकि वह श्रीअवध को अपने मे समाहित कर लेगा, यदि रखेंगे तो श्रीअयोध्या उससे दब सकती है। अतः द्रोणाचल को कहीं रखा नहीं जा सकता और नीचे द्रोणाचल को रखते हैं तो श्रीअयोध्या को कष्ट होगा। श्रीअयोध्याजनों को कष्ट होगा हनुमान जी इस धर्मसंकट मे हैं और उधर भरत जी का भी धर्मसंकट है। भरत जी ने हनुमान जी को देखा और विशाल देखा। उन्होंने उनमे राक्षस का अनुमान कर लिया।

"देखा भरत विशाल अति निशिचर मन अनुमानि।"

मानस ६/५८

हनुमान जी को देखकर भरत जी ने राक्षस का अनुमान कर लिया, एक आश्चर्य है ऐसा क्यों हुआ होगा? किस हेतु से उन्होंने हनुमान जी में राक्षसत्व रूप साध्य का अनुमान कर लिया होगा? साध्य का अनुमान कैसे हुआ होगा? कहते हैं कि अनुमान इसलिए हुआ कि हनुमान जी ने श्रीअयोध्या को प्रणाम नहीं किया। अतः उन्होंने सोचा कि राक्षस ही तो होगा। राक्षस ही भगवान् की जन्मभूमि को प्रणाम नहीं करता **"अयं राक्षसः धाम्नि अकृतप्रणामत्वात् रावणादिवत्"** जबकि यहाँ हनुमान जी की विवशता थी इसलिए प्रणाम नहीं किया। तो कहीं–कहीं अनुमान सफल नहीं हो पाता। अतः इसी अनुमान के साथ–साथ यदि भरत जी ने श्रीपादुका जी से पूछ लिया होता कि आप आज्ञा करें, इस विशालकाय जीव पर बाण का प्रयोग करूँ या न करूँ तो यह अनर्थ न होता। यहाँ विकर्म हो गया, पादुका जी से आज्ञा नहीं ली। पर भगवान् को तो सम्भालना ही था, भगवान् ने संभाला।

"देखा भरत विशाल अति निशिचर मन अनुमान।
बिनु फर शायक मारेउ चाप स्रवन लगि तान।।"

मानस ६/५८

भगवान् ने संभाला कैसे? भरत जी धनुष पर बाण चढ़ाये हुए हैं। भगवान् की प्रेरणा हुई कि अरे इसमे से फल निकाल लो। बिना फल का बाण मारो, क्योंकि बाण का फल है निर्वाण और हनुमान जी को अभी निर्वाण की कोई आवश्यकता नहीं है। निकालो, अभी इनको संसार मे रहना है। यहाँ **"अवध तजे तनु नहिं संसारा"** ऐसा अनर्थ मत करो और दूसरी बात **"जासु हृदय आगार बसहिं राम शर चाप धर"** (मानस १/१७) हनुमान जी के हृदय मे तो धनुष बाण धारण करके मैं रह रहा हूँ और यदि यह बाण लगेगा तो मुझे लगेगा अनर्थ हो जाएगा। भरत जी ने पूछा फिर कहाँ मारूँ? भगवान् ने कहा, हनुमान जी के हृदय मे बाण मत मारना, क्योंकि उनके हृदय मे रहता हूँ मैं और मुझे लग जाएगा, इसलिए उनके मस्तक पर मारो।

"पुंखावशेष भरतेषुललाटलग्नो हा राम लक्ष्मण कुतोऽहमिति ब्रुवाणः।"

भरत जी का बाण हनुमान जी के मस्तक में लगा। बहुत से अविवेकी वक्ता कहते हैं कि भरत जी महाराज का बाण हनुमान जी के चरण मे लगा यह अनुचित है। हनुमन्नाटक के अनुसार भरत जी का बाण हनुमान जी के ललाट मे लगा। उसमे फल नहीं था, नोक नहीं थी, चुभा नहीं। हनुमान जी महाराज गिर रहे हैं नीचे, परन्तु वहाँ भी भगवान् संभाल कर रहे हैं। भरत जी का संभाल कर लिया कि फल निकाल कर मारो और छाती मे मत मारो और हनुमान जी की भी संभाल कर रहे हैं कि यदि पर्वत श्रीअयोध्या पर गिरता है तो अनर्थ हो जाएगा, क्योंकि **''सहसा उखारो है पहार बहु जोजन को''** (कवितावली ६/५५) अनन्त योजनों का है वह पर्वत। इसलिए हनुमान जी को श्रीराघवेन्द्रसरकार ने प्रेरणा दी कि अब तुम यह पर्वत पवन देवता को समर्पित करके फिर नीचे अयोध्या को दण्डवत् करो। **''पर्‌यो कहि राम पावन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है''** (गीतावली ६/१०) दोनों की संभाल हो गई, इसलिए भगवान् कहते हैं कि तुम संपूर्ण कर्त्तव्यों को छोड़कर मेरी शरण मे आओ। क्योंकि **''ज्ञात्वा–ज्ञात्वा प्रकुर्वीत''** जान–जानकर भी कर्म को जानकर करना पड़ता है। और तुम पहले कह चुके हो ''धर्म संमूढ़ चेताः'' मेरा चित्त धर्म के संबन्ध मे संमूढ़ हो चुका है। सम्यक् मूढ़ हो चुका है। भगवान् कहते हैं कि अब मैं तुम्हें अनुशासन देता हूँ, **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।''** कैसे शरण मे आऊँ? तो भगवान् ने कहा, **''व्रज इव आचर व्रज इव आगच्छ''।** आचरण यहाँ आगमन प्रधान है जैसे व्रजवालायें सब कुछ छोड़कर मेरी शरण मे आईं उसी प्रकार तुम भी छोड़ो। अरे! व्रजवालायें गृहिणियाँ हैं, पर उन्होंने अपने घर का धर्म छोड़ दिया, गोदोहन छोड़ा और गोदोहन ही नहीं गोदोहन के साथ साथ घर के कार्य भी उन्हें करना है। हलुवा बनाना है तो उन्होंने वह भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं भोजन परोसना है, ये व्यक्तिगत धर्म है उनका प्रतिपाद्य वो भी छोड़ा। बच्चों को दूध पिलाना छोड़ दिया। सब तो छोड़ा, पति दायित्व छोड़ा, पतियों की सेवा छोड़ी, यहाँ तक कि अब अपने शरीरधर्म को छोड़ रही हैं, भोजन भी छोड़ दिया, लेपन मार्जन और अंजन छोड़ दिया, इतना ही नहीं उन्होंने शरीर के वस्त्र धारण की विधा भी छोड़ी 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः'। इतने का दायित्व तो तुम्हारे पास नहीं है, यदि है तो जैसे व्रजबालायें छोड़ दीं उसी प्रकार तुम भी छोड़ो **''मामेकं शरणं व्रज''** और यदि मेरी शरण मे आओगे तो मैं तुम्हें पाप से मुक्त करूँगा, चिन्ता मत करो। जैसे व्रजबालाओं को मैंने पाप से मुक्त कर दिया। और इतना ही नहीं भगवान् संकेत करते हैं, प्रश्न है कि भगवती द्रौपदी की किस पुण्य के कारण रक्षा हो गई राजसभा में। वो पंचपति हैं, पाँच पति उनके हैं और यदि देखा जाए तो राजरानी हैं, युद्धिष्ठिर की गृहासक्त महिला हैं। कौन सा पुण्य है द्रौपदी का जिससे दुःशासन उनका वस्त्र नहीं खींच पाया। भगवान् कहते हैं, इसको तुम नहीं समझ पाये। द्रौपदी ने मुझको गोविन्द कहके बुलाया, ''गोविन्द द्वारकावासिन्'' गोविन्द कहा तब तक मैं नहीं आया, ''द्वारकावासिन्'' कहा तब तक मैं नहीं आया, कृष्ण कहा तब तक मैं नहीं आया, परन्तु 'गोपीजनप्रिय' कहा तब मुझे आना पड़ा। श्रीमत्व्रजांगनाओं के स्मरण से इतना पुण्य हो गया। गोपियों को जो आक्षेप किया जाता है कि श्रीमत्व्रजांगनायें निर्वस्त्र होकर स्नान कीं। अरे! निर्वस्त्रता की बात करते हो, जिनके स्मरण मात्र से द्रौपदी को निर्वस्त्र होने से भगवान् ने बचा लिया, उनको क्या निर्वस्त्र स्नान करने के लिए भगवान् अनुज्ञा देंगे। यदि गोपियों का स्मरण नहीं किया होता द्रौपदी जी ने तो उनकी निर्वस्त्रता को कोई नहीं बचा सकता था, कोई नहीं रोक सकता था। दुःशासन दससहस्र हाथियों का बल लेकर बैठा था, एक महिला क्या कर सकती थी उसके सामने, परन्तु द्रौपदी की चतुरता यही है कि उन्होंने 'गोपीजनप्रिय' भगवान् को कह दिया और जब 'गोपीजनप्रिय' कहा तब **''अनन्तावै गोप्यः''** गोपियाँ अनन्त हैं, गोपियों की सीमा नहीं है, आकाश के तारे

गिने जा सकते हैं, समुद्र के जल के कण गिने जा सकते हैं, पृथ्वी की धूलि की कणिकायें गिनी जा सकती हैं, पर गोपियों की गिनती नहीं की जा सकती। अनन्त है गोपियाँ **"अनन्तावै गोप्यः"** यदि गोपियाँ अनन्त हैं तो उनके वस्त्र भी अनन्त हैं। **"परिधाय स्ववासांसि"** यदि भगवान् गोपियों को वस्त्र दे सकते हैं तो गोपीजनों के पुण्य से इतने वस्त्र भगवान् ने दे डाले कि दुःशासन का दस हजार हाथियों का बल समाप्त हो गया, पर द्रौपदी जी की दसगजी साड़ी समाप्त नहीं हो पाई। **"दस सहस्र गजबल घट्यो घट्यो न दस गज चीर"** इसलिए गोपीजनों के पुण्य ने द्रौपदी को धन्य कर दिया। **"ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा"** यही धर्म का आचरण है द्रौपदी का। भगवान् के भक्तों का स्मरण भी परमधर्म है **"त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य भृत्यस्य भृत्य इति मां स्मर लोकनाथ"** (विल्वमंगल) अतः इतना ही नहीं हुआ, गोपियों को तो उनके वस्त्र भगवान् ने दिए थे और यहाँ जब गोपीजनों का स्मरण कर लिया द्रौपदी जी ने तो भगवान् इतने प्रभावित हुए कि जब कुछ भी नहीं सूझा तो द्रौपदी जी के वस्त्र भी भगवान् बन गए। भगवान् ने वस्त्रावतार ले लिया और ग्यारहवाँ रूप भगवान् का हो गया। जयदेव ने कहा, **"केशवधृत दशविधरूप जय जयदेव हरे"**। गोस्वामी जी ने कहा, तुमको दस ही रूप भगवान् के दिखते हैं। गोपियों का जो चीर बढ़ा था वो किसने दिया था, कहाँ से आया था, किस मिल से वे वस्त्र आये थे, कौन थे वे वस्त्र? क्या वहाँ कोई मिल चल रही थी वस्त्रों की? कैसे इतने वस्त्र आ गए? दुःशासन थक गया, पूरी सभा भर गई वस्त्रों से। इसका तात्पर्य क्या था, इसका तात्पर्य यही था कि—

"सभा सभासद निरखि पट पकड़ी उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहों बसन वेष जदुनाथ।।"

दोहावली १६८

भगवान् ने वस्त्ररूप ग्यारहवाँ अवतार धारण किया और धन्य कर दिया द्रौपदी को **"ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद् वै विविधैश्च वस्त्रैः"** यहाँ वेदव्यास जी भगवान् के लिए 'अन्तरित' का प्रयोग करते हैं। यहाँ 'अन्तरित' का क्या तात्पर्य है? संस्कृत मे साड़ी को अन्तरा कहते हैं **"अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः"** (पा. अ.१/१/३३) अन्तर माने वस्त्र बहिर्योग और उपसंव्यान, उपसंव्यान माने पहनना। पहनने के अर्थ में भी वस्त्र को 'अन्तर' कहते हैं। तो भगवान् अन्तरितः का तात्पर्य क्या है? **"अन्तराः इव आचरतीति अन्तरति आन्तरत् इति अन्तरितः"** भगवान् आज द्रौपदी की साड़ी बन गए धन्य कर दिया द्रौपदी को। तो भगवान् कहते हैं कि यदि गोपियों के स्मरण से तुम्हारी पत्नी को हमने निर्वस्त्र होने से बचा लिया और ताप से बचा लिया, तो तुम चिन्ता क्यों करते हो? **"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि"** यदि मेरी शरण मे आने से गोपियों को पाप नहीं लगा तो तुमको पाप कैसे लगेगा? इसलिए यही गीता का अंतिम तात्पर्य है, **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"** **"व्रज इव आचर"** **"व्रज इव व्रज"** जैसे व्रजांगनायें सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आयीं, उसी प्रकार तुम भी मेरी शरण मे आ जाओ और वही हुआ। यही है गीता का महातात्पर्य 'शरणागति'। आज देखिए व्रजांगनायें कैसी शरणागत होती हैं।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।।

भागवत १०/२६/५

'काश्चित्' कुछ गोपियों ने दोहन छोड़कर उत्सुकता के साथ भगवान् श्रीकृष्णजी के चरणों मे गमन किया। कुछ गोपियों ने 'पयोऽधिश्रित्य' दूध को नीचे उतार कर भी

'संयावमनुद्वास्य' और गोधूम के कणों को अर्थात् गेहूँ के आटे को उसमे न डालकर भी 'अपरा ययुः' चली गईं। क्यों गईं? कहते हैं, अपरा, इसलिए गईं कि वो **"अकारो वासुदेवः तस्मिन् परा स परः यासां ताः अपराः"** 'अ' माने भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं परायण जिनके वे हैं 'अपरा' इसलिए 'अ' भगवान् मे 'पर' होने के कारण भगवान् ही उनके परायण हैं। तब हलुवा कौन बनाये? किसके लिए बनायें? किसको खिलाने के लिए इतना समय दिया जाए? इसलिए चली गईं। 'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा' भोजन परोसती हुई भी गोपियाँ वंशी का निनाद सुनकर उसे छोड़कर चली गईं। 'पाययन्त्यः शिशून् पयः' शिशुओं को अर्थात् देवरानियों और जेठानियों के बालकों को दूध पिलाती हुई उन्हें छोड़कर चली गईं, छोड़ दिया अपना कर्त्तव्य, अब जिसको पिलाना हो वो पिलाये। 'शुश्रुषन्त्यः पतीन् काश्चित्' कुछ गोपियाँ अपने पतियों की सेवा करती हुई भी वंशी का निनाद सुनकर उसे छोड़कर चली गईं। 'अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्' और कुछ भोजन कर रही थीं, भोजन छोड़ दिया। क्या त्याग है गोपियों का? इस प्रकार से जातिधर्म छोड़ा, कुलधर्म छोड़ा, गृहधर्म छोड़ा और देहधर्म भी छोड़ा और आगे देखिए 'लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्याः' लेपन कर रही हैं, भगवान् का वंशी निनाद हुआ छोड़ दिया। 'प्रमृजन्त्योऽन्याः' वस्त्रों का परिमार्जन, भवन का परिमार्जन कर रही हैं अथवा अपने शरीर का ही परिमार्जन करती हुई गोपियों ने उन्हें छोड़ा। आँख मे अन्जन लगा रही हैं, दायीं आँख मे अन्जन लगाया है, बायीं आँख मे लगाना अवशेष है, वंशी बजी फेंक दिया। 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः' क्या उत्सुकता है? वस्त्रों और आभूषणों को व्यत्यस्त कर दिया अर्थात् पायल पहन लिया हाथ में और चूड़ी पहन ली चरण मे, चुनरी पहन ली कटि मे और लहंगा ओढ़ लिया ऊपर। **"काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः"** सबकुछ छोड़ करके भगवान् श्रीकृष्ण की चरणों मे गोपियाँ आ रही हैं। पूर्ण हो गया आगमन और ग्यारह प्रकार की गोपियों का यह दिव्य आगमन ग्यारह आसक्तियों का सूचक है। इतना क्यों हुआ? परमविरहासक्ति, 'अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः' अन्योन्य को उद्यम नहीं दिखा आई कैसे? परमविरह के कारण, परम विरह मे उनकी आसक्ति है। विरह तो होना चाहिए, परन्तु वियोग नहीं होना चाहिए। संयोग मे भी विरह की अनुभूति होनी चाहिए। आईं गोपियाँ दोहन छोड़कर, "दुहन्त्योऽभिययुः" भगवान् के गुण के माहात्म्य मे इतनी आसक्ति है। भगवान् के गुणों को जब सुना तो सब छूट गया और 'पयोऽधिश्रित्य' गुणमाहात्म्यासक्ति के साथ–साथ जब भगवान् के रूप मे आसक्ति आई, रूप निहारने मे इतनी तन्मय हो गई हैं कि उन्होंने हलुवा बनाना छोड़ा और 'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा' जब भगवान् के स्मरण की आसक्ति हुई तो भोजन का परोसना भूल गया विस्मरण हो गया उनको। 'पाययन्त्यः शिशून् पयः' जब रूप मे आसक्ति हुई, सामान्य शिशु को कौन देखता है।

यावन्निरंजनमजं पुरुषं जरन्तं संचिन्तयामि सकले जगती स्फुरन्तं।
तावद् बलात् स्फुरतिहन्त हृदन्तरे मे गोपस्य कोऽपि शिशुरंजनपुंजमंजुः।।

कहते हैं जब तक मैं उस निरन्जन, ज्योतिस्वरूप, निर्विकार, परमात्मा परब्रह्म का चिन्तन करता हूँ तब तक मेरे हृदय में कोई 'अन्जनपुंजमंजु' अन्जन के समान काला कलूटा अहीर का छोरा हमारे मन मे बलात् आ जाता है। जब यशोदानन्दवर्धन अद्भुत शिशु का चिन्तन हुआ तब सामान्य शिशु भूल गये उनको। इन निगोड़ों को कौन दूध पिलाये? मलमूत्रमय, नाक छिड़कते हुए, इन बालकों को कौन दूध पिलाये? तो हम उस अद्भुत शिशु के दर्शन करने जा रहे हैं और जब गोपियों मे 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' पूजासक्ति हुई तो कहते हैं छोड़ो।

ऐसे वर को को वरै, जो जनमे और मर जाये।
मीरा वरै गोपाल को, जहाँ चूड़ो अमर हो जाये।।''

संसार की पूजासक्ति छोड़ दीं, परमपूज्य की पूजा मे चली गईं। 'अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्' रूपासक्ति हुई, स्मरणासक्ति हुई, पूजासक्ति हुई। अब क्या, भोजन करती हुई छोड़ दिया दास्यासक्ति है। दास्य मे आसक्ति आयी तो भोजन छूटा। अब क्या खायें? कौन खाये? छोड़ो, सब छोड़ा यहाँ तक की 'लिम्पन्त्यः' सख्यासक्ति हुई, तो कौन लेप करता है? अब तो भगवान् के चरणों मे हमे निर्लेप होना होगा। 'प्रमृजन्त्यः' वात्सल्यासक्ति मे परिमार्जन कहाँ से आ गया? सब ठीक है और 'अंजन्त्यः काश्च लोचने' आत्मनिवेदन मे आसक्ति हुई सब कुछ छूट गया, सब छूट गया। 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः' तन्मयतासक्ति मे वस्त्र और आभरण व्यत्यस्त हो गए हैं। काश्चित् कान्ताभावासक्ति मे 'ता वार्यमाणाः पतिभिः' सब रोक रहे हैं, पर कौन किसकी मानता है। आनन्द है अद्भुत आनन्द है उनका। सब रोक रहे हैं–

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्तमोहिताः।।

भागवत १०/२६/८

वे पतियों से, पिताओं से, भ्राताओं से, परिवारजनों से रोकी जाती हुई भी नहीं रूकीं, क्योंकि 'गोविन्दापहृतात्मानः' **''गोविन्देन अपहृतः आत्मा यासां''** भगवान् गोविन्द ने उनकी आत्माओं का हरण कर लिया है, उनके मन चुरा लिये हैं। अथवा, **''गोविन्द एव अपहृतः आत्मनि याभिः''** भगवान् गोविन्द को ही उन्होंने चुराकर अपने मन मे रख लिया है। **''माई मैंने लियो गोविन्दा मोल''** जब गोविन्द को ही चुराकर रख लिया है तो फिर अब किसके लिए लौटेंगी? 'न न्यवर्तन्त' नहीं लौटीं। क्यों? कहते हैं 'मोहिताः' वे भगवान् के चरणों मे मोहित हो चुकी हैं, भगवान् पर मोहित हो चुकी हैं। अथवा, **''मया उहिताः माँ राधा तया उहिताः''** श्रीराधा जी ने उन्हें उहित कर लिया, तर्कित कर लिया। कहा, अरे! सब कुछ छोड़ो, सब ठीक है, किसी की बात मत मानो। पति, पिता, भाई, बन्धु ये क्या करेंगे? ये तो संसार के लोग हैं अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। तुम्हारे कल्याण की किसी को चिन्ता नहीं है। छोड़ो, किसी की बात मत मानो इसलिए 'न न्यवर्तन्त मोहिताः' नहीं लौटीं। एक प्रश्न है, सामान्यतः पूछा जा सकता है कि गोपियों ने सब कर्मों को छोड़कर क्या कर्त्तव्य का अपमान नहीं किया? उत्तर बड़ा स्पष्ट है, गोपियाँ जानती हैं कि जब कोई मरने लगता है तो क्या वह यमराज से कहता है कि थोड़ा रूक जाओ बेटे–बेटी के विवाह के पश्चात् मरूँ। यहाँ तक की कभी–कभी जब मृत्यु निकट होती है तो व्यक्ति शौचालय में बैठे–बैठे मर जाता है। उसको हाथ धोने का समय भी यमराज नहीं दिया करते। तो यदि मरनेवाला व्यक्ति घरवालों से नहीं पूछता तो हम तो भगवान् की शरण मे जा रहे हैं, हमे घरवालों से पूछने की क्या आवश्यकता है? क्या मरनेवाली महिला कभी अपने पति से पूछती है कि आज्ञा हो तो मैं मरूँ? यदि मुमूर्षु किसी से आज्ञा नहीं लेता तो भवसागर से तितीर्षु किसी से आज्ञा क्यों लेगा? यदि यमराज के आने पर व्यक्ति किसी से नहीं पूछता तो आज तो साक्षात् व्रजराज उपस्थित हैं। अब किसी से पूछने की क्या आवश्यकता है? क्यों पूछा जाए किसी से? संसारवालों का संबन्ध तो शरीर से है न कि आत्मा से। आत्मा का संबन्ध तो सीधा परमात्मा से है। आत्मा सीधा परमात्मा का है 'दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः'। कोई कहीं सर्विस कर रहा होता है और उसका अधिकारी उसको बुलाता है तो क्या वह कुटुम्ब से पूछ कर जाता है कि आज्ञा दीजिए। वो तो अधिकारी ने बुलाया है उसे तो जाना ही है कोई कहे या न कहे। उसी प्रकार यह जीवात्मा भी मूलरूप मे भगवान् का

सेवक है और जब भगवान् ने इसे बुला लिया तो फिर इसे किसी से पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है और न ही इसे कर्म त्याग का कोई पाप लगेगा। **''अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः''** इसलिए **''ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः''** सबने रोका, पतियों ने, पिताओं ने, भ्राताओं ने, बन्धुओं ने। वस्तुतः यहाँ पाँच प्रकार की गोपियों मे राधा जी के प्रियवर्ग को तो कोई रोक नहीं सकता। वो तो नित्य सिद्ध गोपियाँ हैं, परन्तु श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा, देवकन्यारूपा और गोपकन्यारूपा गोपियों को रोका जा सकता है। फिर इन्हीं चारों को रोका भी गया। श्रुतिरूपा गोपियों को रोका उनके पतियों ने अर्थात् भिन्न–भिन्न मन्त्रों के जो देवता होते हैं उन्होंने रोका। श्रुतियाँ तो भिन्न–भिन्न देवताओं के लिए कही गई हैं। कोई श्रुति वरूण के लिए कही गई हैं, कोई इन्द्र के लिए कही गई हैं, कोई यम के लिए, कोई चन्द्र के लिए, कोई सूर्य के लिए, भिन्न–भिन्न ग्रहों के लिए। तो श्रुतियों के जो पति हैं सामान्यरूप से, उन्होंने उन्हें रोका कि तुम एकमात्र श्रीकृष्ण के तात्पर्य मे क्यों जा रही हो? और उनको 'पितृभिः भ्रातृबन्धुभिः' क्योंकि प्रत्येक श्रुति के ऋषि होते हैं, छन्द होता है, देवता होते हैं और शक्ति होती है। तो उनके पति हैं देवता, उन्होंने रोका मत जाओ। पिता है ऋषि, उन्होंने रोका कहाँ जा रही हो? हमनें तुमको अमुक देवता के दर्शन मे साक्षात्कार किया था। जैसे मान लीजिए **''आकृष्णेनरजसा'' ''उद्वयं तमसस्परिस्वः''** इन मंत्र के सूर्य देवता हैं, तो ऋषि कहते हैं, हमनें तुमको सूर्य के लिए साक्षात्कार किया है। तुम ऐसा क्यों कर रही हो? पिता के रूप मे ऋषियों ने उन्हें रोका, पर नहीं रूकीं। 'भ्रातृबन्धुभिः' छन्द भाई के समान है। उन्होंने रोका तुम मत जाओ, अनर्थ हो जाएगा। यह छन्द अमुक देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है और बन्धु रूप मे शक्तियों ने कहा, मत जाओ, पर किसी की बात नहीं मानी **''गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः''**। इसी प्रकार ऋषिगणों के लिए भी जो ऋषिरूपा गोपियाँ हैं कर्म उनके पति हैं, उन्होंने कहा कि नहीं मत जाओ। कर्म को करते रहो, सन्ध्यावन्दनादि मत छोड़ो, नियम मत छोड़ो। पिता के रूप मे नियमों ने कहा, मत छोड़ो, भगवान् के लिए। सबने रोका भ्राता के रूप मे अनुष्ठानों ने रोका और बन्धु के रूप मे उनके व्रतादि ने रोका, परन्तु 'न न्यवर्तन्त मोहिताः'। यही देवकन्याओं की परिस्थिति है, उनके भिन्न–भिन्न पतियों ने रोका। इन्द्र ने रोका, क्यों शची जा रही हो तुम श्रीकृष्ण के रास मे, क्या आवश्यकता है? इन्द्र ने इन्द्राणी को रोका, ब्रह्मा ने ब्रह्माणी को रोका, विष्णु ने लक्ष्मी को रोका, शिवजी ने शिवा पार्वती को रोका। प्रत्येक देवता ने अपने–अपने पत्नी को रोका मत जाओ, पर क्यों माननें लगीं? कोई नहीं मानी। इसीलिए तो कहा जाता है कि जयन्त ने भी अपनी पत्नी को भगवान् श्रीराम के दर्शनों से रोका था। उसके मना करने पर भी जब वे आईं तभी तो जयन्त को सन्देह हुआ और जयन्त ने निश्चय किया कि मे भगवान् राम की परीक्षा करूँगा और परीक्षा का परिणाम तो आप सब जानते हैं। देवकन्यायें जो गोपीभाव को प्राप्त हुई थीं, उनके पतियों ने उन्हें रोका, पिताओं ने रोका, भ्राताओं ने रोका और कुटुम्बजनों ने रोका कि तुम स्वर्ग छोड़कर वहाँ क्यों गोपी बनने जा रही हो, क्या कारण है? पर 'न न्यवर्तन्त मोहिताः' नहीं लौटीं वो, जो कुछ होगा वो होगा। और 'गोपकन्यकाः' यहाँ गोप का अर्थ है 'जनक' **''गां पृथिवीं पाति इति गोपः जनकः तत् नगरस्य कन्यकाः''** जो मैथिली गोपियाँ बनी थीं उनको भी सबने रोका। उनके पतियों ने रोका कि तुम क्यों श्रीकृष्ण के प्रति इतना प्रेम करना चाहती हो? अरे! तुम्हारे संबन्ध हो चुके, पिताओं ने रोका। जो कन्यायें थीं उन्हें भ्राताओं ने रोका। उनके सास–ससुरों ने रोका, परन्तु कुछ नहीं। रोकते रहे सब लोग। गोपियों ने कहा, सब लोग रोको, क्या करोगे रोक कर।

घर तजौं वन तजौं नागर और नगर तजौं,
वंशी वट तट तजौं काहु नहीं लाजि हौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहो कैसे तजौं,
आज प्रेमराज बीच ऐसे साज साजिहौं,
बावरे भए हैं लोग बावरी कहत हैं मो को,
बावरी कहे तो मैं हूँ काहू न बराजिहौं।
कहैया और सुनैया तजौं बाप और भैया तजौं,
मैया तजौं दैया पै कन्हैया नहीं तजिहौं।

सबने रोका, पर गोपियाँ नहीं रूकीं–

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।।

भागवत १०/२६/८

क्योंकि मोहित हैं भगवान् पर और मोहित हैं 'मया राधिकया उहिताः' यही तो शरणागति की परिभाषा है। कोई नहीं रोक पाया, परन्तु एक विचित्र घटना घटी।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः।।

भागवत १०/२६/६

''काश्चित् अन्तर्गृहगताः अलब्धविनिर्गमाः तद्भावनायुक्ताः गोप्यः मीलितलोचनाः कृष्णं दध्युः'' कुछ ऐसी भी गोपियाँ हैं जो 'अन्तर्गृहगताः' जो घर के भीतर थीं **''गृहस्य अन्तर् अन्तर्गृहम्''** घर के भीतर थीं और पतियों ने किवाड़ बन्द कर दिये थे 'अलब्धविनिर्गमाः' **''न लब्धः वेः पक्षिणोऽपि निर्गमो याभिः''** पक्षियों के निकलने का भी वहाँ मार्ग नहीं था। इस परिस्थिति मे 'मीलितलोचनाः' आँख बन्द करके गोपियों ने अपने प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान किया। **''मीलितानि लोचनानि याभिस्ताः''** और विषयों की चर्चा से पूर्व एक बार पुनः सिंहावलोकन न्याय से श्रीव्रजांगनाओं के प्रभु के पास गमन प्रकार पर पुनः विचार कर लेते हैं। यह तो सर्वविदित् है कि गोपियाँ जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीचरणारविन्द मे गमन कर रही हैं, यह केवल प्रपत्तिपरक सिद्धान्तों का विवेचन मात्र है और प्रपत्तिपरक सिद्धान्तों को सामान्य जनता को समझाने के लिए लीलामंच पर अभिनीत किया जा रहा है। अतएव इस प्रकरण मे ग्यारह प्रकार कहे गए हैं। प्रथम प्रकार की **''आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः''** गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के पास आईं और शेष दस प्रकारों मे कहा गया कि गईं। यथा– **काश्चित् समुत्सुकाः दुहन्त्यः दोहं हित्वा अभिययुः, अपराः पयः अधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्य ययुः, अपराः परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा ययुः, अपराः शिशून् पाययन्त्यः तद्धित्वा ययुः, अपराः पतीन् शुश्रूषन्त्यः तद्धित्वा ययुः, काश्चित् भोजनं अश्नन्त्यः अपास्य ययुः, काश्चित् लिम्पन्त्यः तद्धित्वा ययुः, काश्चित् प्रमृजन्त्यः सत्यः ययुः, काश्चित् लोचने अंजन्त्यः ययुः, काश्चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकं ययुः।''** अर्थात् प्रथम प्रकार की नित्यसिद्धा गोपियाँ अपने उद्यम का किसी को प्रदर्शन न करती हुई भगवान् श्रीकृष्ण के पास आईं। पुनः कुछ गोपियाँ गाय दूहती हुई अथवा, दोहन कराती हुई दोहकार्य को छोड़कर चली गईं। कुछ गोपियाँ उबलते हुए दूध को नीचे रखकर उसमे हलुवा बनाने के लिए गेहूँ का आटा न डालकर चली गईं। कुछ गोपियाँ अपने परिजनों को भोजन परोसती हुई उसे छोड़कर चली गईं। कुछ अपने देवरानी अथवा, जेठानी के बालकों को दूध पिलाती हुई, उसे छोड़कर चली गईं। कुछ गोपियाँ पतियों की सेवा करती हुई, वंशी की धुन सुनकर,

उसे छोड़कर चली गईं। कुछ गोपियाँ भोजन करती हुई, उसे छोड़कर गईं। कुछ गोपियाँ अपने शरीर पर लेप लगाती हुई अथवा, अपने घरों को गोबर से लिपती हुई भी उसे छोड़कर गईं। कुछ गोपियाँ अपने पात्रों का मार्जन करती हुई भी अथवा, अपने शरीर को स्वच्छ करती हुई उस क्रिया को छोड़कर चली गईं। कुछ गोपियाँ अपने नेत्रों मे अंजन लगाती हुई भी उसे छोड़कर चली गईं और कुछ गोपियाँ अपने वस्त्रों और आभरणों को 'व्यत्यस्त' उल्टे–पुल्टे पहन करके श्रीकृष्ण के पास गईं। इस प्रकार यहाँ ग्यारह प्रकार के गोपियों के ग्यारह प्रकार के गमन कहे गए। वे स्पष्टतः श्रीनारद जी की 'भक्तिसूत्र' की ग्यारह आसक्तियों के वर्णन में ही पर्यवसन हुए। श्रीनारदजी ने भगवान् के चरणों मे आसक्ति को ही भक्ति माना और कहा कि यह आसक्ति यद्यपि एक प्रकार की है, पर गुणभेद से यह ग्यारह प्रकार की दिखाई पड़ती है। कुछ लोगों को भगवान् के गुणमाहात्म्य के प्रति आसक्ति होती है। कुछ ऐसे भक्त होते हैं जो भगवान् के रूप पर आसक्त रहते हैं, क्योंकि उस आसक्ति को रूपासक्ति कहते हैं। कतिपय ऐसे भावुक होते हैं जो भगवान् के स्मरण मे ही अपनी आसक्ति रखते हैं। कुछ लोग भगवान् के श्रीचरणारविन्द मे अथवा मंगलमय श्रीविग्रह की पूजा मे आसक्त होते हैं। कतिपय भक्त भगवान् के दास्य मे आसक्ति रखते हैं और कतिपय भाग्यशाली भगवद्उपासक भगवान् के प्रति सख्य अर्थात् विश्वास मे आसक्ति रखते हैं उनके प्रति मित्रभाव रखते हैं। कतिपय भावुक भक्त भगवान् के प्रति वात्सल्य का भाव रखते हैं, उसमे उनकी आसक्ति रहती है। अर्थात् जैसे माता–पिता अपने बच्चों के योगक्षेम की चिन्ता करते रहते हैं और उनसे किसी बात की अपेक्षा नहीं करते, उसी प्रकार भावुक भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कोई अपेक्षा नहीं करते, उन्हीं की सुविधाओं का निरन्तर ध्यान रखते रहते हैं। यही उनकी वात्सल्यासक्ति का तात्पर्य है। कुछ भावुक सहृदय भगवान् के प्रति नित्य कान्ताभाव रखते हैं, जैसे व्रजांगनायें। कुछ लोग भगवान् के प्रति सर्वसमर्पण कर देते हैं, भगवान् के आत्मनिवेदन मे ही उनकी आसक्ति होती है। कुछ लोग भगवान् के नाम, रूप, लीला, धाम का ही चिन्तन करते–करते उनमे तन्मय हो जाते हैं, जैसे वेणुगीत के प्रकरण मे श्रीव्रजांगनायें **"वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः"** (भागवत २१/२०) और कुछ लोग भगवान् के परमविरह मे ही आसक्त रहते हैं। वो कहते हैं **"संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्य"** संयोग और वियोग के विकल्प में वियोग ही ठीक है संयोग नहीं, क्योंकि **"संगे सैव तथैको विरहे तु तन्मयं सर्वम्"** संयोग मे तो एकमात्र भगवान् एक ही स्थान पर दिखाई पड़ते हैं और वियोग मे सब कुछ भगवन्मय दिखाई पड़ता है। इसलिए श्रीरामचरितमानस मे श्रीभरत जी भी विरह के नवीन अँकुरों को अपने नयन कमल के आँसुओं से सींचा करते हैं **"लोचन सरोरूह श्रवत सींचत विरह गुर अंकुर नये"** (मानस २/१७६/६) इस प्रकार आसक्ति भेद से यह आसक्ति ग्यारह प्रकार की प्रतीत होती है। श्रीमद्व्रजांगनायें भी इस सिद्धान्त को आज इस लीला मे प्रस्तुत कर रही हैं। वो भी भगवान् की इन ग्यारह आसक्तियों की प्रतिनिधि बनकर। इन्हीं आसक्तियों के आधार पर ग्यारह प्रकार का गमन कर रही हैं। प्रथम, गोपियों का प्रथमवर्ग जो श्रीकृष्ण के चरणारविन्द मे आया उसमे गुणमाहात्म्यासक्ति है, भगवान् के गुणमाहात्म्य मे वह आसक्त है। भगवान् के गुणमाहात्म्य को सुनते–सुनते उसको उनके प्रति एक आसक्ति है, इसलिए,

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं ब्रजस्त्रियः कृष्ण गृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।

भागवत १०/२९/४

जब श्रीकृष्ण के मंगलमयी मुरली से प्रभु का वह गाया हुआ गीत गुणमाहात्म्यासक्तिमति श्रीव्रजांगनाओं ने श्रवण किया, तुरन्त उनका मन श्रीकृष्ण मे चला गया। श्रीकृष्ण ने उनके मन को खींचा 'कर्षति इति कृष्णः' और जहाँ पर समस्त सुखों की सीमा परमकारूणिक, पूर्णानुरागरससारसर्वस्व, परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रजी विराज रहे थे, वहीं पर गोपियाँ 'आजग्मुः' आईं। तात्पर्य यह है कि इस आगमन मे शुकाचार्य जी भी साथ हैं, क्योंकि जैसे इन व्रजांगनाओं को भगवान् के प्रति गुणमाहात्म्यासक्ति है, उसी प्रकार शुकाचार्य जी को भी भगवान् के गुणमाहात्म्य मे आसक्ति है। श्रीमद्भागवतम् के प्रथम स्कन्ध के सातवें अध्याय के दशम श्लोक के पूर्वार्द्ध मे वेदव्यास जी ने शुकाचार्य के लिए एक वाक्य लिखा है **"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः"** अर्थात् भगवान् वादरायणि शुकाचार्य जी की बुद्धि श्रीमन्नंदनन्दन, सकलव्रजकुलचन्दन, वनमाली, नवगोपवधू विलासशाली, पीताम्बरधारी, गोवर्धनधारी, नटवर नन्दनागर के गुणों मे आक्षिप्त हो गई अर्थात् पागल हो गई। भगवान् के गुणों ने शुकाचार्य जी की बुद्धि को पागल कर दिया। इस प्रसंग पर श्रीमद्भागवतम् के वंशीधरी मे एक आख्यायिका उपस्थित की गई है। यद्यपि उस आख्यायिका का बीज वंशीधर ने 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण' को माना है, परन्तु बारम्बार ढूँढ़ने पर भी उस आख्यायिका का बीज मुझे वहाँ पर तो नहीं प्राप्त हुआ। ठीक है भले ही यह आख्यायिका ब्रह्मवैवर्त्तपुराण मे न हो, परन्तु लगभग सहस्राब्दियों से श्रीमद्भागवत् के रसिक परमहंस परिव्राजक सन्तों महात्माओं के मुखारविन्द से यह सुनी जा रही है अतः इसके प्रामाण्य मे मुझे सन्देह नहीं है, इस पर मुझे श्रद्धा अवश्य है। यद्यपि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण मे मुझे इसका बीज उपलब्ध नहीं हुआ, तथापि श्रद्धेय है यह आख्यायिका, क्योंकि इस आख्यायिका से इस ग्रन्थ का विरोध नहीं हो रहा है। आख्यायिका इस प्रकार है– श्रीमद्वेदव्यास जी के अनुरोध पर शुकाचार्य जी वेदव्यास जी की पत्नी के गर्भ से इसी प्रलोभन से बाहर आये कि उन्हें गर्भ से बाहर आने पर सर्वप्रथम श्रीकृष्णचन्द्र जी के दर्शन हो जायेंगे और ऐसा ही हुआ। भगवान् के दर्शन करके शुकाचार्य जी पूर्णकाम हो गए और सब कुछ छोड़कर वे चल पड़े। जिस पर स्वयं वेदव्यास जी कहते हैं सुत जी के मुख को माध्यम बनाकर–

यं प्रव्रजन्तमनुपेतम पेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि।।

भागवत १/२/२

अर्थात् माता–पिता, मित्र और गुरुजनों को छोड़कर, किसी के निकट न जाकर, संपूर्ण कृत्यों की बाध्यता से मुक्त हुए, जिन शुकाचार्य को जाते हुए देखकर, विरह से व्याकुल होकर द्वैपायन श्रीकृष्ण वेदव्यास जी ने पुत्र–पुत्र कहकर चिल्लाते हुए बुलाया और उनके भाव से तन्मय होकर परम निर्दय प्रकृतिवाले, अपने फलों को निर्दयता से दूसरों को समर्पित कर देनेवाले वृक्षों ने भी जिन शुकाचार्य जी को पुत्र–पुत्र कहकर चिल्लाया, ऐसे संपूर्ण प्राणियों के हृदयों को श्रीकृष्ण जी के चरणारविन्द मे आकर्षित करनेवाले वेदव्यासनन्दन शुकाचार्य जी के प्रति मे आदरपूर्वक नमन कर रहा हूँ। ऐसे शुकाचार्य जी जब बहुत दिनों तक समाधि मे रहे और इधर इस योग्य पुत्र के वियोग मे वेदव्यासजी घुल–घुल करके मर रहे थे, दुःखी हो रहे थे, चिन्तित हो रहे थे। यदि वह उपस्थित होता तो श्रीवैष्णव धर्म के भक्ति सिद्धान्त का बहुत प्रचार होता। इतनी अद्भुत पारमहंसी संहिता भागवत् का वाचन करने के लिए शुकाचार्य के अतिरिक्त किसी मे वे योग्यता नहीं देख रहे थे। तब वेदव्यास जी ने योगदृष्टि से जान लिया कि शुकाचार्य कुरुजांगलों मे भ्रमण कर रहे हैं वे **"उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये"** उन्मत्त, मूक और जड की भाँति भ्रमण कर

रहे हैं। समाधि मे हैं, शरीर चल रहा है, पर उनका मन श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीमत्पादारविन्द मकरन्दास्वादन मे ही निश्चल हो चुका है। अनन्तर वेदव्यास जी ने अपने कतिपय शिष्यों को यह कह कर कुरुजांगलों मे भेजा कि यदि वहाँ एक निर्वस्त्र बाबा, कोई षोडश वर्षीय युवक मिले तो उसे 'वर्हापीडं नटवरवपुः' (भा० १०/२१/५) श्लोक को सस्वर सुनाना और फिर उसकी प्रतिक्रिया मुझे बताना। शिष्यों ने कुरुजांगलों मे जाकर देखा एक षोडश वर्षीय युवक अपने शरीर की सुध–बुध भुलकर भगवान् की प्रेम मदिरा की नशा मे तन्मय होकर झूमता हुआ आनन्द कर रहा है और वहाँ जाकर उन्होंने,

''बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।''

यह श्लोक सस्वर सुनाया। सुनते ही शुकाचार्य जी की समाधि टूट गई अर्थात् भगवान् के इस सौन्दर्य गुण ने वेदव्यासनन्दन शुकाचार्य जी की बुद्धि को पागल बना दिया। समाधि छोड़कर शुकाचार्य ने बच्चों को बुलाया और कहा, यह श्लोक फिर सुनाओ। लगभग पच्चीसों बार यह श्लोक सुना और पूछा, कहाँ का श्लोक है? शिष्यों ने बताया कि हमारे गुरुदेव वेदव्यास जी की अंतिम रचना 'श्रीमद्भागवतम्' का यह श्लोक है। शुकाचार्य प्रभावित तो हुए, परन्तु उनको डर ये लगा कि वे श्रीकृष्ण इतने सुन्दर हैं उन श्रीकृष्ण के चरण मे मैं कैसे जा सकूँगा? उन प्रभु को यदि मैं अपने पास बुला भी लूँ तो उनका संभाल कैसे कर सकूँगा? मेरे पास तो माखन, मिश्री कुछ भी नहीं है उन मदनमोहन के भोगराग की व्यवस्था मैं कैसे कर सकूँगा? मेरे पास कोई मंदिर नहीं तो उनको कहाँ पधराऊँगा? मेरे पास आरती की व्यवस्था नहीं तो उनकी आरती मैं कैसे उतारूँगा? मैं निश्किन्चन् हूँ तो कहाँ से उनके भूषण और वस्त्रों की व्यवस्था करूँगा? इसी अभाव की कातरता के कारण शुकाचार्य ने और कुछ नहीं कहा और वेदव्यास जी के शिष्यों ने लौटकर सारी उस षोडश वर्षीय युवक की प्रतिक्रिया को वेदव्यास जी के समक्ष वर्णन कर दिया। वेदव्यास जी समझ गए कि अहो! मेरा आधा काम तो हो गया, समाधि तो टूट गई शुकाचार्य की, पर वे डर रहे हैं। अबकी बार मैं भगवान् की सहज करूणा का श्लोक ही उन्हें सुनवाऊँगा। दूसरे दिन वेदव्यास जी ने अपने शिष्यों को यह कह कर भेजा कि जाओ, अब भागवत् जी के तीसरे स्कन्ध के दूसरे अध्याय का २३वाँ श्लोक उस युवक साधु को सुनाना। शिष्यगण आये और फिर उनके सामने प्रणाम आदि की कोई औपचारिकता न करते हुए दूसरा श्लोक सुनाया जो वेदव्यास जी के द्वारा उन्हें संकेतिक था,

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम।।

भागवत ३/२/२३

अरे! यदि यशोदानन्दन, मधुरमूर्ति, शिशुरूपधारी, व्रजेन्द्रप्राणाधार, गोकुलनभुश्चन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र जी को दुष्ट प्रकृतिवाली वकी पूतना ने मारने की इच्छा से अपने स्तन मे लगे हुए कालकूट का पान कराया, फिर भी उस परम शत्रुभूता पूतना को जिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से माता के समान परमगति अर्थात 'गोलोक' मिला, उनसे अधिक और कौन दयालु होगा, जिसकी शरण मे हम जायें? अर्थात् इतना दयालु कोई हो ही नहीं सकता जो अपने मारनेवाले को भी तार दे। इस श्लोक ने शुकाचार्य जी की बुद्धि को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की चरणों मे जाने के लिए विवश कर दिया और इसका माध्यम

वेदव्यास जी और वेदव्यास जी की भागवत्‌कथा बनी। शुकाचार्य जी फिर पिताश्री के पास लौट आये और उन्होंने भागवत् जी के संपूर्ण अठारह हजार श्लोकों को आनुपूर्वीसः कण्ठस्थ कर लिया। अतः लिखा–

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः।।

भागवत १/७/११

भगवान् के भक्त जिनको प्रिय हैं, ऐसे भगवान् वादरायण के पुत्र भाग्यशाली शुकदेवजी महाराज ने, जिनकी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के दिव्यगुणों के कारण पागल हो गई है संपूर्ण उस भागवत् जी को कण्ठस्थ कर लिया जो नित्य है और जिसमे महापुरुषों के आदरणीय आख्यान भरे पड़े हैं। इस उपबृंहण का इतना ही तात्पर्य है कि भगवान् शुकाचार्य जी को भी भगवान् के प्रति गुणमाहात्म्यासक्ति है, भगवान् के गुणों के माहात्म्य मे आसक्ति है। अतः प्रथम प्रकार की गोपियों के साथ अपने को भी मिलाकर उन्होंने कह दिया कि गुणमाहात्म्यासक्तिमति श्रीव्रजांगनायें जो श्रीराधा जी की आठों सखियाँ हैं वे आईं और उनके साथ मे भी गोपीभावापन्न होकर आ गया। अब 'ययुः' के तात्पर्य के क्रम मे सर्वप्रथम प्रथम प्रकार की गमन करनेवाली गोपियों की चर्चा करते हैं। **"काश्चित् दुहन्त्यः दोहं हित्वा समुत्सुकाः ययुः"** कुछ गोपियाँ श्रीमुरली नाद को सुनकर इतनी उत्सुक हुईं कि उन्होंने अपने गायों को दूहती हुई भी अपने 'दोह' अर्थात् दोहनकार्य अथवा दूध को छोड़ करके भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द मे जाने का मन बनाया और उनके पास चली गईं। यह दूसरी प्रकार की गोपियाँ हैं जो दोहन को छोड़कर और दूध को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण के पास जा रही हैं। इन गोपियों का यह गमन प्रकार रूपासक्ति का है अर्थात् जिन गोपियों ने दोहन छोड़ा और दूध छोड़ा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों मे गईं उनको रूपासक्ति है। ये रूपासक्तिमति श्रीव्रजांगनायें हैं अर्थात् भगवान् के रूप पर ये इतनी आसक्त हैं कि अब इनके नेत्रों में किसी का रूप आता ही नहीं और ये तो अब कहने लगीं हैं कि

"बावरी वे अखियाँ जल जायें,
जो श्याम बिहाय बिलोकत औरहीं।"

अब तृतीय प्रकार की गोपियाँ किस प्रकार के गमन कर रही हैं श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों मे, इस पर कहते हैं 'पयोऽधिश्रित्य' कुछ गोपियाँ अर्थात् स्मरणासक्तिमति गोपियाँ उबलते हुए दूध को नीचे रखकर भी भगवान् के स्मरण मे इतनी आसक्त हो गईं हैं कि उसमे गेहूँ का आटा डालकर हलुवा बनाना भूल गईं और चल दिया। यही तो स्मरणासक्ति की परिणति है कि जहाँ संसार की समस्त क्रियाओं का विस्मरण हो जाता है। चतुर्थ प्रकार की आसक्ति है पूजासक्ति। कुछ भगवान् की पूजा मे आसक्तिमति गोपियाँ 'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा' अपने पतियों को अपने परिजनों को भोजन परोस रही थीं और वंशी ध्वनि सुनाई पड़ी। नेत्रों के समक्ष भगवान् मधुरमूर्ति, श्रीमद्‌राधामुखचन्द्रचंचलचकोर, नटवर नन्दनागर, नन्दकिशोर उपस्थित हुए। उनकी पूजा मे इनकी आसक्ति तीव्रतर हो गई और भोजन का परोसना छोड़कर शीघ्र श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द मे चली गईं, उनकी मंगलमय पूजा करने के लिए। अब पाँचवीं प्रकार की आसक्ति से युक्त अर्थात् दास्यासक्तिमति गोपियाँ अपने देवरानियों, जेठानियों, ननदों के छोटे–छोटे नवजात बच्चों को दूध पिलाती हुई भी वह छोड़कर चली गईं, क्योंकि उनको अब इन बच्चों की सेवा नहीं करनी है। अब तो उनको उस यशोदा के शिशु की सेवा करनी है **"गोपस्य कोऽपि**

शिशुरन्जनपुंजमंजुः'' इसलिए उनको दूध पिलाती हुई छोड़कर चली गईं। अब तो वे अपने भजनरस का पान परमात्मा को करायेंगी। अपने भाव से कृष्णप्रेम शिशु का पालन करेंगी 'पाययन्त्य शिशून् पयः'। छठी प्रकार की आसक्ति अर्थात् सख्यासक्ति से प्रभावित गोपियाँ अपने पतियों की सेवा करती हुई भी उसे छोड़कर चली गईं। यहाँ 'सख्य' का अर्थ है विश्वास **''तन् मित्रं यत्र विश्वासः''**। भगवान् के प्रति उनका मैत्रीभाव है और उनको भगवान् के प्रति विश्वास है और उस विश्वास मे उनकी आसक्ति है। वे जानती हैं कि इन पतियों के छोड़ने से भी हम पतित नहीं होंगी, क्योंकि ये भौतिक पति हैं, ये स्वार्थी पति हैं, ये पतित होनेवाले पति हैं। भगवान् ही एक ऐसे पति हैं जो पतितपावन हैं, अतः उन्हीं को परमपति के रूप मे मान लेना चाहिए। इस प्रकार इसी विश्वास के साथ कि श्रीकृष्णचन्द्र जी हमे किसी भी काल मे नहीं छोड़ेंगे गोपियाँ चली गईं। आज के युग को समझाने के लिए इस सिद्धान्त के पोषण मे एक आख्यायिका प्रस्तुत की जा सकती है। कहा जाता है कि एक बार समुद्र मे कुछ यात्री समुद्री जहाज से यात्रा कर रहे थे। संयोग से घनघोर बवण्डर आया। चक्रवाती तूफान आया ओर समुद्री जहाज 'इतस्ततः' इधर–उधर होने लगा। डूबने की पूर्ण आशंका बन गई। सारे यात्रियों मे अफरा–तफरी मच गयी। अस्तव्यस्तता हो गई सब हाय–हाय करने लगे। उसी जहाज मे एक युवक शान्तभाव से बैठकर भगवान् का स्मरण कर रहा था। सभी यात्रियों मे जहाँ अथरी–पथरी मची थी उसमे उस युवक की पत्नी भी थी। वो भी बहुत व्याकुल हो रही थी और बार–बार अपने पति से कह रही थी कि ''देख नहीं रहे हो तुम, बहुत शान्त बैठे हो अब तो मृत्यु की घड़ी निकट आ रही है तुम कुछ कर नहीं रहे हो।'' वह चुपचाप बैठा रहा, कुछ भी नहीं बोला। अन्त मे उसकी पत्नी ने जब उसे बहुत सताया तब उसने अपनी पिस्टल निकाली, रिवॉल्वर निकाली और गोली भरकर अपनी पत्नी की छाती पर लगा दिया। कुछ नहीं बोला, बैठा रहा भगवान् का स्मरण करते हुए, पत्नी भी चुप हो गई। थोड़ी देर मे जब चक्रवाती तूफान शान्त हुआ तब उस युवक ने अपनी पत्नी से पूछा कि मैंने तुम्हारी छाती पर रिवॉल्वर लगा दी और तुमको डर नहीं लगा? पत्नी ने कहा, मुझे विश्वास था कि आप मुझे गोली नहीं मारेंगे। युवक ने हँसते हुए कहा कि यदि तुम्हें साधारण पति पर इतना विश्वास था कि मैं तुम्हें गोली नहीं मारूँगा तो मुझे उस परमपति परमात्मा पर क्यों नहीं विश्वास होगा, जो सारे संसार का पालन करता है? उस पर क्या मुझे नहीं विश्वास होगा? मुझे भी विश्वास था कि सभी के डूब जाने पर भी मैं इस समुद्र में नहीं डूबूँगा। तात्पर्य यह है कि गोपियों को महाविश्वास जग गया है। वे जानती हैं कि पतियों की सेवा छोड़कर हम पतितपावन की सेवा करने यदि जायेंगी तो हमारा भवबन्धन छूट जाएगा, हम पतित नहीं होंगी और श्रीकृष्ण हमको नहीं ठुकरायेंगे। एक बार किसी ने मुझसे एक प्रश्न किया था कि वैष्णवजन अपने मस्तक पर उर्ध्वपुण्ड्र की तीन रेखायें क्यों लगाते हैं? इसका मैंने भी यही उत्तर दिया था कि साधारण पत्नी अपने मस्तक पर सिन्दूर की एक रेखा लगाकर यह सोच लेती है कि इस जन्म मे हमारा पति हमे नहीं छोड़ेगा, परन्तु हम लोग श्रीराम किंबा, भगवान् श्रीकृष्ण को अपना सब कुछ मानते हैं तो हम तीन रेखायें इसलिए करते हैं अपने मस्तक पर कि हमे विश्वास है कि हमारे पति श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु, हमारे परमपरमेश्वर श्रीरामचन्द्र प्रभु हमको कभी भी नहीं छोड़ेंगे। तीनों कालों मे हमको नहीं छोड़ेंगे, तीनों अवस्थाओं मे हमको नहीं छोड़ेंगे, स्वर्ग, नरक और अपवर्ग की परिस्थिति मे हमको नहीं छोड़ेंगे इसलिए हम निश्चिन्त हैं। सामान्य स्त्री तो एक जन्म के लिए निश्चिन्त होती है, हम तो जन्म–जन्मान्तर, युग–युगान्तर, कल्प–कल्पान्तरों तक के लिए निश्चिन्त हैं। इसीलिए हम अपने मस्तक पर उर्ध्वपुण्ड्र की तीन रेखायें लगाते हैं। यहाँ का तात्पर्य यही है कि सख्यासक्तिमति

श्रीव्रजांगनाओं ने अपने पतियों की सेवा छोड़कर नित्यसखा परमात्मा के चरणों मे गमन किया। चली गईं परमात्मा के चरणों मे जो जीव के नित्यसखा हैं।

''राम प्राण प्रिय जीवन जी के।
स्वारथ रहित सखा सबहीं के।।''

मानस २/७४/६

'अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्' सातवीं वात्सल्यासक्ति से युक्त वात्सल्यासक्तिमति श्रीव्रजांगनाओं ने भोजन करते हुए अपना भोजन छोड़ा और चली गईं। जैसे बालक का रोदन सुनकर, अथवा बालक का स्मरण आते ही माँ अपना भोजन भी छोड़ देती है बच्चे के लिए, उसी प्रकार वात्सल्यभाव के कारण भगवती श्रीव्रजांगनाओं ने अपना भोजन छोड़ा। यहाँ 'वात्सल्य' का केवल इतना ही तात्पर्य है भगवान् के प्रति कि अपनी समस्त सुविधाओं को तिलांजलि देकर केवल भगवान् की ही सुविधाओं का चिन्तन करना यही यहाँ वात्सल्य है। इसीलिए भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार की नित्यपत्नी होने पर भी भगवती सीता जी के लिए वाल्मीकि रामायण मे एक विशद् विरूद दिया गया है **''वसुधायाहि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्''** (वा.रा.६/१११/२१) यदि भगवान् श्रीराम भक्तवत्सल हैं, मित्रवत्सल हैं, भृत्यवत्सल हैं, शरणागत वत्सल हैं तो भगवती सीताजी भी भर्तृवत्सला हैं। सारे संसार पर भगवान् का वात्सल्य है तो भगवती सीताजी का भगवान् राम पर वात्सल्य है। वात्सल्य का केवल इतना ही तात्पर्य है जैसे माता अपने बालक का लालन करती है, उसी प्रकार भगवती सीताजी भी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार के श्रीमद्चरणारविन्दों का लालन करती हैं **''जानकीकरसरोजलालितौ''** (मानस७ मंगलाचरण, २) **''प्रियायाः पादस्पर्शाक्षमाभ्यां''** (भागवत ६/१०/४) भगवती श्रीसीताजी भगवान् श्रीराघवेन्द्रसरकार के कोटि–कोटि कमलों से भी कोमल श्रीमद्चरणारविन्द का लालन करती हैं, उसे दुलारती रहती हैं। यदि कौसल्या भगवान् के मुखचन्द्र को दुलार करती हैं तो सीता जी भगवान् के चरणों का दुलार करती हैं। इसलिए यहाँ भी वात्सल्यासक्तिमति श्रीव्रजांगनाओं ने भोजन करती हुई भी अपना भोजन छोड़कर, श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द मे गमन किया। उनको लगा कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीचरणारविन्द श्रीमद्वृन्दावन की कठोर, पथरिली, कँटिली भूमि मे पीड़ित हो रहे होंगे, चलकर उनके चरणों की सेवा की जाए और इसी वात्सल्यासक्ति का परिणाम 'गोपीगीत' का अंतिम श्लोक भी है, गोपियों ने स्वयं कहा–

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।।

भागवत १०/३१/१९

अर्थात् आपके श्रीमत्चरणारविन्दों के प्रति हमारी यह वात्सल्यासक्ति है कि हम उन चरणों को जब अपने वक्षोजों पर रखते हैं तो हमे भय लगता है कि हमारे पयोधरों की कर्कशता से आपके श्रीचरणारविन्दों को पीड़ा न पहुँच रही हो। उन्हीं चरणारविन्दों से आप वृन्दावन की कंकरीली, पथरीली भूमि मे चल रहे हैं। क्या वृन्दावन की छोटी–छोटी नोकिली तप्त पाषाण कणिकाओं से वे चुभते नहीं होंगे? क्या काँटे उनमे चुभते नहीं होंगे? क्या कठोर अंकुरों से आपके श्रीचरणकमल छिलते न होंगे? इसका चिन्तन करके हमारी बुद्धि को चक्कर आ रहा है, क्योंकि आप ही हमारे आयुष्य हैं। हमारा आयुष्य आप मे हैं। यह है वात्सल्यासक्तिमति श्रीमद्व्रजांगनाओं का वात्सल्यपूर्ण मंगलमय उदाहरण। कुछ आठवीं प्रकार की आसक्ति से युक्त व्रजांगनायें अर्थात् नित्य कान्ताभावापन्न नित्यकान्ताभावासक्त्यापन्न व्रजांगनायें 'लिम्पन्त्यः' अपने शरीर मे सुन्दर अंगराग लगा रही हैं

वो छोड़कर भी चली गईं। अथवा 'लिम्पन्त्यः' घरों को गोबर से लीप रही हैं वो छोड़कर चली गईं। ये नित्यकान्ताभावासक्तिमति श्रीव्रजांगनाओं के गमन का उदाहरण है। कान्ताभाव के कारण अंगराग लगाकर प्रभु को प्रसन्न करना चाहती हैं, जैसे गृहिणी चिरागत् पति के सम्मान मे अपने घरों को सुन्दर लीप–पोत कर स्वच्छ रखती है। भाव कान्ताभाव है, किन्तु मुरली की धुन सुनी वह छोड़ दिया, अंगराग भी छोड़ दिया कोई बात नहीं। जब प्राणपति ने स्मरण कर लिया तो जैसे उन्होंने बुलाया वैसे हमे जाना चाहिए। हो सकता है हमारे अंगराग से रहित अंगों के प्रति उन्हें संतोष प्राप्त हो जाए।

जिनमे भेषा मेरा साहिब रीझे सोई भेष धरूँगी।
बाला मैं बैरागिन हूँगी।

मीरा की इसी अवधारणा के ही परिप्रेक्ष्य मे गोपियों ने अपने शरीर का अंगराग लगाना छोड़ा। और नवमीं अर्थात् आत्मनिवेदनासक्तिमति श्रीव्रजांगनाओं ने अपने शरीर का मार्जन और अपने घरों का मार्जन छोड़ दिया। जब आत्मनिवेदन ही करना है तो जैसी स्थिति मे हम हैं, वैसे भगवान् को समर्पित कर देंगे। फिर उसको स्वच्छ करने या न स्वच्छ करने का तात्पर्य ही क्या रहा? जैसी भी परिस्थिति है उसी परिस्थिति मे भगवान् हमे स्वीकार लेंगे। हम उसी परिस्थिति मे अपने को भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करें। हम उसमे कोई परिवर्तन न करें नहीं तो कृतघ्नता हो जाएगी। क्या श्रीजटायु जी ने अपने शरीर मे कोई परिवर्तन किया जब वे भगवान् के समक्ष प्रस्तुत हुए? उसी प्रकार माँसाहार के कारण दुर्गन्ध शरीर था उनका। उसी प्रकार रावण के शस्त्रों से रक्त–रंजित शरीर था उनका, उसी प्रकार पंख कटे हुए थे उनके, उसी प्रकार सड़ी–गली माँस खाने के कारण उनके शरीर से भयंकर दुर्गन्ध निकल रहा था। उन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया, क्योंकि आत्मनिवेदन करना था। वे जैसे थे वैसा अपने को प्रस्तुत कर दिया और भगवान् ने उन्हें स्वीकार भी कर लिया **"राघव गीध गोद कर लीन्हें"** ठीक वैसे ही यहाँ भी गोपियों ने अपने शरीर के परिवेश मे अथवा, अपने घरों मे कोई परिवर्तन नहीं किया। जैसे उनका शरीर है उसी प्रकार का शरीर यथावत् भगवान् को समर्पित कर दिया। तो 'प्रमृजन्त्यः ययुः' अपने शरीर और घरों का मार्जन करती हुईं उस क्रिया को छोड़कर गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की चरणों मे गईं। यह है आत्मनिवेदनासक्तिमति व्रजांगनाओं के गमन का प्रकार और 'अंजन्त्यः काश्च लोचने' यही तन्मयता है। दसवीं तन्मयतासक्ति से भावित श्रीव्रजांगनायें अपने नेत्र मे लगाती हुई अन्जन क्रिया को भी संपूर्ण न करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरण मे चली गईं। तन्मय हो गईं, उनको यह ध्यान ही नहीं रहा कि दोनों नेत्रों मे अन्जन लगा लेना चाहिए। और अन्ततोगत्वा ग्यारहवीं अर्थात् परमविरहासक्तिमति व्रजांगनाओं ने तो भगवान् के परमविरह मे आसक्त होकर अपने वस्त्रों के धारण करने का क्रम भी छोड़ दिया। भगवान् के परमविरह मे इतनी आसक्त हो गईं कि उन्हें वस्त्र धारण करने का ध्यान ही नहीं रहा। वे तो बस अपने नंदनन्दन को निहारने के लिए इतनी उत्सुक हो गईं कि कटिवस्त्र को उर्ध्ववस्त्र बना लिया और उर्ध्ववस्त्र को कटिवस्त्र बना लिया। चुनरी कटि मे धारणा कर ली लहंगा ऊपर धारण कर लिया। कुण्डल अंगुली मे पहन ली और अंगुठी कान मे डाल ली। डालने का प्रयास करने लगी। पायल हाथ मे पहना और चूड़ी चरण मे पहन ली 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्' इस प्रकार इस प्रकरण मे जो ग्यारह प्रकार कहे गए हैं श्रीव्रजांगनाओं के गमन की उनका आधार है केवल श्रीमद्ब्रजांगनाओं की ग्यारह प्रकार की आसक्तियों का परमपावन विम्ब। नारद जी द्वारा कही गई ग्यारहों प्रकार की आसक्तियाँ गोपियों मे है। नारद जी का सूत्र इस प्रकार है–

"गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्ति–
स्मरणसक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तित–
न्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपाएकधाप्येकादशधा भवति।।" (ना.भक्तिसूत्र ३/२७) पूर्ण हैं गोपियाँ, भक्ति की चरम सीमा हैं गोपियाँ। अब कतिपय और भी विचार यहाँ किये जा रहे हैं। जैसा कि आप जान चुके हैं कि श्रीगोपियों का व्यक्तित्व पूर्ण भक्तिमय है। और राधा जी और उनके सखियों के संबन्ध मे कुछ कहना सर्वथा अनपेक्षित है वे तो नित्यसिद्धा हैं, परन्तु जो श्रीव्रजांगनायें साधनसिद्धा हैं जिनके लिए शुकाचार्य जी ने 'ययुः' शब्द का प्रयोग किया है उनके दस प्रकार के गमनों पर यहाँ विचार किया जा रहा है। 'ययुः' क्रिया दस बार आई है। यहाँ दस प्रकार से गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण जी की चरणों मे गईं। प्रथम प्रकार की गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की चरणों मे आईं 'आजग्मुः' इसलिए यहाँ आगमन पर विचार नहीं कर रहे हैं, यहाँ गमन पर ही विचार करेंगे। श्रीमद्भागवतम् मे नवधाभक्ति का वर्णन श्रीप्रह्लाद जी ने हिरण्यकशिपु के समक्ष किया है–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

भागवत ७/५/२३

भगवान् की दिव्यकथाओं का श्रवण, उनके दिव्य नाम, रूप, लीला, धाम का कीर्तन, उनके श्रीमन्मधुरमूर्ति और गुणों का स्मरण, उनके श्रीमद्चरणारविन्दों की सेवा, प्रभु का मंगलमय पूजन, प्रभु के श्रीचरणों मे दैन्यभाव से वन्दन, प्रभु के प्रति दास्यभाव और प्रभु के प्रति विश्वास तथा प्रभु के श्रीचरणारविन्द मे अपना सब कुछ सौंप देना ये हैं नौ भक्तियाँ और इन्हीं भक्तियों के पश्चात् प्रकट होती है 'प्रेमलक्षणाभक्ति'। इसलिए भक्तमालकार ने भक्ति दशधा के आगर से दस भक्तियों का वर्णन किया। संयोग और सौभाग्य से यहाँ भी दस प्रकार की गोपियों के लिए 'ययुः' का प्रयोग किया गया है। अर्थात् दस प्रकार से गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की चरणों मे गईं।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।।
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।।
लिम्पन्त्यः प्रभृजन्त्योऽन्या अंजन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः।।

भागवत १०/२६/५,६,७

इनमे जिन गोपियों ने गाय दोहन करते हुए भी दोहन क्रिया और दूध को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणों मे गमन किया यह गमन 'श्रवणभक्ति' का परिणाम है अर्थात् जब वंशी द्वारा भगवान् के दिव्य माधुर्य, सौन्दर्य, शील, शक्ति, अनन्त निरस्त समस्त हेयगुण प्रत्यनीक, कल्याण गुणगणों का श्रवण हुआ, तब गोपियों ने गो दूहना छोड़ दिया। अब गौ कि चिन्ता न करके गोपाल मे आसक्ति हो गई। श्रवणभक्ति ने उनके 'गो दोह' कर्म छुड़ाया। वे पधार गईं भगवान् श्रीकृष्चन्द्र जी की चरणों मे और जिन्होंने उबलते हुए दूध को नीचे रखकर भी उसमे गोधूम के कण नहीं डाले अर्थात् हलुवा न बनाकर भगवान् के श्रीचरणों मे गमन किया, ये 'कीर्तनभक्ति' की भावुका व्रजांगनायें हैं अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के कीर्तन में गोपियाँ इतनी तन्मय हो गई हैं कि उनको घर के सारे कार्य

भूल गये और "स्मरणं" 'परिवेषयन्त्यः' परिवेषण करती हुई जो व्रजांगनायें उस कार्य को छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र के पास गईं, वे 'स्मरणभक्ति' से भाविता थीं, क्योंकि भगवान् के स्मरण मे उनको जगत् का विस्मरण हो गया। भगवत्स्मरण के वेग मे, भगवत्स्मरण के परम पावन जाह्नवी प्रवाह मे संसार के समस्त कुस्मरण बह गए। जैसे जब श्रीसुतीक्ष्ण जी ने भगवान् का स्मरण किया तो उनको कोई मार्ग ही नहीं सूझा **"को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा"**। भगवान् का स्मरण हुआ और भगवती वंशी ने सहायता कर दी तो जहाँ भगवान् विराज रहे थे वहीं गोपियाँ चली गईं। 'पाययन्त्यः शिशून् पयः' जो गोपियाँ बालकों को दूध पिला रही थीं, वे पादसेवन भगवत्चरणारविन्द की 'सेवनात्मिकाभक्ति' से भावित होकर वह क्रिया छोड़कर चल पड़ीं, क्योंकि अब भगवान् के श्रीचरणारविन्द की सेवा करनी है। संसार के बालकों की सेवा करने से कोई लाभ नहीं। 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' और जो गोपियाँ अपने पतियों की सेवा करती हुई सेवाकार्य को छोड़कर गईं, उन पर 'अर्चनात्मिकाभक्ति' का प्रभाव था अर्थात् अब वे नित्यशुद्ध, मुक्तस्वभाव, परिपूर्णतम् परमात्मा, विशुद्धविग्रह, सप्त धातुओं से अतीत परमात्मा के श्रीचरणारविन्द के पूजन का उन्हें सौभाग्य मिला है। अब वो सामान्य पतियों की सेवा क्या करेंगी? हाड़–माँस के पतियों की सेवा क्या करेंगी? मल–मूत्रादि संपन्न पतियों की सेवा क्या करेंगी? अब तो वे सेवा करने जा रही हैं सबके प्राणपति की और 'अश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्' जिन गोपियों ने अपनी भोजन क्रिया छोड़ी भोजन करती हुई चल पड़ीं, वे भगवान् की 'वन्दनाभक्ति' की प्रतीक हैं अर्थात् भगवान् के श्रीचरणारविन्दों का वन्दन करने के लिए सब कुछ छोड़ दिया। भोजन छोड़कर भजन मे प्रवृत्त हो गईं और जिन्होंने अपने शरीर में अंगराग लगाना छोड़ा उनमे भगवान् की 'दास्याभक्ति' थी। दास्य को सजने धजने की क्या आवश्यकता? वह तो किसी भी वेश मे प्रभु की सेवा से उसे लेना देना। उसे तो प्रभु की सेवा करनी है उसे स्वयं श्रृंगार से क्या? इसलिए उन्होंने प्रभु के उस दास्यानुराग मे अपना अंगराग भी छोड़ दिया। गोपियों ने 'सख्यभक्ति' का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपना मार्जन छोड़ा, क्योंकि एक मित्र दूसरे मित्र से जब मिलने जाता है तो वह अपने स्वच्छता और अस्वच्छता का ध्यान नहीं रखता। मित्रता ह्रदय की होती है शरीर की नहीं। इसलिए मार्जन छोड़कर परमपवित्र, सबके मार्जक परमात्मा के शरण मे गोपियाँ 'सख्यभक्ति' से भावित होकर गईं। 'अंजन्त्यः काश्च लोचने' कुछ गोपियाँ अपने नेत्रों मे अंजन लगा रही थीं, छोड़ दिया यही है 'आत्मनिवेदन'। अब तो हम जैसे हैं भगवान् के हैं

"खोटो फरौं रावरो हौं रावरो सो रावरो सौं।
झूठ क्यों कहौं वो जाने सबही के मन की।।"

विनयपत्रिका ७५

यही है 'आत्मनिवेदन' प्रभु हमे स्वीकार कर लीजिए, हमनें आँख मे अन्जन लगाया है कि नहीं, इससे आपसे कोई लेना देना नहीं, क्योंकि आप निरन्जन हैं तो निरन्जन के सामने अन्जन की क्या आवश्यकता है? पूर्ण हो गई 'नवधाभक्ति'। अब प्रकट हुई 'प्रेमाभक्ति'। प्रेमाभक्ति मे सब कुछ अस्त–व्यस्त हो गया, सब कुछ उल्टा हो गया और यही नियम भी है जिसे संसार सत्य मानता है उसी को प्रेम असत्य मानता है। सभी रस्सी मे सर्प का भ्रम मानते हैं अर्थात् जब रस्सी को रस्सी समझ लिया जाए तब व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो जाता है। यहाँ तो इसी रस्सी मे यशोदा मैया ने भगवान् श्रीकृष्ण को बाँध लिया है। प्रेम मे सब कुछ विपरीत होता है। भगवान् श्रीराम भगवती श्रीसीता जी के वियोग मे कहते हैं, सीते! मुझे सब कुछ विपरीत दिख रहा है,

राम कहेउ वियोग तव सीता। मो कहँ सकल भए विपरीता।।
नवतरू किसलय मनहुँ कृषानू। काल निशा सम निशि शशि भानू।।
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा।।
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग श्वास सम त्रिबिध समीरा।।

मानस ५/१४/१,२,३,४

अर्थात् हे सीते! आपके वियोग मे मुझे सब कुछ उल्टा दिख रहा है। नवीन वृक्ष के पल्लव अग्नि के समान दिखते हैं, रात्रि, काल की रात्रि जैसी दिख रही है, चन्द्रमा, सूर्य के समान तप रहे हैं, हितैषी, शत्रुवत् लग रहे हैं, शीतल मन्द सुगन्ध समीर सर्प के श्वास के जैसे लग रहे हैं, कमल का वन बरछी के वन जैसा लग रहा है और मेघ बरस रहा है शीतल जल, पर प्रतीत होता है मानो वह खौलते हुए तेल की वृष्टि कर रहा है। प्रेम में सब कुछ विपरीत दिखता है।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्राग् दिशायुतम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे।। शिक्षाष्टकं ५

अतः यहाँ भी आज सब कुछ व्यत्यस्त हो गया। प्रेम की मदिरा में मत्त सुतीक्ष्ण जी की भी यही स्थिति है

''कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।''

मानस ३/१०/१२

कभी वे पीछे जाते हैं, कभी आगे आते हैं, कभी मस्ती मे नाचते हैं।

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।।
दिशि अरु बिदिश पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहीं बूझा।।
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।।
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।।
अतिशय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा।।

मानस ३/१०/१०,११,१२,१३,१४

इसलिए इस प्रेम की परम पावन मदिरा मे मत्त होकर गोपियों ने अपने वस्त्रों को व्यत्यस्त कर लिया। उलटा–पलटा पहना, आभूषण भी उलटे–पलटे पहने। 'काश्चित् कृष्णान्तिकं' इस प्रकार भगवान् के समीप आईं। इस प्रकार ग्यारह आसक्तियाँ और 'दशधाभक्ति' के परम पावन आदर्श पूर्ण हुए। अब पतियों ने रोका, पिताओं ने रोका, भ्राताओं ने रोका, बन्धु–बान्धवों ने रोका पर गोपियाँ किसी के रोकने से नहीं रूकीं।

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।।

भागवत १०/२६/८

ये कौन हैं जो रोक रहे हैं और क्यों रोक रहे हैं? मुझे तो लगता है भगवान् के चरण मे जाने से जीव के चारों पुरुषार्थ ही रोकते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इनमे से पहले मोक्ष पुरुषार्थ ने रोका, वही सबका पति है, श्रेष्ठ स्वामी है। मोक्ष ने कहा, छोड़ो तुम कन्हैया को हम तुम्हें मोक्ष दे रहे हैं, हम तुम्हें मुक्त कर देते हैं भवबन्धन से। छोड़ो क्या करोगी लेकर, किन्तु गोपियों ने मोक्ष की बात नहीं मानी **''मुक्ति कहे गोपाल सौं मो कहँ ठाँव बताओ।''** तो गोपाल ने कहा, **''व्रज रज उड़ि मस्तक परै मुक्ति मुक्त हो जाओ।''** मुक्ति तो खड़ी प्रतीक्षा करती रहती है। आज 'पतिभिः' पाँचों प्रकार के सायुज्य, सामीप्य,

सारूप्य, सालोक्य और साष्ट्र्य जिसे एकत्व कहते हैं ये पाँचों प्रकार के मोक्ष इन गोपियों को रोक रहे हैं। 'ता वार्यमाणाः पतिभिः' यही है पति और व्रज के सभी गोपाल भी मोक्षस्वरूप हैं जैसे **''अयोध्याबासिनः सर्वे जगन्नाथस्य मूर्तयः''** उसी प्रकार मथुरा भी 'सप्तैता मोक्षदायिका' मोक्षदायक पुरी है, परन्तु गोपियाँ नहीं रूकीं। नहीं लौटीं, क्योंकि उन्हें मोक्ष नहीं चाहिए। वे मुक्त होना नहीं चाहतीं। वे तो अपने श्यामसुन्दर को चाहती हैं। 'पितृभिः' पिता स्थानी है वेद विहित् धर्म पितृ स्थानी धर्मों ने रोका, क्या करोगी जाकर गोविन्द के पास? यहीं रहकर धर्माचरण करो, वेदानुकूल धर्म का आचरण करो। परन्तु उस पुरुषार्थ की लिप्सा से भी गोपियाँ नहीं डिगीं। धर्म की उन्हें कोई लिप्सा नहीं है क्योंकि धर्म का फल है वैराग्य उन्हें वैराग्य चाहिए नहीं। वे तो अपने श्यामसुन्दर के चरणारविन्द मे अनुराग चाहती हैं। 'भ्रातृबन्धुभिः' अर्थ, भाई के समान सहायक है। अर्थ की लिप्सा ने रोका मत जाओ, वहाँ कुछ मिलना नहीं है यहाँ सब कुछ है तुम्हारे पास नहीं रूकीं। बन्धु के समान है काम, काम्य पदार्थ इस प्रकार पति के समान है मोक्ष, पिता के समान धर्म, भाई के समान अर्थ और बन्धु–बान्धवों के समान काम, इन चारों पदार्थों ने रोका, परन्तु गोपियाँ नहीं मानी। 'गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त' नहीं लौटीं, क्योंकि 'मोहिताः' **''मया राधया ऊहिताः''** श्रीराधा जी ने समझा दिया कि देखो जी श्रीकृष्ण के प्रेम मे इन चारों पदार्थों की भूलकर भी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्ध' मे रूप गोस्वामी ने तो कह दिया कि भुक्तिस्पृहा के साथ मुक्तिस्पृहा भी पिशाचिनी चुड़ैल है, इसके रहने पर भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदिवर्तते।
तावद्भक्ति रसस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।

इसलिए इन चारों का निषेध गोपियों ने नहीं माना। यद्वा चार प्रकार के कर्म नित्य, नैमित्यिक, प्रायश्चित्त और उपासना इनमे फँसकर जीव भगवान् की चरणों मे नहीं जाता। नित्य कर्म, नैमित्यिक कर्म, प्रायश्चित्त कर्म और उपासना कर्म इनमे उपासना कर्म पतिस्थानी है। वे रोकते हैं, मत जाओ, छोड़ दो, और नित्य कर्म पिता के समान है। नैमित्यिक कर्म भाई के समान है, प्रायश्चित्त कर्म बन्धु–बान्धव के समान है। इन चारों कर्मों ने भी गोपियों को भगवान् के चरणों मे जाने से रोका, ये सब कर लो, परन्तु **''गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः''** भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने इनकी आत्माओं को चुरा लिया है, इसलिए गोपियाँ नहीं लौटीं अर्थात् सारे नित्य, नैमित्यिक, प्रायश्चित और उपासनात्मक कर्मों को भगवान् के चरणों मे छोड़ दिया, स्वयं भगवान् के चरणों मे पधार गईं 'न न्यवर्तन्त मोहिताः'।

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः।।

भागवत १०/२६/६

कुछ गोपियाँ अपने–अपने भवनों के अन्दर थीं और उनके परिजनों ने घर के ताले बन्द कर दिये थे। गोपियों को श्रीकृष्ण के प्रति जाने के लिए तलफलाती देख उन्होंने सारे खिड़कियाँ दरवाजे बन्द कर दिए थे। अतः वेदव्यास जी ने कहा, 'अलब्धविनिर्गमाः' **''न लब्धः वीनां पक्षीणामपि निर्गमो याभिः''** अर्थात् उनके घरों मे पक्षियों के निकलने का भी स्थान नहीं प्राप्त हो सका था। गोपियाँ जब निकलने का मार्ग नहीं प्राप्त कर सकीं **''न लब्धः विण्णवे निर्गमो याभिः ताः अलब्धविनिर्गमाः''** भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जब उन्हें निकलने का कोई मार्ग नहीं मिला, गली तो चारों बन्द हुए, तब प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र जी की

मंगलमय भावना से युक्त होकर अपने नेत्रों को बन्द करके गोपियों ने उन्हीं श्यामसुन्दर भववारिधि, मन्दर–मन्दर, सकलकल्याणगुणगणैकमंदिर, भोगपुरन्दर, सच्चिदानन्दघन, वनमाली श्रीकृष्णचन्द्र जी का ध्यान कर लिया और ज्यों ही ध्यान किया त्यों ही उन्हें महासमाधि लग गई और अत्यन्त असहनीय प्रियतम के वियोग से उत्पन्न तीव्रताप ने गोपियों के सभी अशुभों को हिलाकर रख दिया। इसके पश्चात् ध्यान मे प्राप्त अच्युत् अखण्डैश्वर्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के मंगलमय मधुर आलिंगन से जनित सुख ने उनके संपूर्ण मंगलों को भी धन्य कर डाला अर्थात् कल्प–कल्पान्तर, युग–युगान्तर, जन्म–जन्मान्तर के कोटि–कोटि अशुभ क्रूर फल देने के लिए प्रस्तुत होकर भी उतनी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते थे गोपियों को, जितनी पीड़ा भगवान् के विरह से उत्पन्न तीव्रताप ने पहुँचा दिया। इसलिए वे सारे के सारे अशुभ काँप गये और काँप कर समाप्त हो गये। उनको सभी सभी अशुभों के फल मिल गए और ध्यान मे प्राप्त हुए भगवान्। श्रीकृष्ण के मधुर आलिंगन से गोपियों को जो आनन्द हुआ उस आनन्द महासागर मे कल्प–कल्पान्तर, युग–युगान्तर, जन्म–जन्मान्तरों के अनन्त–अनन्त शुभ भी डूब गए। इस प्रकार संसार के शुभ और अशुभ दोनों से गोपियाँ मुक्त हो गईं। अब उनका मन सन्यास योग युक्त हो गया, वे विमुक्त हो गईं। अब तो वे भगवान् को प्राप्त करेंगी ही करेंगी और भगवान् को प्राप्त कर भी लिया।

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः।।

भागवत १०/२६/१०

ध्यान मे प्राप्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के मंगलमय परमपावन, परममधुर, परमरमणीय, शुभाशुभ भुजालिंगन से गोपियों के सारे मंगल 'अक्षीण' अर्थात् नये–नये हो गये अर्थात् नित्य नव हुए। गोपियाँ परम मंगलमय हो गईं और परिणाम क्या हुआ?

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।।

भागवत १०/२६/११

गोपियाँ आई थीं जारबुद्धि से 'जारबुद्धि' का तात्पर्य उप–पति से नहीं, वस्तुतः पहले संसार के पतियों के प्रति उनकी जारबुद्धि थी। गोपियाँ जानती थीं कि जो माता–पिता ने संसार के पतियों से हमारे संबन्ध जोड़े हैं वह यही जार हैं, ये उप–पति हैं। **''जरयन्ति भगवद् भक्ति प्ररोहान् ये ते जाराः।''** इनके संपर्क से तो भगवद्भक्ति के सुन्दर–सुन्दर प्यारे–प्यारे अंकुर जले जा रहे हैं। तो पहले जारबुद्धि से संसार मे संगत होनी थी, परन्तु आज भगवान् की कृपा से संसार के उप–पतियों से इनको छुटकारा मिला और ये उन्हीं परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को प्राप्त कर लीं और तुरन्त त्रिगुणात्मक शरीर को इन्होंने छोड़ दिया। अत्यन्त शीघ्र इनके बन्धन समाप्त हो गए। मानो, गोपियों ने उन अपने पतियों को वह शरीर दे दिया जिससे उनका विवाह हुआ था। कह दिया गोपियों ने ''लो तुम्हारा संबन्ध इस शरीर से है न, लो इसका अचार डालो। हम दिव्य देह से परमात्मा को प्राप्त कर लेंगी।'' अब हमे श्रीकृष्णचन्द्र के मधुरमिलन से कोई रोक नहीं सकता और न किसी को रोकने का अधिकार है, क्योंकि संसार के शरीरियों का संबन्ध शरीर से है न कि जीवात्मा से। जीवात्मा का परमात्मा से अविच्छिन्न संबन्ध है। **''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्''** (१/३/१२) यहाँ नित्य, बहु और चेतन, इन तीन शब्दों मे षष्ठी का प्रयोग करके श्रुति ने ये सिद्ध कर दिया है कि चेतन और

बहुत्वावच्छिन्न नित्य जीवात्माओं के परमात्मा नित्य संबन्धी हैं और परमात्मा का संबन्ध त्रिकालाबाधित है। परमात्मा भूतकाल मे भी जीवों के संबन्धी थे, वर्तमान मे भी हैं और भविष्यत् मे भी रहेंगे, इसलिए **''तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः''** यह जारबुद्धि इनकी संसार के प्रति है। **''संसारे जारबुद्ध्यापि तमेव परमात्मानं संगताः''** संसार के पतियों के प्रति जारबुद्धि रखते हुए भी गोपियों ने उन परमात्मा का मंगलमय संगम प्राप्त किया, मंगलमय समागम प्राप्त किया गंगासागर से मिलीं। तुरन्त उन्होंने संसार के बन्धनों को छोड़कर त्रिगुणात्मक शरीर को छोड़ दिया। अथवा, **''जहुर्गुणमयं देहं''** वस्तुतः गोपियों को उनके पतियों ने रस्सियों से चारपाइयों मे बाँध रखा था। भगवान् का ध्यान करते ही गोपियाँ दिव्य शरीर से चली गईं। हंस उड़ गया पिंजरा खाली का खाली रह गया। अर्थात् उनके शरीर उनके चारपाइयों मे बँधे रह गये और गोपियाँ गोपीजनवल्लभ को प्राप्त कर गईं, धन्य हो गईं। अथवा, **''जहुर्गुणमयं देहं''** गुणमयं का 'गुण एव गुणमयः' यहाँ स्वार्थ मे मयट् प्रत्यय हुआ है। अर्थात् गोपियों ने गौण शरीर को छोड़ दिया और अपने दिव्य शरीर को प्राप्त कर लिया। गोपियों की छाया व्रजमण्डल में रह गई और मुख्य काया भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को प्राप्त हो गई। यहाँ एक अद्भुत रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि सामान्य कवियों की दृष्टि मे अर्थात् जयदेव आदि की दृष्टि मे रासपंचाध्यायी प्रवृत्तिपरक है, श्रृंगारपरक है, श्रृंगार की कलाओं को सूचित करती है, और श्रीधर जैसे निवृत्तिवादी महात्मा टीकाकारों की दृष्टि मे रासपंचाध्यायी निवृत्तिपरक है, परन्तु यह जानना आवश्यक होगा कि इसका मुख्य सिद्धान्त क्या है? क्या यह प्रवृत्तिपरक है अथवा, निवृत्तिपरक? इस संबन्ध मे मुझे एक निवेदन करना है कि किसी भी ग्रन्थ के वास्तविक तात्पर्य को समझने के लिए उसके 'पौर्वापर्य' पर विचार कर लेना चाहिए। श्रीमद्भागवत् का प्रारम्भ करते हुए भगवान् वेदव्यास जी कहते हैं कि इसमे परमप्रेममय धर्म का निरूपण हुआ है **''धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः''** जीव का परमधर्म क्या है? **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** भगवान् कहते हैं कि संपूर्ण धर्मों को छोड़कर मुझ एक परमात्मा को शरणरूप में स्वीकार कर लो, मेरी शरण में आ जाओ। इसका अर्थ है और धर्म, उपधर्म हैं और भगवान् की शरणागति ही जीव का परमधर्म है तथा उसी परमधर्म का श्रीमद्भागवतम् मे निरूपण हुआ है। और अन्त में द्वादश स्कन्ध के तेरहवें अध्याय में वेदव्यास जी स्पष्ट कहते हैं, **''श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद् वैष्णवानां धनं''** ये वैष्णवों का धन है। पाठान्तर मे भले ही 'वैष्णवानां प्रियं' लिख दिया है परन्तु 'वैष्णवानां धनं' पाठ ही मुख्य है। इसलिए पद्मपुराण मे श्रीमद्भागवत् माहात्म्य में भी यही वाक्य है **''श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद् वैष्णवानां धनं''** ये वैष्णवों का धन है। यदि श्रीमद्भागवतम् वैष्णवों का धन है, वैष्णवों का प्रिय है और 'नित्यं विष्णुजनप्रियः' शुकाचार्य जी विष्णुजनों को प्रिय हैं, उनको विष्णुजन प्रिय हैं। अतः वैष्णवों को आनन्दित करने के लिए ही श्रीमद्भागवत् का शुकाचार्य जी ने गायन किया है और श्रीमद्भागवत् का मुख्य तात्पर्य है **''भक्त्या विमुच्येन्नरः''** अर्थात् भक्ति से व्यक्ति विमुक्त हो सकता है। ज्ञान से तो केवल मुक्त होता है, पर भक्ति से विमुक्त होता है। इस दृष्टि से यह निश्चित है कि श्रीमद्भागवतम् पर वैष्णव दृष्टि से ही विचार करना सार्थक रहेगा और उनका परमतात्पर्य वैष्णवदृष्टि मे ही है। और वैष्णवदृष्टि से यदि विचार करेंगे तो श्रीमद्भागवतम् का वेदान्त सम्मत सिद्धान्त अद्वैत नहीं बन सकता है, क्योंकि अद्वैत मे जीवात्मा और परमात्मा का अभेद स्वरूपतः स्वीकारा जाता है जो यहाँ कभी संभव नहीं हो सकेगा। अतः इसको तो पाँचों आचार्यों से सम्मत कोई भी सिद्धान्त स्वीकार लेना चाहिए। श्रीमद्भागवत् का प्रतिपादित तात्पर्य विशिष्टाद्वैत किंबा, शुद्धाद्वैत, अथवा द्वैताद्वैत, अथवा द्वैत, अथवा, अचिन्त्याभेद, इनमे से कोई भी एक

सिद्धान्त अपनी–अपनी उपासना के अनुसार मान लेना चाहिए। श्रीमद्भागवत् का तात्पर्य अद्वैतवाद कभी हो ही नहीं सकता और अद्वैतवाद इसका तात्पर्य मान लेना एक बहुत बड़ी भूल होगी। जहाँ–जहाँ भी 'अद्वैतात्मक' शब्द कहे गए हैं वहाँ उनका अर्थ संबन्ध ही मान लेना चाहिए। इसलिए आगे चलकर इसी श्रीमद्भागवतम् के दशम स्कन्ध के २६वें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक मे कहेंगे–

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।

तो वहाँ 'ऐक्यं' शब्द का अर्थ स्वयं श्रीधर जैसे अद्वैतवादी टीकाकार ने दिया है, 'ऐक्यं संबन्धः' जीवात्मा और परमात्मा के संबन्ध का ही नाम 'ऐक्य' है अर्थात् संबन्ध दृष्ट्या अद्वैत है जीवात्मा का परमात्मा से स्वरूपगत अद्वैत कभी हो ही नहीं सकता वहाँ। इसलिए वाल्मीकि रामायण मे **"रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत"** (वा.रा.५/३५/५२) इस प्रकार राम और सुग्रीव की एकता हुई अर्थात् संबन्ध हुआ। 'ऐक्यं संबन्धः' क्योंकि सप्तम स्कन्ध मे जहाँ भगवान् के चरणों मे तन्मयता के भावों की चर्चा की गई यहाँ उन–उन भावों के भावित महाविभूतियों की उदाहरण दे रहे हैं। जैसे–

गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
संबन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभोः।।
कतमोऽपि न वेनः स्यात् पंचानां पुरुषं प्रति।

भागवत ७/१/३०,३१

इसलिए 'गोप्यः कामात्' गोपियाँ 'कामात्मक' अर्थात् भगवत्मिलनात्मक प्रेम से भगवान् को प्राप्त करती हैं, कंस भय से तन्मय होता है, शिशुपाल आदि द्वेष से और 'संबन्धाद् वृष्णयो' संबन्ध से वृष्णिगण और 'स्नेहाद्यूयं' तुम सब स्नेह से, 'भक्त्या वयं' और हम लोग भगवान् की भक्ति से। तो इसलिए जब काम, क्रोध, भय, स्नेह और ऐक्य की चर्चा जहाँ आई, जिसको सप्तम स्कन्ध मे संबन्ध कहा गया, उसी को दशम स्कन्ध मे 'ऐक्य' कह रहे हैं, **"गोप्यः कामाद्भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः"** द्वेष को क्रोध माना गया। **"ऐक्यं संबन्ध स्नेहः सौहृदम्।"**

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।।

भागवत १०/२६/१५

इसलिए **"ऐक्यं संबन्धः"** संबन्ध को ही 'ऐक्य' कहते हैं। तो तात्पर्य यह है कि जब यह सिद्धान्त निश्चित है कि जीवात्मा परमात्मा का नित्य परिकर है **"दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः"** और भागवत् के सिद्धान्त को वैष्णव परम्परा से ही समझना होगा, क्योंकि यह वैष्णवों का धन है। इसका उपयोग करने का वैष्णवों को अधिकार है। और श्रीमद्भागवतम् के माहात्म्य मे भी वेदव्यास जी ने कह दिया **"विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे"** (भागवत माहात्म्य ६/४४) जो विष्णु जी की दीक्षा से रहित है अर्थात् जिनका मन वैष्णव नहीं है उनको इस कथा के श्रवण मे अधिकार भी नहीं है। एतावता, श्रोता को भी वैष्णव बनना पड़ेगा और वक्ता को भी वैष्णव बनना पड़ेगा। वेदव्यास जी ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो वैष्णव नहीं होगा उसको भागवत् कथा कहने का भी अधिकार नहीं है।

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ताकार्योऽतिनिःस्पृहः।।

भागवत माहात्म्य ६/२०

जिसके मन मे वैराग्य नहीं है अथवा **''विरक्तः विष्णौ रक्तं रागः यस्य सः विरक्तः''** भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के श्रीचरणारविन्द मे जिसके मन मे अनुराग नहीं है, जो वैष्णव नहीं है, जो तपसा, जात्या और शास्त्रेण ब्राह्मण नहीं है, जो वेदशास्त्र की विशुद्धि नहीं प्राप्त कर चुका, जो दृष्टान्त मे कुशल धीर नहीं है, जिसको अर्थ की लालच है उसको कभी भी भागवत् जी का वक्ता नहीं बनाना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि भागवत् के वक्ता को भी वैष्णव होना पड़ेगा, भागवत् के श्रोता को भी वैष्णव होना पड़ेगा और भागवत् के सिद्धान्तों के विचारकर्ता को भी वैष्णवदृष्टि से विचार करना पड़ेगा। तो यदि वैष्णवदृष्टि से भागवत् के सिद्धान्तों का विचार करना अनिवार्य है तो यहाँ निवेदन है कि वैष्णव सिद्धान्तसारसर्वस्व है भगवान् की शरणागति। जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के मत मे–

सर्वे प्रपत्तेरधिकररिणो मताः शक्ता अशक्ता पदयो जर्गत्पतेः।
अपेक्ष्यते नैव कुलं बलंवा नचापि कालो न विशुद्धता वा।।

''सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः'' भगवान् के शरणागति मे सबका अधिकार है, चाहे वो समर्थ हो चाहे असमर्थ हो, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो। चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय, चाहे वैश्य, चाहे चतुर्थ वर्ण हो। चाहे ब्रह्मचारी हो अथवा गृहस्थ हो, अथवा वानप्रस्थ हो अथवा यति हो। चाहे वह किसी भी काल मे हो, अपवित्रावस्था मे हो या पवित्रावस्था मे हो, अथवा उभयावस्था मे हो। भगवान् के स्मरण मे सबका अधिकार है। कर्मकाण्ड का बड़ा प्रचलित मंत्र है–

ओम् अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तर शुचिः।।

चाहे वह अपवित्रावस्था मे हो, अथवा पवित्रावस्था मे हो, अथवा सर्वावस्था पवित्रापवित्र दोनों अवस्था में। तीन प्रकार की अवस्था होती हैं, अपवित्रावस्था होती है स्नान के पूर्व, पवित्रावस्था होती है स्नान के पश्चात् की और एक ऐसी अवस्था होती है जब पवित्र भी है अपवित्र भी, जैसे भोजन काल। भोजन काल मे व्यक्ति पवित्र होकर भोजन कर रहा है एक दृष्टि से वह पवित्र भी है और दूसरी दृष्टि से भोजन करते समय उच्छिष्ट मुख से वह न तो किसी को प्रणाम कर सकता है न किसी का प्रणाम स्वीकार कर सकता है, अतः वह अपवित्र भी है। इन सभी अवस्थाओं मे भगवान् के स्मरण का विधान है। एतावता यदि प्रत्येक अवस्था मे भगवान् की शरण का विधान है तो प्रत्येक अवस्था मे भगवान् की शरणागति का भी विधान है। श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज श्रीगीतावली रामायण के सुन्दरकाण्ड में विभीषण के मुख से कहलवाते हैं कि **''राम की सरन जाहि सुदिनु ने हेरै''** (गीतावली ५/२७) भगवान् श्रीराम की शरणागति मे किसी मुहूर्त की कोई आवश्यकता नहीं।

तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापते तेऽङ्घ्रियुगं स्मरामि।।

वही दिन सुदिन है, वही लग्न सुन्दर लग्न है, वही मुहूर्त सुन्दर मुहूर्त है, उसी समय संपूर्ण नक्षत्रबल और दैवबल उपस्थित हो जाते हैं, उसी समय विद्याबल, दैवबल आ जाता

है, जिस समय सीतापति श्रीराम जी किंबा, राधापति श्रीकृष्णचन्द्र जी के पतित पावन श्रीमत्चरणारविन्द युगल के स्मरण का सुअवसर प्राप्त होता है। एतावता, प्रस्तुत प्रसंग मे विचार करते समय यह निश्चित करना होगा कि इसका सिद्धान्त क्या है? हम तो यही कहेंगे कि रासपंचाध्यायी का महातात्पर्य न तो जयदेव आदि द्वारा अभिमत प्रवृत्ति मे है और न ही श्रीधराचार्य आदि द्वारा अभिमत निवृत्ति मे है। श्रीमद्भागवत् किंबा, रासपंचाध्यायी का महातात्पर्य तो केवल भगवान् की प्रपत्ति मे है (शरणागति मे है), इसलिए वस्तुतस्तु,

''प्रपत्तिपरेयं रासपंचाध्यायी इति प्रमाणयति जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामिरामभद्राचार्यः श्रीचित्रकूट तुलसीपीठाधीश्वरः।''

यदि रासपंचाध्यायी का परमतात्पर्य भगवान् की प्रपत्ति अर्थात् शरणागति मे है तो उसी दृष्टि से इसपर विचार करना पड़ेगा। किसे कहते हैं प्रपत्ति? आचार्यों ने कहा,

अनन्य साध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्या प्रपत्तिः शरणागतिः।।

जिस समय साधक के मन मे यह निश्चित हो जाए कि उसके अभीष्ट की सिद्धि भगवान् के अतिरिक्त कहीं भी संभव नहीं है, इस प्रकार निश्चय के साथ जब साधक को अपने प्रभु के ऊपर महाविश्वास हो जाता है और महाविश्वास के साथ जब साधक एकमात्र भगवान् से उपाय की याचना करता है तो वही होती है प्रपत्ति। जैसे अर्जुन की प्रपत्ति, अर्जुन ने भगवान् से उपाय की याचना की, हे प्रभु! जिसमे मेरा कल्याण हो आप वही कहिए। मैं आपका शिष्य हूँ आप मुझे अनुशासित कीजिए। अर्जुन को ये विश्वास हो चुका है कि उनका अभीष्ट एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण सिद्ध कर सकते हैं और इसकी भूमिका अर्जुन ने पहले ही बना ली। इसलिए युद्ध का आमंत्रण देने गए अर्जुन जब श्रीद्वारका को पधारे और द्वारकाधीश के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया, उस समय द्वारकाधीश भगवान् शयन कर रहे हैं। अर्जुन विनम्र भाव से जाकर उनके चरणों की ओर बैठकर प्रभु की भुवनमोहिनी शयन झाँकी को निहार रहे हैं। दुर्योधन भी आमंत्रण देने गया और वह जा करके शिरहाने की ओर आसन पर बैठ गया। भगवान् की नीन्द खुली तो पहली दृष्टि मे उनको अर्जुन दिखे, क्योंकि अर्जुन चरणों के पास बैठे थे। भगवान् के श्रीचरणारविन्द को निहार रहे थे। अर्जुन भावुक हो रहे थे, आज निरन्ध्र नयन नीर से प्रभु के निर्मल, निर्विकार, निर्दोष, निरूपद्रव, श्रीमत्चरणारविन्द का परम पावन अभिषेक कर रहे थे। कुशल प्रश्न पूछने के पश्चात भगवान् ने अर्जुन से जब हेतु पूछा, उन्होंने कहा, मैं आपको आमंत्रित करने आया हूँ, युद्ध मे। दुर्योधन ने कहा, मैं भी आपको आमंत्रित करने आया हूँ। भगवान् ने कहा, आये तो दोनों हैं, पर पहली दृष्टि मेरी अर्जुन पर पड़ी है, पहले अर्जुन को मैंने देखा है, इसलिए प्राथमिकता अर्जुन को मिलनी चाहिए। फिर भी मैं दोनों की बातें सुनूँगा। क्या किया? भगवान् ने एक विकल्प दिया कि देखिए, महाभारत मे मैं चलूँगा पर युद्ध नहीं करूँगा। एक ओर निःशस्त्र मैं रहूँगा अकेले और एक ओर दस करोड़ मेरी नारायणी सेना रहेगी। दोनों मे किसको क्या लेना है, कह दीजिए। दुर्योधन ने कहा, पहले मैं कहूँगा। भगवान् ने कहा, नहीं पहले अर्जुन को कहने का अवसर मिलेगा। क्या चाहते हो अर्जुन? अर्जुन ने कहा, सरकार! मुझे दस करोड़ सेना नहीं चाहिए। मुझे तो आप चाहिए। दुर्योधन ने कहा, मैं निःशस्त्र आपको लेकर क्या करूँगा? आप मुझे सेना दे दीजिए। भगवान् ने दोनों को संतुष्ट कर दिया, पर अर्जुन से पूछा, क्यों अर्जुन! मैंने तुमको प्राथमिकता दी थी, तुम मेरी दस करोड़ सेना माँग लेते। अर्जुन ने कहा, नहीं सरकार! मैं जानता था न, सेना लेकर क्या करूँगा? जहाँ आप होंगे वहाँ सर्व सेना ही सेना है, क्योंकि आपका नाम

'विश्वक्सेन' है। आपके साथ तो सारी सेनायें रहती ही हैं, कोई देखे या न देखे। मैं आपको भजता हूँ, मैंने अपने जीवन के रथ की डोर आपको सौंप दी है सरकार।

"अब सौंप दिया इस जीवन का,
सब भार तुम्हारे हाथों मे।"

और अर्जुन की इसी धारणा ने उन्हें गीता सुनने की पात्रता दे दी। परम भागवतों की पंक्ति मे बिठा दिया और भगवान् की कृपा का एकान्त भाजन भी बना दिया। भक्त कह उठा—

दुरीश्वरद्वारिबहिर्वितर्दिका दुराशितायै विहितोऽयमंजलिः।
यदब्जनाभो निरपायमस्ति मे धनन्जयस्यन्दनभूषणं धनम्।।

मैंने व्यर्थ ही एक छोटी सी कौड़ी की आशा के लिए "**दुरीश्वरद्वारिबहिर्वितर्दिका दुराशितायै विहितोऽयमंजलिः।**" मैं व्यर्थ ही दुष्ट ईश्वरों के द्वार पर एक छोटी सी कौड़ी की आशा मे हाथ जोड़ता रहा। अरे! मेरा धन तो एकमात्र धनन्जयस्यन्दनभूषण श्रीकृष्ण हैं। धनन्जयस्यन्दन जिनका आभूषण है, वही कृष्ण मेरे एकमात्र धन हैं। एतावता, अर्जुन की प्रपत्ति हो गई। अर्जुन जानते हैं कि उनके अभीष्ट की सिद्धि भगवान् के अतिरिक्त किसी से नहीं हो सकेगी। इसी महाविश्वास से अर्जुन ने दस करोड़ नारायणी सेना का त्याग करके प्रभु श्रीकृष्ण को ही स्वीकारा और आज उपाय की याचना की। आप मुझे उपाय बतायें मैं क्या करूँ? जैसे भरत जी उपाय की याचना करते हैं—

जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखइ दीनदयाल।
सोइ सिख देइय अवधि लगि कोसलपाल कृपाल।।

मानस २/३१३

ठीक इसी प्रकार से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से गोपियों ने उपाय की याचना की "**भूयान्नन्दसुतः पतिः**" प्रभु! कोई उपाय बताइए कि आप हमारे पति बन जायें। "**भूयान्नन्दसुतः पतिः**"। चीरहरणलीला वस्तुतः चीरहरणलीला नहीं, गोपियों की शरणागति की लीला है यह, यही है प्रपत्तिसारसर्वस्व समर्पण कर दिया गोपियों ने अपना, अर्पित कर दिया सब कुछ अपना। जो प्रभु ने कहा, प्रभु की आज्ञा का पालन किया गोपियों ने जैसे भरत जी ने पालन किया था, उसी प्रकार गोपियों ने भी किसी प्रकार का तर्क नहीं किया। साष्टांग प्रणाम किया, भगवान् की प्रत्येक बात मान ली और अब श्रीरासपंचाध्यायी के माध्यम से गोपियाँ शुद्ध षड्विधा शरणागति स्वीकार कर रही हैं। शरणागति की छः विधायें आचार्यों ने कही हैं।

"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्,
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
कार्पण्यमात्मनिक्षेपः षड्विधा शरणागतिः।।"

छः प्रकार की शरणागति है, जीवनपर्यन्त भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प और कभी भी किसी भी परिस्थिति मे भगवान् की प्रतिकूलता को छोड़ना, भगवान् निरन्तर रक्षा करेंगे इस प्रकार का महाविश्वास और हमारे रक्षक भगवान् ही होंगे, इस प्रकार रक्षक के रूप मे भगवान् का वरण, 'कार्पण्य' अर्थात् दीनता और 'आत्मनिक्षेपः' अपना संपूर्ण समर्पण।

श्रीमद्रासपंचाध्यायी के प्रथम अध्याय मे छः प्रकार की गोपियों की मनोदशा का वर्णन किया गया है। प्रथम 'आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः' द्वितीय 'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः' तृतीय 'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः' चतुर्थ 'अंजन्त्यः काश्च लोचने' पंचम 'व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः' षष्ठ 'गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः दध्युर्मीलितलोचनाः' अर्थात् कुछ गोपियाँ वंशीधुन के श्रवण के तत्काल पश्चात् किसी को भी अपने उद्यम का दर्शन न कराती हुई, भगवान् के पास आ रही हैं, यही प्रथम मनोदशा है। प्रथम गमन 'आगमन' का प्रकार है, यही है अनुकूलता का संकल्प। किसी को भी गोपियाँ अपनी बात बताना नहीं चाहतीं। भगवान् की अनुकूलता का संकल्प करती हैं। अनुकूलता मे वंशी के माध्यम से और वंशी के द्वारा प्रसारित गीत के माध्यम से गोपियाँ अपने काम को नष्ट कर रही हैं। अपना मन मनमोहन के चरणों मे भेज दिया। अपने आगमन का किसी को भी पता नहीं चलने दिया। आचार्यों ने जो छः प्रकार की शरणागतियों की चर्चा की है सौभाग्य और संयोग इन दोनों ही उपादानों से ये छहों शरणागतियाँ गोपियों मे परिलक्षित होती हैं।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। पंचम पुष्प संपन्न।।

।। अथ षष्ठपुष्पं ।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस –
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

श्रीरासउत्सव के समय गोपियों के गमन को छह प्रकार से देखा जा सकता है और प्रत्येक प्रकार किसी न किसी शरणागति का संकेत करता है। वंशी की धुन सुनने मे सभी गोपियाँ समान हैं, पर उनके आगमन मे एक–एक शरणागति की अभिव्यंजना हुई है। भगवान् ने वंशी बजाई–

निशम्य गीतं तदनंगवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।।
भागवत १०/२६/४

गोपियों के मंगलमय मनोभावों की अभिव्यक्ति करते हुए भगवान् शुकाचार्य कहते हैं कि श्रीकृष्ण के उस गीत को गोपियाँ सुन रही हैं जो 'अनंगवर्धन' है जो काम को समूल नष्ट कर रहा है। गोपियों के मन श्रीकृष्ण के द्वारा ग्रहण कर लिए गये और किसी को भी अपना उद्यम न दिखाती हुईं श्रीव्रजांगनायें भगवान् के पास आईं, यही है 'आनुकूल्यस्य संकल्पः'। कुछ संकल्प मन से होता है और उनके मन को श्रीकृष्ण भगवान् ने ग्रहण कर लिया। अथवा, उन्होंने अपने मन मे श्रीकृष्ण भगवान् को ही ग्रहण कर लिया। जिसके मन मे साक्षात् श्रीकृष्ण हों उनका संकल्प कितना प्यारा होगा, अनुकूलता का संकल्प कर लिया। 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' व्यक्ति तो शिवसंकल्प की प्रार्थना करता है, यहाँ तो शिव के भी शिव, केशवसंकल्प हो गया मन उनका। और प्रभु की अनुकूलता का संकल्प लेकर श्रीव्रजांगनायें वहाँ आ गईं और अब 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' गोपियों को यह लगा कि गौओं का दोहन प्रभु के प्रतिकूल कर्म इसलिए है, क्योंकि सामान्यतः ग्वालजन गौओं के बछड़ों की कोई चिन्ता नहीं करते। अधिक से अधिक दूध निकालने का प्रयास करते हैं। आज भी कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति अमुक का दोहन कर रहा है अर्थात् आवश्यकता से अधिक उसकी सुविधा का प्रयोग कर रहा है। गोपियों को लगा कि संपूर्ण दूध बछड़ों का है, उनको न देकर हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए इसका उपयोग कर रहे हैं, इसलिए दोहन क्रिया करती हुई भी उन्होंने दोहन कार्य छोड़ा और उबलते हुए दूध को नीचे रखकर उसमे गोधूम कण डालना छोड़कर श्रीकृष्ण के पास चली आईं, प्रतिकूलता का वर्जन हुआ। यह भगवान् के प्रतिकूल है अतः न तो हम यह दूध पियेंगे और न इसमे हलुवा बनायेंगे, छोड़ दिया। 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' गोपियों को यह विश्वास है कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे। इसी विश्वास के ही कारण उन्होंने,

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।।
भागवत १०/२६/६

चार वस्तुयें छोड़ीं, पतियों के लिए भोजन परोसना छोड़ा और अपनी देवरानी, जेठानी और ननदों के शिशु बालकों को दूध पिलाना छोड़ा और व्यक्तिगत रूप से पतियों की सेवा छोड़ी और स्वयं भोजन करती हुईं भोजन की थाल भी छोड़ी। वे जानती हैं कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे। हम नहीं परोसेंगे तो हमारे विकल्प मे किसी महिला की वे व्यवस्था कर देंगे बालकों को भी पालने के लिए किसी न किसी की व्यवस्था कर देंगे और यही उनका विश्वास आज धन्यता को प्राप्त हो गया। 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' उन्होंने कहा कि पति हमारी रक्षा नहीं करेंगे तो भगवान् करेंगे 'पातीति पतिः' किन्तु **''शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्''** सेवा करती हुई पतियों को भी छोड़ दिया। यहाँ चार वस्तुओं का त्याग करके गोपियों ने संकेत दिया कि भगवान् हमारी चतुर्दिक् रक्षा करेंगे। जाग्रत, सुषुप्ति, स्वप्न, तुरीया इन चारों अवस्थाओं मे भगवान् के द्वारा हमारी रक्षा होती रहेगी। और 'गोप्तृत्व' का वरण करने के लिए उन्होंने अपने शरीर का अंगराग और मार्जन तथा नेत्र का अन्जन लगाना भी छोड़ा। **''लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या''** गोपियों को पूर्ण विश्वास है कि ये दोनों उपकरण वरण, सामग्री वरण के लिए उपयोगी होते हैं। अब मुझे अंगराग लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रभु का अनुराग करोड़ों अंगरागों से भी श्रेष्ठ होता है। अब मार्जन की कोई आवश्यकता नहीं है, प्रभु के चरणों मे संपूर्ण दुर्गुणों का मार्जन हो जायेगा। 'कार्पण्य' **''अंजन्त्यः काश्च लोचने''** नेत्र मे अन्जन लगाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रभु निरन्जन हैं अतः निरन्जन के चरणों मे जाने के लिए अन्जन की आवश्यकता नहीं होती। अन्जन इसलिए लगाया जाता है कि जिससे नेत्रों के दोष समाप्त हो जायें, प्रभु के निहारने मे हमारे नेत्र मे कोई दोष ही नहीं है, तब अन्जन क्यों लगाया जाए? और वस्तुतः आन्तरिक नेत्रों के दोष को दूर करने के लिए गुरुदेव के चरणारविन्द की रज ही अन्जन होती है। अब तो हमको जगद्गुरु ही प्राप्त हो रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द की धूलि के अन्जन का प्रयोग करके हम आन्तरिक नेत्रों को भी विवेकयुक्त कर लेंगी।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।।
मानस १/२/१

और कार्पण्य की सीमा तो तब हुई जब **''व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः''** गोपियों ने अपने वस्त्र और आभूषणों को व्यत्यस्त कर लिया, उलटे–पुलटे पहन लिए कार्पण्य की सीमा हो गई। सरकार! हम जैसे भी हैं आपके हैं आप हमे संभाले हम दीन हैं और आप दीनबन्धु हैं। मानो गोपियाँ यही कह रही होंगी कि–

दीनानाथ अनाथ का भला बना संजोग।
अब यदि तारेंगे नहीं हँसी करेंगे लोग।।

और आत्मनिक्षेप की भूमिका में तो गोपियों ने भगवद्विरूद्ध शरीरों को भी छोड़ दिया। कुछ गोपियाँ घर के अन्दर रह गई थीं, उनके पतियों ने ताले बन्द कर लिये, उन्हें रस्सियों से चारपाइयों मे बाँध दिया। तब तो उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान किया और कहा कि यदि यह शरीर भगवद्भजन मे बाधक है तो इसे छोड़ने मे कोई आपत्ति नहीं। छोड़ दिया अपना यह शरीर 'जहुर्गुणमयं देहं' और विशुद्ध आत्मनिक्षेप कर लिया भगवान् के चरणों मे। मैं तो यह मानता हूँ कि इतनी सुन्दर आत्मनिक्षेप की भूमिका अन्यत्र कहीं नहीं हुई होगी। किसी भी शरणागत ने केवल आत्मा का परमात्मा मे समर्पण किया हो ऐसा नहीं देखा जाता। गोपियों का वेदान्त कितना स्पष्ट और कितना उज्ज्वल रहा होगा। गोपियों को यह निश्चय हो चुका है कि हम शरीर नहीं हैं, हम इन्द्रियाँ नहीं हैं, हम मन से भी परे हैं,

हम अहंकार नहीं हैं और हम बुद्धि भी नहीं हैं। हम तो एकमात्र भगवान् के नित्यदासभूत, आत्मतत्त्व ही हैं।

अहं नो शरीरं हृषिकाणि नाहं मनो नैव नाहं न बुद्धिर्नचित्तम्।
अहं नित्य शुद्धो विशुद्धोऽहमात्मा सदा माधवीयो जनोऽहं जनोऽहम्।।

आज आत्मनिक्षेप कर रही हैं गोपियाँ। पाँचों प्रकार के शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त इन छहों व्यवधायक तत्त्वों को छोड़कर षडैश्वर्य संपन्न परमात्मा के चरणों मे अपने को ही समर्पित कर दिया श्रीव्रजांगनाओं ने, पूर्ण हो गई शरणागति। 'षड्विधा' शरणागति पूर्ण हो गई। जैसे भगवान् मे छः प्रकार के भग अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, संपूर्ण धर्म, समग्र यश, समग्र शील, संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण वैराग्य नित्य वर्तमान है और भगवान् षडैश्वर्य संपन्न हैं उसी प्रकार षडैश्वर्य संपन्न परमात्मा के शरणागति के लिए गोपियों ने अपनी षड्विध शरणागति स्वीकार कर ली। शरणागति की छहों विधायें आज पूर्णता को प्राप्त हो गईं। गोपियाँ षड्विध शरणागति संपन्न कर चुकी हैं, इसलिए गोपियों की शरणागति की छहों विधाओं की स्तुति के रूप मे उद्धव जी ने छः श्लोक गाये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने श्रीउद्धव जी को गोपियों को समझाने के लिए भेजा। वे गए तो समझाने, परन्तु स्वयं गोपियों की चरणों मे बैठकर भगवद्तत्त्व समझने लगे। देने गए थे ज्ञान, परन्तु ज्ञान के गर्व को समाप्त करके प्रेमतत्त्व की दीक्षा प्राप्त करके उद्धव जी लौटे। भगवान् शुकाचार्य कहते हैं कि कुछ दिन तक गोपियों के चरणो मे रहने के पश्चात् उद्धव जी जब श्रीकृष्ण के श्रीचरणो मे आने लगे तब गोपियों को नमस्कार करके उन्होंने गाया, **''नमस्यन्निदं जगौ''** भावपूर्णरूप से गाया–

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ।।

भागवत १०/४७/५७

गोपियों के मन मे प्रकट हो रहे श्रीकृष्ण के आवेश को देखा। भगवान् श्रीकृष्ण की विचित्र लीला है कहीं तो उनका आविर्भाव होता है, कहीं स्फूर्ति होती है, कहीं प्रवेश होता है, पर आज गोपियों के मन मे उनका आवेश हो रहा है। बार–बार श्रीकृष्ण गोपियों के मन मे आविष्ट हो जाते हैं और गोपियों के मन मे जब श्रीकृष्ण का आवेश होता है तब उनकी व्याकुलता बढ़ जाती है। मानों श्रीकृष्ण गोपियों से कह रहे हैं, ''मुझे छिपा लीजिए, लोग मुझे लूट ले जायेंगे, मेरा दुरुपयोग होगा, मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'' परन्तु करूँ क्या? राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए अपने मन को मारना पड़ रहा है और यह बात सभी जानते हैं कि श्रीव्रज से बाहर जाने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने कभी मुरली का स्पर्श नहीं किया, कभी मुरली नहीं बजायी, इसलिए जब–जब गोपियों के मन मे श्रीकृष्ण का आवेश होता है तब–तब उनके मन मे आत्मव्याकुलता बढ़ जाती है। अतः यहाँ 'कृष्णावेशात्मविक्लवं' का समास करना चाहिए **''कृष्णस्य आवेशेन आत्मनः विक्लवं दृष्ट्वा''** भगवान् सब कुछ देख रहे हैं। गोपियों के मन मे श्रीकृष्ण का आवेश भी देख रहे हैं, उद्धव और उनकी व्याकुलता भी देख रहे हैं। अथवा, 'गोपीनां कृष्णावेशः' गोपियों का भी श्रीकृष्ण मे आवेश हो रहा है। **''गोपीसंबन्धी यः कृष्णावेश कृष्णे आवेशः कृष्णावेशः तेन कृष्णावेशेन आत्मनः परमात्मनः वैक्लवं''** गोपियों का जब श्रीकृष्ण के हृदय मे आवेश होता है तब परमात्मा के मन में भी व्याकुलता बढ़ जाती है। इस प्रकार, कृष्ण का गोपियों मे आवेश और गोपियों का कृष्ण मे आवेश और दोनों की परस्पर मे एक दूसरे से मिलने की

विकलता देखकर उद्धव जी बड़े प्रसन्न हुए। 'उद्धवः परमप्रीतः' और 'परमप्रीत' शब्द सामासिक है **"परमश्चासौ प्रीतः परमप्रीतः"** वस्तुतः यहाँ यह समास नहीं है, क्योंकि **"सन्महत् परमोत्तमोत्कृष्टा पूज्यमानैः"** (पा.अ. २/१/६१) **परमश्चासौ प्रीतः परमप्रीतः"** प्रीति मे पूज्यता नहीं, वस्तुतस्तु परम का अर्थ है श्रीकृष्ण, वही जिन पर प्रसन्न हो गए हैं 'परमः प्रीतः यस्मै'। भगवान् श्रीकृष्ण ही उद्धव पर परम प्रसन्न हो गए, कारण जब सद्गुरु की प्राप्ति होती है तब गोविन्द प्रसन्न हो ही जाते हैं। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गोपियों को समझाने के लिए उद्धव को ब्रज में नहीं भेजा। यह एक भ्रम है, यहाँ के प्रसंग का पर्यालोचन करने से यह ज्ञात होता है कि उद्धव जी का बहुत बड़ा हित करने के लिए भगवान् ने उद्धव को भेजा, क्योंकि भगवान् यह जानते हैं कि उद्धव को गोविन्द तो मिल गए, पर इन्हें गुरु की प्राप्ति नहीं हुई और जब तक गुरु की कृपा से गोविन्द नहीं मिलते तब तक उतने रस की अनुभूति नहीं होती। जब तक जीव को गुरु के माध्यम से गोविन्द नहीं मिलते तब तक गोविन्द के गोविन्दत्व का जीव को भान नहीं होता और तब तक जीव कृतार्थ नहीं होता। सन्तों के मुख से कहा जाता है कि एक बार महाराष्ट्र मे सन्तों का सम्मेलन हुआ और सन्त सम्मेलन मे बड़े–बड़े धुरन्धर सन्त उपस्थित हुए थे। उनमे सबसे अल्पावस्था की सन्त थीं श्री सन्त ज्ञानेश्वर जी महाराज की सबसे छोटी बहन मुक्ता बाई। उनके तीनों भ्राता निवृत्तिनाथ, सन्त ज्ञानदेव और सोपानदेव उनसे बड़े थे। वे इन तीनों से छोटी थीं। उनकी अवस्था संभवतः चार–पाँच वर्ष की रही होगी। उन्होंने सबकी पिटायी लगानी प्रारम्भ की। प्रत्येक सन्त तो शिर झुका लेता था और वो पिटती जा रही थी। किसी के मन मे कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। पर उसने जब नामदेव की पिटाई लगाई तो उन्हें क्रोध आ गया। मुक्ता बाई ने हँसकर कहा कि मैं यह पता लगा रही थी कि कौन घड़ा कच्चा है और कौन घड़ा पक्का है। सब तो पक्के निकले पर यह कच्चा निकला। नामदेव ने कहा कि बात क्या है? सन्तों ने कहा कि बात यह है कि तुम्हें गोविन्द के दर्शन तो हो गए हैं, पर गोविन्द के दर्शन से जीव के कषाय नष्ट नहीं होते। वो तब तक पक्का नहीं होता जब तक गुरुदेव भगवान् की कृपा नहीं होती। इसलिए मुक्ताबाई ने तुम्हें कच्चा घड़ा घोषित किया है। पहले जाकर गुरुदेव की शरण लो। फिर नामदेव जी महाराज ने जाकर जब गुरुदेव की शरण ली दीक्षा ली तब वे पक्के बने। श्रीउद्धव का श्रीव्रज मे संप्रेषण श्रीरामावतार की उसी घटना की ओर इंगित करता है, या उस घटना की कतिपय परिस्थितियों को स्वीकार करता है, जिसमे भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी को सुमित्रा जी के पास भेजा था। लक्ष्मण जी परमभागवत् हैं या यों कहा जाये कि वे भगवान् के अंश होकर भी गुरुदेव की भूमिका का अभिनय कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मण भगवान् के साथ वन जाने को तैयार हैं, परन्तु श्रीराघवेन्द्रसरकार ने कहा–

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई।।

मानस २/७३/१

जाओ, पहले माँ से विदा माँग लो फिर आओ मेरे साथ वन चलो, विलम्ब मत लगाना। लक्ष्मण जी को भगवान् सुमित्रा जी के पास क्यों भेज रहे हैं? वे जानते हैं कि लक्ष्मण को गोविन्द की प्राप्ति हो गई। लड़कपन से वे मेरी चरण मे आ गए।

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी।।

मानस १/१९८/३

श्रीवसिष्ठदेव से उन्होंने धर्नुविद्या भी सीख ली, इनको सब कुछ मिल गया, इनको गोविन्द मिल गए, मैं स्वयं जगद्‌गुरु के रूप मे इन्हें प्राप्त हुआ। गुरुदेव वसिष्ठ से इन्होंने धर्नुविद्या सीख ली, परन्तु लक्ष्मण जी को अभी सद्‌गुरु की प्राप्ति नहीं हुई है और सद्‌गुरु की भूमिका सुमित्रा जी निभायेंगी। इसीलिए भगवान् श्रीराम जी ने लक्ष्मण जी को सुमित्रा जी के पास भेजा। लक्ष्मण जी कह रहे थे, आप मुझे कहाँ भेज रहे हैं? श्रीराम ने कहा, माँ के पास। लक्ष्मण जी ने कहा, प्रभु! आप मुझे बहकाते क्यों हैं? जब मैंने कह दिया,

गुरु पितु मातु न जानउ काहू। कहउँ स्वभाव नाथ पतियाहू।।

मानस २/७२/४

मैं गुरु, पिता, माता किसी को जानता ही नहीं, तो माँ के पास जाऊँ कैसे? भगवान् ने कहा, यही तो भूल है तुम्हारी। मैं तुम्हें तुम्हारी माँ के पास विदा लेने नहीं भेज रहा हूँ। फिर कहाँ भेज रहे हैं? भगवान् श्रीराम ने कहा, मैं तुम्हें अपनी छोटी माँ सुमित्रा के यहाँ अपनी ओर से विदा लेने भेज रहा हूँ। तुम जाकर सुमित्रा जी से यह नहीं कहोगे कि मैं आपसे विदा माँगने आया हूँ। तुम यह कहोगे कि भगवान श्रीराम आपसे विदा माँगने के लिए मुझे भेजे हैं।

''श्रीराम?''

''हाँ।''

लक्ष्मण जी ने भावुकता से पूछा, ''तो फिर आप ही क्यों नहीं चले जाते अपनी माँ से विदा माँगने के लिए? क्यों मुझे भेज रहे हैं?''

भगवान् श्रीराम ने कहा, ''इसलिए भेज रहा हूँ कि मुझे डर लग रहा है।''

''क्यों?''

प्रभु ने कहा, ''डर इसलिए लग रहा है कि माँ सुमित्रा मे तेज की अधिकता होने से भावुकता बहुत अधिक है। जिस समय वे मुझे वनवास के वेष मे देखेंगी उसी समय वे उबल पड़ेंगी और कहेंगी की जिस सौतेली माँ के अधिकार से निर्दोष होने पर भी कैकयी ने तुम्हें वनवास दे डाला उसी अधिकार का प्रयोग करके मैं कैकयी के दिए हुए इस वनवास को निरस्त कर रही हूँ। तो जब दोनों सौतेली माताओं के आदेश परस्पर टकरायेंगे तब मेरी क्या परिस्थिति बनेगी? अतः माँ सुमित्रा यदि मुझे नहीं देखेंगी तो उन्हें आवेश नहीं आएगा, इसलिए तुम मेरी ओर से मेरी छोटी माँ से विदा माँगने के लिए जाओ।''

और वस्तुतः बात यही थी श्रीलक्ष्मण सुमित्रा जी के पास आये। सुमित्रा जी समझ गईं, वास्तव मे ये स्वयं विदा माँगने नहीं आयें हैं, इन्हें भगवान् श्रीराम ने अपनी ओर से भेजा है। अब इनके माध्यम से मुझे उन्हें विदा देनी है। सुमित्रा जी ने प्रभु को मूक अनुज्ञा दी और कहा, लक्ष्मण! यह तो निश्चित है कि मैं तुम्हारी माँ नहीं हूँ। दशरथ जी महाराज तुम्हारे पिता नहीं हैं। अब तो तुम्हारी माता जी हैं वैदेही, क्योंकि अब तुम्हारा संबन्ध परमात्मा से हो चुका है। देहवती को यदि माता मानोगे तो उसका देह कभी न कभी समाप्त होगा। कभी न कभी देहपात होगा। तब तुम बिना माता के रह जाओगे, इसलिए तुम्हें तो अब उसे माता बनाना है जिसके शरीर का कभी पात नहीं होता, जो कभी मरती नहीं हैं। ऐसी विशिष्ट माता तो केवल सीता जी हैं, जो वैदेही हैं **''विगतो देह यस्याः सा विदेहा विदेहा एव वैदेही।''** भगवती में देह–देहीभाव नहीं है। वहाँ तो देह भी वही हैं, देही भी वही हैं, शरीर दिख रहा है। जैसे रस से ही रसगुल्ला बनता है, रस का ही घनीभूत

रसगुल्ला हुआ करता है, उसी प्रकार साक्षात् वात्सल्यावच्छिन्न चैतन्योपहीत संविदानन्द ही सीता जी हैं। अतः–

तात तुम्हारी मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।।

मानस २/७४/२

भगवान् राम ही तुम्हारे पिता हैं जो सब प्रकार का स्नेह करते हैं। यहाँ सुमित्रा जी ने लक्ष्मण जी को अर्थपंचक सिद्धान्त समझाया। अर्थपंचक की यहाँ विशेष चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसे समझने के लिए मेरा निबन्ध ग्रन्थ **"मानस मे सुमित्रा"** पढ़िए। भगवान् श्रीराम के संबन्ध मे सुमित्रा जी ने स्पष्ट कह दिया कि श्रीसीताराम जी तुम्हारे माता–पिता हैं। यही स्वरूप है जीव का। और अब परस्वरूप सुनो–

"राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।।"

मानस २/७४/६

भगवान् श्रीराम सबके प्राणप्रिय हैं। वे जीवन के भी जीवन हैं अर्थात् आत्मा के भी आत्मा, प्रत्यगात्मा के भी नियंत्रक परमात्मा हैं। वे स्वार्थ रहित सबके मित्र हैं **"सुहृदः सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति"** (गीता ५/२६) उनको प्राप्त करने का उपाय यही है कि छल छोड़कर भगवान् का भजन किया जाए।

भूरि भाग भाजन भयउ मोहि समेत बलि जाऊँ।
जौ तुम्हरे मन छाड़ि छल कीन्ह राम पद ठाऊँ।।

मानस २/७४

और संपूर्ण सत्कर्मों का फल है श्रीसीताराम जी के चरणों मे प्रेम,

"सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू।।"

मानस २/७५/४

और भगवान् की प्राप्ति मे जो विरोधी हैं वे हैं, राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह उन सबको छोड़कर भगवान् की सेवा करो, यही है विरोधी स्वरूप।

"राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहूँ इनके वश होहू।।"

मानस २/७५/५

इस प्रकार से अर्थपंचक सिद्धान्त को समझाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी ने महान अनुग्रह करके लक्ष्मण जी को सुमित्रा जी के पास भेजा था। लक्ष्मण के न जाने पर भी भगवान् श्रीराम जी सुमित्रा जी से विदा माँग सकते थे, पर जैसा कि आप सब जानते हैं कि जब तक परमात्मा की कृपा नहीं होती तब तक सद्‌गुरु की भी प्राप्ति नहीं होती। परमात्मा की कृपा से ही जीव को सद्‌गुरु की प्राप्ति होती है। आज लक्ष्मण जी पर पूर्ण कृपा हो गई है पमरमात्मा की। ठीक यही परिस्थिति उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण की है। जैसे लक्ष्मण, श्रीराम के छोटे भ्राता और एक प्रकार से मित्र भी हैं, ठीक उसी प्रकार उद्धव जी भगवान् श्रीकृष्ण के सखा भी हैं और वृष्णिवंशियों के मंत्री भी हैं।

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः।।

भागवत १०/४६/१

लक्ष्मण जी जैसी योग्यता उद्धव को भी है। श्रीलक्ष्मण मंत्रणा का भी कार्य करते हैं और आगे चलकर करेंगे भी। सुन्दरकाण्ड मे जब श्रीराम ने सुग्रीव और विभीषण से सागर के संबन्ध मे मंत्रणा की **''केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा''** तो सुग्रीव तो कुछ नहीं बोले, पर विभीषण ने कह दिया कि ''महाराज! समुद्र से विनय कीजिए, वह आपका कुलगुरु है विचार करके उपाय कहेगा और बिना प्रयास के वानरी सेना पार हो जाएगी।'' उस समय लक्ष्मण जी को विभीषण का वह मत नहीं भाया–

मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा।।

मानस ५/५१/२

भगवान् श्रीराम का वचन सुनकर लक्ष्मण जी दुःखी हुए, जब उन्होंने कहा **''होइ दैव जो करइ सहाई''**। दैवों के भी दैव अब किसकी सहायता चाहते हैं? चूँकि लक्ष्मण जी भगवान् श्रीराम जी के सहज मंत्री हैं, इसलिए उन्होंने बिना कोई आज्ञा के कह दिया–

''नाथ दैव कर कौन भरोसा। सोषिय सिंधु करिय मन रोषा।।''

मानस ५/५१/३

तात्पर्य यह है कि जैसे उद्धव जी भगवान् श्रीकृष्ण के यदुवंश के मंत्री हैं, उसी प्रकार लक्ष्मण जी भगवान् श्रीराम के मंत्री भी हैं, और जैसे उद्धव जी सखा हैं उसी प्रकार लक्ष्मण जी भी भगवान् के मित्र ही हैं, मित्रवत आनन्द करते हैं लक्ष्मण जी। लक्ष्मण जी से भगवान् संपूर्ण एकान्त बातें कहते हैं। 'शिष्यो बृहस्पतेः साक्षात्' उद्धव जी वृहस्पति के शिष्य हैं लक्ष्मण जी वसिष्ठ के शिष्य हैं। तो जैसे लक्ष्मण जी पर कृपा करने के लिए भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें सद्गुरुस्वरूपिणी सुमित्रा जी से सत्संग करने का अवसर दिया, एक नारी को सद्गुरु बनने का सौभाग्य दिया, उसी प्रकार यहाँ उद्धव जी जैसे बुद्धिवादी व्यक्ति के बुद्धि के मद को चूर्ण करने के लिए श्रीव्रजांगनाओं को ही सद्गुरु की भूमिका दे दी भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र जी ने। उद्धव आये ज्ञान का अहंकार लेकर, परन्तु गोपियों की प्रेमरस धारा मे उनका ज्ञान बह गया और उद्धव जी ने स्वीकार कर लिया कि अरे! 'महान् मेऽनुग्रह कृतः' मुझ पर तो गोपियों का बहुत बड़ा अनुग्रह हुआ है। मैं धन्य हो गया अतएव 'परमप्रीतः'। सद्गुरु की प्राप्ति से भगवान् भी उद्धव पर प्रसन्न हो गये। **''परमः श्रीकृष्णः प्रीतः यस्मिन् स परमप्रीतः''** और अब गोपियों को नमस्कार करते हुए **''नमो–वरवश्चित्रङः क्यच्''** (पा.अ. ३/१/१९) इस सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय हुआ। 'नमस्यतीति नमस्यन्' यहाँ जो टीकाकारों ने 'नमस्कारं करिष्यन्' लिखा है वह असंगत है। भविष्यत्काल का यह नमस्कार नहीं है, तात्कालिक नमस्कार है, भूतकालिक नमस्कार है। यहाँ **''धातु संबन्धे प्रत्यया''** (पा. अ. ३/४/१) इस सूत्र से वर्तमानकालिक शत्र प्रत्यय भूतकाल मे हुआ है। उद्धव जी नमस्कार करते हुए 'इदं जगौ' इस प्रकार गाने लगे और गोपियों की षड्विध शरणागति की उन्होंने छः श्लोकों मे प्रशंसा की। उद्धव जी बोले–

एताः परं तनुभृतो भुविगोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वांछन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य।।

भागवत १०/४७/५८

अरे! इस संसार मे तो एकमात्र श्रीव्रजांगनायें ही शरीरधारी हैं 'तनुभृतः' इन्हीं का शरीर धारण करना धन्य है, परमश्रेष्ठ है। क्यों? इसलिए

"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई।।"

मानस ४/२/३७

संपूर्ण कामनाओं का त्याग करके भगवान् का भजन करना यही तो शरीर धारण का फल है और गोपियाँ यही कर रही हैं। एकमात्र सबके परमात्मा गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण मे अब ये 'रूढ़भावा' हो गईं हैं। इनका भाव रूढ़ हो गया। कितना प्यारा यह भाव है। गोपियों ने भगवान् के प्रति उस भाव को प्राप्त कर लिया है, जिसको भवसागर से डरे हुए मुनिगण चाहते हैं और 'वयं' हम भगवान् के भक्त भी जिस भाव की कामना करते हैं। अभी हमको नहीं प्राप्त हो पाया। अरे! 'किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' जिसको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की मंगलकथा मे रसानुभूति हो चुकी है, उसके दृष्टि से अनन्त–अनन्त ब्रह्मा का जन्म प्राप्त करके भी, सृष्टि रचना की चातुरी प्राप्त करके भी यदि व्यक्ति को भगवान् की कथा मे रसानुभूति न हो रही हो तो क्या लाभ? यहाँ तो गोपियों ने कह दिया–

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।

भागवत १०/३१/९

इनको भगवान् की कथा मे कितनी रसानुभूति हो रही है, इस पद में भी षड्विध शरणागति के दर्शन हो रहे हैं। आनुकूल्य का संकल्प, प्रतिकूलता को छोड़ना, भगवान् की रक्षा का विश्वास, रक्षक के रूप मे भगवान् का वरण करना, दीनता और आत्मनिक्षेप ये छहों सिद्धान्त यहाँ इस श्लोक मे भी प्रकट हैं। 'तव कथामृतं' यही अनुकूलता का संकल्प है, 'तप्तजीवनं' यह तप्तों को जिलाती है अर्थात् आपकी कथा व्यक्ति को संसार के तीनों तापों से तपने नहीं देती है, ये प्रतिकूलता का वर्जन है। 'कविभिरीडितं' कवियों ने इसकी प्रशंसा की है, यही है रक्षा का विश्वास 'कल्मषापहम्' यह संपूर्ण कथा कलिमल शोक को नष्ट कर देती है, इस कथा मे रक्षक के रूप में परमात्मा का वरण होता है। 'श्रवणमंगलम्' यह श्रवण सुनने मे मंगल करता है, यही कार्पण्य है और वस्तुयें तो प्राप्त करने पर मंगल करती हैं यह सुनने से मंगल कर देती है और 'श्रीमदाततं' श्रीमत् है, शोभा से संपन्न व्याप्त है, यही है आत्मनिक्षेप। इस प्रकार से 'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः'। एतावता यहाँ भी गोपियों की षड्विध शरणागति का वर्णन उद्धव जी कर रहे हैं। इससे पहले आनुकूल्य की संकल्प की दृष्टि से गोपियों को प्रणाम किया कि अहाहा! इनकी अनुकूलता का हमनें संकल्प देखा। धन्य हो गया है इनका जन्म भगवान् मे सर्वरूप से इनका भाव आरूढ़ हो गया है और इतना मधुरभाव जिसको सभी मुनिगण और हम भी चाहते हैं पर नहीं प्राप्त होता, यह गोपियों को सुलभ है, यही इनकी अनुकूलता है। अब देखते हैं प्रतिकूलता का वर्जन कितना मनोहर है गोपियों का।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः।।

भागवत १०/४७/५९

कहाँ ये वन मे भ्रमण करनेवाली स्त्रियाँ, परन्तु यह व्यभिचार से दुष्ट नहीं हुईं। इनकी कृपा से भगवद्भजन का व्यभिचार स्वयं दुष्ट हो जाता है, नष्ट हो जाता है। यहाँ **"वाऽऽहिताग्न्यादिषु"** (पा. अ. २/२/३७) सूत्र की सहायता से दुष्ट शब्द का 'पर निपात' हुआ है अर्थात् गोपियाँ व्यभिचार से दुष्ट नहीं हुई हैं, परन्तु गोपियों की कृपा से जो साधारण जीव के हृदय मे अन्य देवताओं का उपासनरूप व्यभिचार आ जाता है, वही नष्ट

हो जाता है, ऐसी गोपियाँ कहाँ साधारण वन मे भ्रमण करनेवालीं, इन पर कैसे परमात्मा की कृपा है कि इनकी कृपा से भजन मे आनेवाला व्यभिचार नष्ट हो जाता है। और कहाँ साक्षात् परमात्मा की चरण मे इनका वह मंगलमय भाव। वस्तुतः ईश्वर, न जानकर भी भजन करनेवाले का उसी प्रकार कल्याण कर देते हैं, जिस प्रकार बिना जाने पिया हुआ अमृत व्यक्ति के मरण रूप अकल्याण को दूर करके उसे दीर्घायुष्य श्रेय प्रदान कर देता है। तात्पर्य यही है कि भजन मे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, हाँ ज्ञान को भजन की अपेक्षा होती है। भजन तो,

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यपावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

भक्ति को ज्ञान और कर्म की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि भक्ति माँ है, ज्ञान बेटा है। बेटे को माँ की अपेक्षा है, क्योंकि माँ नहीं रहेगी तो बेटे का जन्म ही नहीं होगा, परन्तु माँ को कोई बेटे की अपेक्षा नहीं है। यदि बेटे को जिजिविषा है, यदि बेटे को अपना कल्याण चाहिए हो तो वह माँ के पास आये। माँ उसे दुग्धपान करायेगी, उसका पालन–पोषण करेगी। यदि उसे नहीं है अपेक्षा तो न आये। वस्तुतः बालक यदि माँ के पास नहीं आयेगा तो वह जी ही नहीं सकेगा, वो तो मर जायेगा। उसी प्रकार यदि भक्ति की सहायता ज्ञान नहीं लेगा तो ज्ञान रह ही नहीं सकता–

''सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जलयानू।।''

मानस २/२७८/५

आज भी बड़ी अवस्थावाले बेटे प्रायशः बहुत दिनों के पश्चात माँ से मिलते हैं, पर माँ कोई चिन्ता नहीं करती। उसी प्रकार ज्ञान की भक्ति को कोई अपेक्षा नहीं है न कोई आवश्यकता है। हाँ अपनी सत्ता सुस्थिर रखने के लिए ज्ञान को भक्ति की सदा आवश्यकता है और रहेगी, क्योंकि भक्ति के बिना ज्ञान रह ही नहीं सकता।

''सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जल यानू।।''

मानस २/२७८/५

एतावता अब 'रक्षिष्यतीति विश्वासः'। गोपियों के महाविश्वास की चर्चा करते हुए उद्धव कहते हैं–

''नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्।।''

भागवत १०/४७/६०

उद्धव कहते हैं, आहाहा! क्या सौभाग्य है 'नायं श्रियोऽङ्ग' अंग का संबोधन करके मानो भगवान् श्रीकृष्ण से ही उद्धव कह रहे हैं, यह सौभाग्य किसको मिला? जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द मे नितान्त प्रेम करती हैं वैसी श्री जी को भी यह प्रसाद नहीं प्राप्त हुआ। जिनके शरीर से कमल जैसा सुगन्ध और कमल जैसी शोभा प्रस्फुटित होती रहती है, वैसी स्वर्ग की देवललनाओं को भी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त होता है। जो प्रसाद श्रीकृष्ण के रासोत्सव मे रक्षा की दृष्टि से श्रीकृष्ण के भुजदण्ड को ही अपने कण्ठ में ग्रहण करके उनसे आशीर्वाद प्राप्त करनेवालीं व्रजवल्लियों के समक्ष उपस्थित हुआ। वैकुण्ठ की लक्ष्मी और स्वर्ग की ललनाओं को भी यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, यही है

'रक्षिष्यतीति विश्वासः'। 'गोप्तृत्व' का वरण कितना कुशल है इन्होंने रक्षक का वरण कितनी कुशलता से किया है, इस पर उद्धव बलिहार जाते हैं और कहते हैं आहाहा! क्या बात है।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्यम्।।

भागवत १०/४७/६१

हे भगवान्! अहो! इन श्रीव्रजांगनाओं के चरणकमल की धूलि से लिपटी हुई वृन्दावन की गुल्म लताओं ओषधियों मे से मैं यदि कुछ भी हो जाता तो मेरा सौभाग्य होता। इसी बहाने श्रीव्रजांगनाओं के चरणों की धूलि हमको मिलती तो रहती। कैसा 'गोप्तृत्व' का वरण। अरे! जिन श्रीब्रजांगनाओं ने किसी भी परिस्थिति मे न छोड़ने योग्य या छोड़ने मे कठिन ऐसे अपने कुटुम्ब को और आर्यपथ को छोड़कर भी शिष्टजनों द्वारा स्वीकृत मार्ग को छोड़कर भी वेदों के द्वारा विमृग्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द का अनुसरण किया 'भेजुर्मुकुन्दपदवीं'। इन्होंने किया है वरण गोप्तृत्व का ऐसा वरण किसी ने नहीं किया होगा। संसार के सभी मर्यादाओं को छोड़कर वैदिक मर्यादाओं की प्राकारों को लाँघकर इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द का अनुसरण किया, यही है इनका अद्भुत गोप्तृत्व वरण। ऐसा गोप्तृत्व वरण तो त्रिभुवन मे न कभी सुना देखा गया, न सुना देखा जा रहा है और न भविष्य मे सुना देखा जायेगा। और कार्पण्य का वर्णन करते हुए उद्धव ने कहा, कितना कार्पण्य है जीवन में गोपियों के। कार्पण्य का अर्थ है दैन्य, आज श्रीव्रजांगनायें प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र के उन श्रीचरणारविन्दों को अपने वक्षोजों पर रखकर उनका आलिंगन करके अपने ताप को समाप्त कर रही हैं जिनकी पूजा स्वयं लक्ष्मी जी ने की और जिनकी पूजा स्वयं आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, आत्माराम भगवान्, ब्रह्मादि देवताओं ने और सनकादि जैसे योगेश्वरों ने की। उन्हीं श्रीचरणारविन्दों को रासगोष्ठि मे गोपियाँ अपने वक्ष पर धारण करके उनका आलिंगन करके अपने ताप को नष्ट कर रही हैं। जिन श्रीवक्षोरुहों मे कुम्कुम् लगाना चाहिए वहाँ भगवान् के श्रीचरणकमलो को रख रही हैं, इससे बड़ा दैन्य क्या होगा? इससे बड़ी निरभिमानता क्या होगी?

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्।।

भागवत १०/४७/६२

और अन्ततोगत्वा आत्मनिक्षेप की चर्चा करते हैं।

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।।

भागवत १०/४७/६३

मैं श्रीनन्दव्रज पुरन्ध्रियों के श्रीचरणारविन्द की धूलि की एक कणिका का निरन्तर वन्दन करता हूँ, जिन गोपियों का हरिकथोद्गीत, जिन गोपियों का श्रीहरिकथा मे गाया हुआ कीर्तन संपूर्ण भुवनों को पवित्र कर रहा है। यहाँ 'नंदव्रजस्त्रीणां' और 'हरिकथोद्गीतं' ये दो पद समस्त होकर श्रीव्रजांगनाओं की समस्त चरित्र के सूत्रभूत हैं। श्रीउद्धव जी कहते हैं कि मे नन्दब्रज स्त्रियों के श्रीचरणकमल की धूलि का वन्दन करता हूँ। नन्दव्रज का तात्पर्य क्या है? "**नन्दति व्रजः येन स नन्दव्रजः कृष्णः**" जिससे व्रज प्रसन्न हो जाता है उन श्रीकृष्णचन्द्र को ही नन्दव्रज कहते हैं और "**नन्दव्रजस्य स्त्रियः नन्दव्रजस्त्रियः तासां**" उन नन्दव्रज श्रीकृष्णचन्द्र की स्त्रियों को 'नन्दव्रजस्त्री' कहते हैं। उद्धव जी ने कहा कि मैं व्रज

को आनन्दित करनेवाले व्रजराजकिशोर श्रीकृष्णचन्द्र जी की परम प्रेयसी महिलाओं के चरणरेणु के एक कण को बारम्बार प्रणाम करता हूँ। इतना बड़ा आत्मनिक्षेप की सब कुछ छोड़कर वे भगवान् श्रीकृष्ण को ही समर्पित हो गईं। इसलिए यहाँ षष्ठी उन्हीं के लिए हुई है, **''नन्दति व्रजः येन स नन्दव्रजः''** और 'नन्दव्रजश्रीकृष्णस्यस्त्रियः' यहाँ संबन्ध मे षष्ठी है। श्रीकृष्ण की हो गईं, सब कुछ उनको समर्पित कर दी। 'यासां हरिकथोद्गीतं' जिन श्रीव्रजांगनाओं का हरिकथोद्गीत, हरिकथा मे गाया हुआ **''हरिकथा रासपंचाध्यायीरूपा तस्यां कथायां तृतीयाध्याये उद्गीतं उत्कृष्टं गीतं गोपीगीतं भुवनत्रयं पुनाति''** जिनका भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की रासपंचाध्यायी की कथा मे तृतीय अध्याय मे गाया हुआ गोपीगीतरूप उत्कृष्ट गीत संपूर्ण संसार को पवित्र कर रहा है। इस प्रकार से गोपियों ने अपनी छः प्रकार की शरणागति संपन्न कर ली। पूर्ण शरणापन्न हो गईं और आगे चलकर इसको वे स्वीकारेंगी भी। मैंने कोई भी सिद्धान्त अपनी मनःकल्पना से नहीं स्थापित किया है। मैं इस वाक्य से पूर्ण सहमत हूँ कि **''नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते''** जैसा श्रीधराचार्य कहते हैं वैसा मैं भी कह रहा हूँ कि हम बिना मूल के कुछ लिखते नहीं और बिना अपेक्षा के कुछ कहते नहीं। मेरा प्रत्येक वाक्य शास्त्र–सम्मत होगा, शास्त्र के प्रमाणों से सिद्ध होगा। मैं इस प्रकार संपूर्ण वैदिक धर्मावलंबी बहनों–भाइयों को विश्वास दिलाता हूँ। मैं कभी भी सिद्धान्त के प्रतिपादन के संबन्ध मे वंचना नहीं करूँगा और न सहन करूँगा। गोपियाँ भगवान् की शरणागत होकर उन्हें प्राप्त हो गईं। पाँच प्रकार की गोपियों ने तो भगवान् के पास गमन किया और जिन्होंने नहीं गमन किया शरीर से उन्होंने शरीर को छोड़कर सूक्ष्मरूप से भगवान् को प्राप्त कर लिया।

त्वतमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।।

भागवत १०/२६/११

'जारबुद्ध्या' संसार के प्रति जारबुद्धि होने के कारण अब गोपियों ने उन्हीं परमात्मा को प्राप्त कर लिया। वे जानती हैं कि संसार के पतियों से जो हमारे संबन्ध हैं वास्तव मे ये पति नहीं हैं। वही उप–पति हैं वे ही जार हैं, क्योंकि सबके प्राणपति तो भगवान् हैं **''तुम हो एक अगोचर सबके प्राणपति''** इसलिए संसार मे जारबुद्धि करके उन्हीं परमात्मा के प्रति गोपियों ने परम प्राणपति की बुद्धि की। अब तक जो टीकाकारों ने 'जारबुध्या' शब्द को परमात्मा के साथ संबद्ध किया इससे मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि आगे चलकर इसका विरोध स्पष्ट दिखता है **''कृष्णं विदुः परं कान्तं''** भगवान् श्रीकृष्ण को गोपियों ने परमकान्त देखा न कि जाररूप मे देखा, अतः ''अत्र टीकाकाराः भ्रान्ताः''। गोपियों ने अपना गुणमय शरीर छोड़ा यहाँ मयट् प्रत्यय स्वार्थ मे हुआ है अर्थात् 'गुण एव गुणमयः तं गुणमयं'। मुख्य शरीर से गईं और गौण शरीर को छोड़ दिया जो प्राकृत माता–पिता के रज–शुक्र से उत्पन्न हुआ था। जो भगवान् की उपासना के लिए उपयुक्त नहीं था, उस गौण शरीर को छोड़ दिया और दिव्य शरीर से भगवान् के पास गोपियाँ उपस्थित हो गईं, उनका बन्धन समाप्त हो गया। यहाँ 'गुणमय' शब्द को सुनकर के महाराज परीक्षित ने सन्देह कर लिया।
राजोवाच–

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।।

भागवत १०/२६/१२

परीक्षित बहुत रोचक प्रश्न करते हैं, हे महर्षेः! श्रीव्रजांगनायें तो कृष्ण भगवान् को परमकान्त मानती हैं श्रेष्ठपति मानती हैं। यहाँ मुझे आश्चर्य है कि 'परं कान्तं' इन

दो शब्दों के रहते हुए भी टीकाकारों ने पूर्व श्लोक के 'जारबुद्ध्या' शब्द को कैसे श्रीकृष्ण की ओर श्रीकृष्ण से संबद्ध किया और हिन्दी टीका मे भी इस प्रकार का अर्थ कैसे मान लिया गया कि उस परमात्मा को जारबुद्धि से भी प्राप्त करके ऐसा है। परमात्मा के पास गोपियाँ आ रही हैं वो भी संगत हो रहा है सम्यक्रूप से गति हो रही है। यदि उनकी जार बुद्धि रही होती तो आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी रासपंचाध्यायी के चतुर्थ अध्याय मे अर्थात् श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के ३२वें अध्याय के २२वें श्लोक मे गोपियों को 'निरवद्य संयुजाम्' कहकर संबोधित कैसे करते? **"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्"** अर्थात् गोपियों का संयोग निरवद्य है, उसमे किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसलिए आज भगवती गोपियाँ परमात्मा को प्राप्त करके गुणमय शरीर को छोड़कर चली गईं। तब परीक्षित ने उचित प्रश्न किया। उनको लगा कि गोपियाँ श्रीकृष्णभगवान् को तो परमकान्त मानती हैं, परम प्राणपति मानती हैं, वे उनको ब्रह्मबुद्धि से नहीं जानती होंगी। ब्रह्म किसी वेदान्ती के होंगे, वे तो उनको परमकान्त जानती हैं **"कृष्णं विदुः परं कान्तं"** भगवान् श्रीकृष्ण को गोपियाँ परमेश्वर जानती हैं और 'कान्त' का अर्थ है **"कस्य सुखस्य अन्तः सेवधिः इति कान्तः तं कान्तं"** श्रीकृष्ण को गोपियाँ संपूर्ण सुखों की सीमा मानती हैं। कदाचित् परीक्षित के मन मे यह धारणा रही होगी कि **"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"** 'ब्रह्मत्वेन' यदि ब्रह्म को जाने तब वह 'ब्रह्मैव भवति'' तब वह **"ब्रह्मणः आ इव भवति"** ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म की थोड़ी सी समानता प्राप्त कर लेता है अर्थात् भोगमात्र मे ब्रह्म के समान हो जाता है 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्'। तो गोपियों के गुणों के प्रवाह का उपरम कैसे हुआ? अर्थात् सगुण साकार अतिसिकुसुमसुकुमार, हृतभूमिभार, श्रीमद्राधाप्राणाधार, यशोदानन्द, यशोदानन्दकुमार, भक्तों के कर्णधार श्रीकृष्ण को परमकान्त के रूप मे जानती हुई भी गोपियों ने अपने गुणप्रवाह को कैसे समाप्त किया? क्या सगुण को जानकर व्यक्ति गुणप्रवाहों को समाप्त कर लेता है? गोपियों ने भगवान् को सगुण के रूप मे जाना और कदाचित् परीक्षित जी यदि पूर्व पक्ष कर रहे हैं उसी धारणा के अनुसार जिस धारणा में अद्वैतियों ने सगुण ब्रह्म को माया सबलित माना आज की भाषा मे बोलूँ तो अद्वैती कहते हैं कि सगुण ब्रह्म नंबर दो का है, मुख्य तो निर्गुण ब्रह्म ही है। भगवद्पाद आद्यशंकराचार्य ने कह दिया कि भगवान् का जो शरीर है वो मायिक है **"भगवान् वेहवान् इव प्रतीयते"** जैसे कोई जादूगर भिन्न–भिन्न शरीरों की रचना कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् भी कर लेते हैं। वह वास्तविक नहीं है अर्थात् माया सबलित ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहते हैं। तो सगुण ब्रह्म के रूप मे आराधना करके गोपियों ने अपने गुणमय शरीर को कैसे छोड़ा होगा? उनका गुण से प्रवाह कैसे रूका होगा? ये कदाचित् महाराज परीक्षित का प्रश्न है। यद्यपि यह पक्ष तो खण्डनीय है ही इसकी चर्चा अभी हम करेंगे। फिर भी थोड़ी देर के लिए हम उनकी भाषा मे ही सगुण ब्रह्म को नंबर दो का मानें तो भी हमे प्रसन्नता है। क्यों? आज भी नंबर एक के धन को धन नहीं माना जाता नंबर दो के धन को ही धन माना जाता है और नंबर दो का धन काला धन होता है। यदि उन्हीं की दृष्टि से हम नंबर दो का सगुण ब्रह्म मानें तो हमारे राघवेन्द्रसरकार स्वयं श्याम हैं ही माधवेन्द्रसरकार स्वयं श्याम वर्ण के हैं ही। कृष्ण तो बहुत काले हैं अतः कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुतस्तु भगवान् कभी मायासबलित होते ही नहीं हैं। सगुण ब्रह्म मायासबलित नहीं होता कदाचित् निर्गुणवादियों को यह ज्ञान नहीं है कि भगवान् का प्रत्येक गुण चिन्मय होता है। इसमे किसी प्रकार की हेयांशता नहीं रहती। भगवान् के गुण का परिस्कार लक्षण इस प्रकार समझना चाहिए कि जो हेयत्व के अभाव से युक्त होकर भक्त कल्याणकरण मे समर्थवान हो वही भगवद्गुण है **"हेयत्वाभाववत्वे सति भक्तकल्याणकरणसामर्थ्यवत्वं भगवद् गुणत्वं"** इसलिए परीक्षित के प्रश्न पर थोड़ी सी

असहमति व्यक्त करते हुए शुकाचार्य जी ने कहा, मुझे आश्चर्य है तुम जानकर ऐसा क्यों पूछ रहे हो?
श्रीशुक उवाच–

''उक्तं पुरास्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।।''

भागवत १०/२६/१३

जो बात मैंने अभी अभी इसी समय तुमसे कही और सप्तम स्कन्ध मे मैंने कही इस समय की चर्चा यह है कि क्या सगुणब्रह्म का आराधन करके यज्ञपत्नियों को मोक्ष नहीं मिला? क्या सकटासुर, अघासुर, वकासुर, वत्सासुर आदि को मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ? वे कब वेदान्ती बने थे? वस्तुतस्तु वस्तु शक्ति कभी किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। अरे! अग्नि को बिना जाने भी यदि कोई उसमे हाथ डालेगा तो वह उसे जलायेगा ही **''अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः''**। इसी प्रकार श्रीकृष्ण तो श्रीकृष्ण हैं, उनको किसी भाव से कोई भजे उनके समीप जाने पर गुणप्रवाह का उपरम तो हो ही जाता है। संसार के गुणों के प्रवाह का उपरम होता है और भगवान् के गुणप्रवाह का समुदय होता है, इसलिए 'उक्तं पुरस्तादेतत्ते' यदि भगवान् से द्वेष करके शिशुपाल भी मुक्ति पा सकता है तो ये तो भगवान् की प्रियायें ही हैं 'किमुताधोक्षजप्रियाः'। भगवान् की प्रियाओं की क्या बात, क्यों ऐसी शंका हो रही है? भगवान् 'अधोक्षज' हैं, उनसे प्रेम करनेवाले का तो कल्याण होगा ही। वो भी 'सिद्धिं' यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गोपियों को मुक्ति नहीं हुई, गोपियों को सिद्धि की प्राप्ति हुई अर्थात् अनित्य देह को छोड़ करके गोपियों ने नित्य देह को प्राप्त कर लिया। श्याम पिया ने उनकी चुनरी रंग दी। अनन्तकालपर्यन्त भी उनकी चुनरी का रंग नहीं छूटेगा, उनकी चुनरी मे दाग नहीं लगेगा। गोपियॉ ऐसा नहीं कहतीं कि **''मेरी चुनरी मे लग गयो दाग रे तुमने ऐसे चटक रंग डास्यो।''** उनके चुनरी मे कभी दाग नहीं लगता। चुनरी पूर्णरूप से रंगी जा चुकी है, उसका रंग कभी नहीं छूटेगा। इसलिए हे महाराज! आपको यह जान ही लेना चाहिए कि–

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।।

भागवत १०/२६/१४

भगवान् अव्यय हैं उनका व्यय कभी नहीं होता, वे किसी प्रमाण से जाने नहीं जा सकते। वे निर्गुण होते हुए भी गुणात्मा हैं अर्थात् प्राकृत गुणों से दूर होने से भगवान् निर्गुण हैं और 'गुणात्मनः' वात्सल्यादि गुणों के प्रेरक हैं भगवान् इसलिए वे गुणात्मा भी हैं 'निर्गुणस्य गुणात्मनः' अतएव हे राजन! विनाशरहित प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे हेयगुणों से दूर और वात्सल्यादि समस्तकल्याणगुणगणों के निधान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का श्रीव्रज मे प्राकट्य सभी प्राणियों के कल्याण के लिए ही हुआ है। अर्थात् यदि भगवान् सामान्य प्राणियों का भी कल्याण करते हैं, यदि विष पिलानेवाली पूतना को भी प्रभु गोलोक प्रदान कर सकते हैं, तो जिन श्रीव्रजांगनाओं ने भगवान् के श्रीचरणों मे अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया तो क्या प्रभु उनका कल्याण नहीं करेंगे? यहाँ शुकाचार्य जी ने भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति पाँच विशेषणों का प्रयोग करके पूर्वोक्त पाँच प्रकार की गोपियों के कल्याण को निःसन्दिग्ध कहा। भगवान शुकाचार्य का संकेत है कि हे महाराज! श्रीकृष्ण गा अनंगवर्धन गीत श्रवण करके जो श्रीव्रजांगनायें उनके पास आईं उनका कल्याण हुआ ही, क्योंकि गोपियाँ उन्हें भगवान् समझकर ही आई थीं ''भगवतः व्यक्ति''। जो व्रजांगनायें गोदोहन

छोड़कर और उबले हुए दूध मे गोधूम के कणों को न डालकर प्रभु के पास पधारीं उनकी दृष्टि मे भगवान् अव्यय थे, अतः उनके कल्याण का व्यय नहीं हुआ। उन्हें अविनाशी प्रभु की प्राप्ति हुई ''अव्ययस्य व्यक्तिः''। जिन गोपियों ने परिवेषण, बालकों को दूध पिलाना, पतियों की सेवा और भोजन छोड़कर प्रभु के श्रीचरणों मे गमन किया था वे भी रसविहारी सरकार को अप्रमेयरूप मे जानती थीं अतः उन्हें भी अप्रमेय कल्याण की प्राप्ति हुई ''अप्रमेयस्य व्यक्तिः''। जिन श्रीव्रजपुरन्ध्रियों ने लेप–मार्जन और अंजन लगाना छोड़कर प्राणप्रिय श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीचरणों मे प्रस्थान किया उनके मायिक गुणों का स्वतः समापन हो गया, क्योंकि उनकी दृष्टि मे भगवान् निर्गुण थे ''निर्गुणस्य व्यक्तिः''। जो श्रीव्रजसीमन्तिनीयाँ उलटे–पलटे वस्त्राभूषण धारण करके अपने प्राणवल्लभ के पास पधारीं उनका भी अनन्तगुणित निःश्रेयस हुआ, क्योंकि वे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को निरस्त–समस्तहेयगुणप्रत्यनीकसकलकल्याण –गुणगणनिलय के रूप मे ही जानती थीं, उनकी बुद्धि भगवान् के सौन्दर्यादि असंख्य गुणगणों का ही चिन्तन करती थी। जो सांसारिक गुणप्रवाह के उपराम मे बाधक नहीं थे।

जिनके रही भावना जैसी। प्रभु मूरत तिन देखी तैसी।।'

मानस १/२४१/१

हे महाराज! कदाचित् तुम शंका कर सकते हो कि गोपियाँ तो भगवान् के प्रति कामभाव रखती थीं, जो मायिक गुणों के समाप्ति मे सर्वथा बाधक है, क्योंकि कामी कभी मुक्त हो ही नहीं सकता ''तमोद्धारं योषितां संगिसंगम्'' (भागवत ५/५/२), ''कामी भव कर पन्थ'' (मानस ७/३३)। इस प्रश्न का समाधान यह है कि यद्यपि गोपियों का कामभाव संसार जैसा नहीं है, यह 'कान्ताभाव' नामक उपासना का पर्याय है, इसलिए उज्ज्वलनीलमणिकार भी कहते हैं, ''प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।'' फिर भी परीक्षित के पक्ष को अभ्युपगमवाद की दृष्टि से खण्डन के पूर्व तक सत्य मानते हुए अर्धसत्य की परिस्थिति मे भी शुकाचार्य जी कहते हैं कि यदि कदाचित् कोई कामभाव से भी भगवान् का निरन्तर चिन्तन करता हो तो भी उसे भगवान् की तन्मयता प्राप्ति हो ही जाती है। क्योंकि श्रीहरि मे काम, क्रोध, भय, स्नेह, सम्बन्ध और भक्ति इन छहों मे से किसी भी एक भाव को नित्य धारण करते हुए साधक शीघ्र ही निश्चित रूप से भगवान् की तन्मयता को प्राप्त कर लेते हैं। इस दृष्टि से यदि गोपियाँ कामभाव से भी भगवान् के पास आईं तो भी उनके गुणप्रवाह के उपराम मे कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है। यदि भय से चिन्तन करके कंस मुक्त हो सकता है, यदि द्वेषभाव से भगवान् को सदैव गाली देकर शिशुपाल भवबन्धन से मुक्त हो सकता है तो फिर कान्ताभाव से भगवान् के श्रीअंग–संग की कामना करती हुई गोपियाँ भवसागर से क्यों मुक्त नहीं हो सकतीं? जबकि कान्ताभाव की उपासना का पर्याय कामभाव भगवान् की अनुकूल उपासना ही है वासना नहीं।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधातो यान्ति तन्मयतां हि ते।।

भागवत १०/२९/१५

हे राजन! क्योंकि काम, क्रोध, भय, स्नहे, ऐक्य (सम्बन्ध), सौहृद (भक्ति) इन छे भावों मे से किसी भी एक भाव को भगवान् मे निरन्तर धारण करते हुए साधक भगवान् की तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं। जैसे कि सप्तम स्कन्ध के प्रथम अध्याय मे ही हम युधिष्ठिर–नारद संवाद मे कह चुके हैं कि गोपियों ने काम अर्थात् कान्ताभाव को माध्यम बनाकर, कंस ने भय के माध्यम से, शिशुपाल–दन्तवक्त्र–पौण्ड्रक–सल्व आदि राजाओं ने

द्वेषभाव से, यदुवंशियों ने पारिवारिक संबन्धभाव से (प्रभु को कौटुम्बिक मान्यताओं के आधार पर बेटा–पिता–काका–भाई–भतीजा इत्यादि मानकर), पाण्डवों ने स्नेह अर्थात् मित्रभाव से, नारद आदि श्रीवैष्णवों ने श्रवणादि नवधा भक्ति को माध्यम बनाकर भगवान् की तन्मयता प्राप्त कर ली। सप्तम स्कन्ध मे प्रयुक्त 'द्वेष' शब्द दशम स्कन्ध मे 'क्रोध' शब्द के द्वारा कहा गया। और सप्तम स्कन्ध मे प्रयुक्त 'भक्ति' पदार्थ का दशम स्कन्ध मे 'सौहृद' शब्द के द्वारा अनुवाद किया गया। इसी प्रकार सप्तम स्कन्ध मे 'संबन्ध' शब्द को शुकाचार्य जी ने दशम स्कन्ध मे 'ऐक्य' शब्द से अनुदित किया। इसलिए भगवान् मे किसी प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिए।

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते।।

भागवत १०/२६/१६

हे राजन! अन्य लोग संशय करें की न करें परन्तु आपको अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण मे संशय नहीं करना चाहिए। श्रीकृष्ण योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं। उनकी कृपा से यह जीव जगत् संसार के भवबन्धन से मुक्त हो जाता है 'यत एतद् विमुच्यते'। अतः गोपियों की मुक्ति के विषय मे आप किसी प्रकार का आश्चर्य अथवा संशय न करें। आज भगवान् अनन्दकन्द श्रीव्रजांगनाओं को देख रहे हैं।

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्।।

भागवत १०/२६/१७

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने देखा कि श्रीव्रजांगनायें अब उनके पास आ गई हैं, अब उनकी शरणागति मे किसी प्रकार का संकट नहीं रह गया है। तब तो बोलनेवालों मे श्रेष्ठ भगवान् आनन्दकन्द अपनी वाणी के अवयवों से इन्हें मोहित करते हुए बोले। अथवा 'अवदद वदतां श्रेष्ठोऽवाचः' यहाँ अकार का प्रश्लेष है और अकार का प्रश्लेष करके अवाच शब्द भी गोपी का विशेषण बनाया जायेगा। अब अर्थ होगा कि **"ता अवाचः व्रजयोषितः अन्तिकं आयाताः दृष्ट्वा वाचः पेशैर्विमोहयन् भगवान् अवदत्"** अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने देखा कि श्रीब्रजबालायें उनके पास आ गई हैं 'अन्तिकमायाताः' उनके समीप आ गई हैं और वस्तुतः यहाँ 'अन्तिकं' शब्द का समीप अर्थ के साथ–साथ एक और भी अर्थ है यहाँ क्रिया विशेषण है 'अन्ति समीपे कं सुखं यासां यथा भवति तथा सुख जिनके समीप है 'अन्तिकमायाताः' सुख के समीप आ गईं अब गोपियाँ, अब तो उन्हें सुख प्राप्त ही होगा। **"न विना विप्रलम्भेन संभोगः सुखमश्नुते"** विप्रलम्भ के बिना संभोग मे आनन्द नहीं आता, इसलिए थोड़ा सा अभी विप्रलम्भ का आभास कराते हैं। भगवान् ने देखा, 'अवाचः' गोपियाँ कुछ भी नहीं बोल रही हैं। वे खड़ी हैं 'पेशैर्विमोहयन्' वाणी के अवयवों से अथवा 'पेशैः' परिहास की कुशलता से 'विमोहयन्' गोपियों को मुग्ध करते हुए और राधा जी को 'विमोहयन्' **"विगतो मोहा यस्या सा विमोहा, विमोहां करोतीति विमोहयति विमोहयतीति विमोहयन्"** अर्थात् राधा जी को और राधा जी के प्रियवर्ग सखियों को मोह से मुक्त करके भगवान् बोले। श्रीभगवान् उवाच–

अब हम रासपंचाध्यायी के प्रथमाध्याय के १७वें श्लोक तक की व्याख्या संपन्न कर चुके हैं और १८वें श्लोक से २७वें श्लोक तक अर्थात् भागवत् जी के दशम स्कन्ध के २६वें अध्याय के १८वें श्लोक से लेकर २७ श्लोकपर्यन्त भगवान् दस श्लोकों मे उन दस गोपियों के संबन्ध मे कह रहे हैं, जिनके लिए पहले 'ययुः' क्रिया का प्रयोग किया जा चुका है। प्रभु ने राधाप्रियवर्ग सखी से राधासखीवर्ग से कुछ भी नहीं कहा। दस प्रकार की गोपियाँ जो नवधाभक्ति की प्रतिनिधि और प्रेमलक्षणाभक्ति की प्रतिनिधि हैं, जो ईश, कठ, केन, प्रश्न,

माण्डुक्य, मुण्डक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक की प्रतिनिधि भूता गोपियाँ हैं, उनसे कह रहे हैं और 'दशमर्स्वमसि' भगवान् भी दशम पदवाच्य हैं। अतः दस इन्द्रियों की अभिमानी उनके मन को तो भगवान् ने ग्रहण कर लिया **"व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः"** अतः श्रीराधाप्रियवर्ग की बात तो संपन्न हो चुकी। उनके मनोभिमानिनी गोपियों के मन को पहले ही भगवान् ने स्वीकार कर लिया है। अतः उनसे कोई चर्चा नहीं करेंगे। और अब तो चक्षुरादि इन्द्रियों की जो अभिमानिनी दस वर्गों की हैं गोपियाँ, भगवान् उनसे चर्चा प्रारम्भ करते हैं। श्रीभगवान उवाच–

अब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दस प्रकार की गोपियों से दस श्लोकों मे अपनी दो विचारधाराओं का एक साथ प्रयोग कर रहे हैं, प्रथम उपेक्षा और द्वितीय समर्थन। यहाँ एक बात बहुत स्पष्ट है कि प्रत्येक गोपी का भगवान् के प्रति कान्ताभाव है। कान्ताभाव और कान्ता मे एक मौलिक अन्तर समझ लेना चाहिए। संसार मे भी कान्तायें होती हैं और गोपियाँ भी भगवान् की कान्तायें हैं, पर इनमे अन्तर है। संसार की जो कान्तायें होती हैं वहाँ वासना होती है, इसलिए उसे भाव नहीं कहा जा सकता मैं यदि यह कहूँ तो बहुत उपयुक्त होगा कि संसार मे कान्ताभव होता है और भगवान् के प्रति कान्ताभाव होता है। 'भव' का अर्थ है संसार और **"भवः नाश्यते येन स भावः"** जिसके द्वारा संसार नष्ट हो जाता है उसे 'भाव' कहते हैं। 'शेषे' इस सूत्र से यहाँ नाशिक अर्थ मे तृतीयान्त भव प्रतिपदिक से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। संसार की कान्तायें कान्त के प्रति स्नेह करती हैं, पर उससे भव होता है और भव ही जन्म–मरण का कारण बनता है और गोपियों को भगवान् के प्रति कान्ताभाव है अर्थात् वासना नहीं है उपासना है। भव का अर्थ है वासना और भाव का अर्थ है उपासना इसलिए प्रत्येक गोपी कान्ताभाव से भगवान् की उपासना करती हैं। भाव वे ही हो सकते हैं जो शास्त्र–सम्मत हो और शास्त्रों मे केवल पाँच ही भाव उपासना के लिए सम्मत हैं, शान्तभाव, दास्यभाव, वात्सल्यभाव, सख्यभाव और कान्ताभाव। भगवान् को परब्रह्म परमात्मा षडैश्वर्य संपन्न मानकर जो लोग उपासना करते हैं, उस उपासना को शास्त्र मे 'शान्तभाव' कहा जैसे नारदादि, सनकादि। 'दास्यभाव' मे जो लोग भगवान् श्रीराम एवं भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करते है, उनकी दृष्टि मे भावना यही होती है कि भगवान् हमारे स्वामी हैं और हम उनके सेवक हैं। भगवान् की सेवा का सौभाग्य हमको मिला है। किसी को चरण प्रक्षालन का किसी को पादसंवाहन का, किसी को पादुका प्रक्षालन का, किसी को श्रृंगार धारण कराने का अर्थात् भगवान् की नित्य परिचर्या में जिनको सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है उस भावना को 'दास्यभाव' कहते हैं जैसे हनुमान आदि। 'वात्सल्यभाव' का तात्पर्य है कुछ लोग भगवान् को अपना पुत्र मानते हैं। ऐसे पुत्रविषयक रति से जो भगवान् की सेवा करते हैं उस उपासना को 'वात्सल्यभाव' कहते हैं, जैसे दशरथ–कौसल्या, वसिष्ठ–अरुन्धति, नन्द–यशोदा, वसुदेव–देवकी रोहिणी इत्यादि। 'सख्यभाव' का तात्पर्य है भगवान् को मित्र मानकर उनकी उपासना करना, जैसे निषाद, सुग्रीव, विभीषण, व्रज के श्रीदामादि सखा सुदामा, उद्धव इत्यादि। और 'कान्ताभाव' का तात्पर्य है, जैसे भगवती श्रीसीता, श्रीराधा, श्रीव्रजांगनायें इत्यादि। तो भगवान् के प्रति इनको 'कान्ताभाव' है पर ध्यान यह देना होगा कि व्यक्ति जिस संबन्ध से भगवान् के साथ जुड़ जाये यदि उस संबन्ध को उसने संसार मे जोड़ा तब वह उपासना नहीं हो सकती, तब वह उपासना जूठी हो जायेगी, तब उससे भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकेंगे, क्योंकि 'भगवद्भाव' को संसार के साथ कभी नहीं जोड़ना चाहिए। भव से भाव का उतना ही अन्तर समझ लेना चाहिए जितना कि विष के साथ अमृत का होता है। जैसे विष का अमृत से समन्वय नहीं हो सकता, उसी प्रकार भव का भाव से समन्वय नहीं हो सकता। जैसे विष से अमृत की

एकवाक्यता नहीं बनती, उसी प्रकार वासना से उपासना की एकवाक्यता नहीं बनती। हम कह चुके हैं कि 'भव' का संबन्ध वासना से है और 'भाव' का संबन्ध उपासना से है। इसी भाव को गोस्वामी जी ने भावना भी कहा,

"जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन देखी तैसी।।"

मानस १/२४१/४

इसलिए इस प्रकरण मे एक और रहस्यात्मक तथ्य समझ लेना होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जो गोपियाँ महारास मे आ रही हैं उन सबका केवल भगवान् श्रीकृष्ण से संबन्ध है। वे सब केवल भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ हैं और कोई नहीं हैं, भले वे अविवाहिता हों और जो विवाहिता भी हैं वहाँ विवाह केवल भ्रममात्र है। उत्कण्ठा वृद्धि के लिए परकियात्व का अभिमान है। जैसे और 'उत्कष्ठा' हो इसलिए इस कथा को वेदव्यास जी ने 'काव्यकथा रसाश्रयाः' कहा। काव्यकथा का जो रस है श्रृंगार उसको आश्रय करती है। इन श्रृंगार कथाओं मे कभी भी परकिया नायिका का संबन्ध किसी नायक से नहीं हो सकता, उसको रसाभास कहा जाता है। यदि विवाहित और भुक्तपूर्व गोपियों का संबन्ध भगवान् श्रीकृष्ण से माना जायेगा तो यह बहुत अनुचित होगा। तब तो ये अधम नायिका का पुरुषोत्तम नायक से संबन्ध कैसा? परकिया से पुराण पुरुषोत्तम का संबन्ध कैसा? इसलिए यहाँ गोपियों के संबन्ध मे यह निश्चित धारणा कर लेनी चाहिए कि उनका उनके पतियों से कभी संगम नहीं हुआ। वस्तुतस्तु दूसरे पतियों से विवाह भी एक भ्रममात्र है, वास्तविक नहीं है। उनका विवाह तो केवल एकमात्र आनन्दकन्द मुकुन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र से ही हुआ है। उत्कंठा वृद्धि के लिए 'परकियात्व' का एक अभिनय हो रहा है। योगमाया की उन्होंने उपासना की है और 'योगमाया' जिसे हम पहले कात्यायनी के रूप मे कह चुके हैं और राधा जी के रूप मे कह चुके हैं, उनके योगक्षेम का राधा जी ही रक्षण करती हैं। वस्तुतः योगमाया का अर्थ यही है **"अलभ्य लाभो योगः"** और **"तस्मै माया यस्या सा योगमाया"** अलभ्य लाभ के लिए जिनकी कृपा गोपियों पर निरन्तर बरसती रहती है वे ही हैं योगमाया। भगवती राधा स्वयं यह चाहती हैं कि ये स्वयं श्रीकृष्ण से ही जुड़ी हुई हों। इनका संबन्ध दूसरे पति से न हो इसलिए योगमाया निरन्तर उनको कृष्णातिरिक्त पतियों के संगम से बचाती रहती हैं। अतएव उज्ज्वलनीलमणि मे श्रीजीव गोस्वामी ने स्पष्ट कहा–

माया कलिततादृक्स्त्री शीलनेनानसूयुभिः।
न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः।।

अर्थात् उन गोपालों को भगवान् ने अपनी माया से बनाई हुई उन्हीं व्रज नारियों जैसी स्त्री का अनुशीलन दे दिया। उनको उन्हीं के समान रूपवाली प्रतिकृति मिल गई है। चूँकि व्रजवासी मायिक हैं तो उनको मायामय नारियाँ दे दी गईं। अमायिक श्रीव्रजांगनायें तो भगवान् श्रीकृष्ण के साथ ही हैं और वह भी भगवान् की उपासिका हैं, उपासना मे 'काम' होता ही नहीं। इसलिए यहाँ काम की शंका नहीं करनी चाहिए। परन्तु लीलाधर श्रीकृष्णचन्द्र इनके साथ अब जो व्यवहार करने जा रहे हैं उसमें दो हेतु हैं। एक तो उत्कण्ठा की वृद्धि और दूसरी प्रसन्नता की वृद्धि। भगवान् को गोपियों की उत्कण्ठा के भी दर्शन करने हैं और प्रसन्नता के भी। अतएव भगवान् के ये दसों वाक्य ऐसे श्लेषात्मक होंगे जिनमे उत्कंठा की भी प्रतीति होगी और अनुशंसा की भी। आइए, अब हम उस नटनागर की वचन रचना नागरता का दर्शन करें। यह कितना वचन विदग्ध है, कैसी वाक्य भंगिमा है प्रभु की। **"श्रीभगवान् उवाच"** 'श्री' का अर्थ है राधा, राधा जी के सहित वर्तमान भगवान्

ने अब इन गोपियों से कहा, अब राधा जी की सहचरी सखियाँ छूट गईं। जहाँ–जहाँ 'ययुः' का प्रयोग हुआ है उन्हीं से भगवान् कह रहे हैं।

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।।

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।।

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अंजन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः।।

भागवत १०/२६/५,६,७

इन दसों प्रकार की गोपियों के प्रति भगवान् के अब दस वाक्य उपस्थित हो रहे हैं, अद्भुत हैं ये वाक्य भी। भगवान् श्रीकृष्ण ने पहले उन गोपियों से चर्चा की जो गोदोहन छोड़कर भगवान् के पास आई हैं।

''स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्।।''

भागवत १०/२६/१८

पहले उपेक्षार्थक संकेत मे भगवान् ने कहा, भो महाभागाः! हे महोदयाओं! आपका स्वागत् है। बताइए, आपका मैं कौन सा प्रिय कार्य करूँ? आप रात्रि मे यहाँ आई हैं, व्रज मे सब कुछ ठीक है न? 'कच्चिद् व्रजस्यानामयम्' व्रज मे आरोग्यता है, स्वस्थता है न? आप आगमन का कारण बतायें। अर्थात् आपको यहाँ आने की आज कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि कोई कष्ट हो तो बतायें, उसका हम निवारण करेंगे। यह हुई उपेक्षा और अब अपेक्षा के अर्थ सुनिए। हे महाभागा! हे परम भाग्यशालिनी श्रीव्रजांगनाओं 'वः स्वागतं कच्चित्' आप लोग ठीक–ठीक से आ गईं न? आपको आगमन मे कोई कष्ट तो नहीं हुआ? **''प्रियं किं करावाणि वः''** आपका मैं कौन–सा प्रिय कार्य करूँ? आप जो कहेंगी मैं वह करूँगा। 'व्रजस्यानामयं कच्चित्' व्रज मे सब ठीक–ठाक है, कोई चिन्ता की बात नहीं। 'ब्रूतागमनकारणम्' आप आगमन का कारण निःस्संकोच रूप से कहिए। अथवा 'ब्रूतागमनकारणं' आप आज अपनी बात मुझसे कहिए जो आगमन का अरण है। **''आगमने आगमनस्य कं सुखं आगमनकं आगमनसुखं तस्य अरणं आश्रयः आगमनकारणम्''** इस आगमन सुख का जो आश्रय है, उन मुझ श्रीकृष्ण से आप आज अपनी बात कहें। 'ब्रूतागमनकारणं' यहाँ 'ब्रूत' का प्रयोग लोट् लकार मे है और वह भी प्रार्थना मे किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी कहते हैं, आज आप हमसे कुछ माँगिए। आप जो माँगेंगी हम निश्चित रूप से आपको देंगे।

पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।।

भागवत १०/२६/५

अर्थात् अब भगवान् ने उन व्रजांगनाओं से बात कही जो उबलते हुए दूध को उतार कर उसमे गेहूँ का आटा डालना छोड़कर चली आई हैं अर्थात् जो हलुवा बनाना भी छोड़कर चली आई हैं। व्रजांगनाओं! कैसे आना हुआ आपका?

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।।

भागवत १०/२६/१६

देखो,

एषा रजनी घोररूपा एषा रजनी घोरसत्वनिषेविता
ततः व्रजं प्रतियात हे सुमध्यमाः! इह स्त्रीभिः न स्थेयम्।।

भगवान् कहते हैं, हे सुमध्यमाओं! सुन्दर मध्यप्रदेश वाली व्रजांगनाओं! यह रात्रि भयंकर रूपवाली है और इसमे भयंकर सिंह, व्याघ्र, भालू आदि हिंसक जन्तु भ्रमण करते रहते हैं। यह वन है, इसलिए शीघ्र व्रज को लौट जाओ। यहाँ स्त्रियों को बहुत देर तक नहीं रूकना चाहिए। और इसके साथ भगवान् अपेक्षा की भी बात कर रहे हैं, हे सुमध्यमाओं! सुन्दर है मध्यम मार्ग अर्थात् भक्तिमार्ग जिनका, ऐसी हे व्रजांगनाओं! 'एषा रजनी अघोररूपा' यह शरद् पूर्णिमा की रात्रि बहुत सुन्दर है, इसका रूप अघोर है अर्थात् बहुत ही प्रिय है और 'अघोरसत्वनिषेविता' इसमे 'अघोरसत्व' सुन्दर–सुन्दर भगवद्भक्त जीव विराजमान हो रहे हैं। सुन्दर चातक कोकिल, तोते, चकोर आदि बोल रहे हैं मयूर नाच रहे हैं, इसीलिए 'व्रजं न प्रतियात' आप लोग व्रज को न जायें। हे सुमध्यमाओं! 'इह स्त्रीभिः स्थेयं' आप निर्भय होकर के यहाँ हमारे साथ रहें। कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि मेरा व्रत ही है,

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुश्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।"

भागवत १०/२६/२०

मैं साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के दमन के लिए और धर्म की संस्थापना के लिए युग–युग मे अवतार लेता हूँ। आप सन्तरूपी हैं, मैं आपकी रक्षा करूँगा। आपके मन मंदिर मे आनेवाले इस कामासुर का विनाश करूँगा। आपके संरक्षण के माध्यम से मैं भगवद्धर्म की संस्थापना करूँगा, इसलिए आप यहीं विराजें, वृन्दावन छोड़कर कहीं न जायें। भगवद्धाम छोड़कर अपने धामों मे नहीं जाना चाहिए, यही भगवान् की व्यंजना है। यह बात भगवान् कह रहे हैं उनसे, जो हलुवा बनाने का कार्य छोड़कर भगवान् के पास चली आई हैं। चिन्ता न करें, वहाँ सब व्यवस्था होती होगी। आप तो वहाँ का हविष्य बनाने की चिन्ता न करें। अब तो जीवन मे भजनरस का निर्माण करना चाहिए, भजन रूप हवि का निर्माण करना चहिए।

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्।।

भागवत १०/२६/२०

अब उन तीसरी व्रजांगनाओं से भगवान् कह रहे हैं, जो 'परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा' जिन्होंने परिवेषण छोड़ दिया है। पतियों को भोजन परोसते हुए छोड़कर के चली आईं। भगवान् ने कहा, अरे व्रजांगनाओं! तुमने भूल की। तुम्हारी मातायें, तुम्हारे पिता और तुम्हारे माने हुए दत्तक पुत्र अथवा जिनको तुम पुत्रभाव से मानती हो, तुम्हारी देवरानियों, जेठानियों के पुत्र, तुम्हारे भाई और तुम्हारे पति ये तुम्हें न देख करके चारों ओर ढूँढ़ रहे हैं। इसलिए अपने बन्धुजनों के प्रति भय की परिस्थिति उत्पन्न मत करो, भय का वातावरण उत्पन्न मत करो जल्दी व्रज को लौट जाओ। और अब अनुशंसा के वाक्य मे भगवान् ने कहा, हे व्रजांगनाओं! तुम्हारी माता, तुम्हारे पिता, तुम्हारे पुत्रवत् युवकगण, तुम्हारे भाई और तुम्हारे पति वे 'अपश्यन्तो विचिन्वन्ति' वे तुम्हें ढूँढ़ तो रहे हैं, पर तुम्हें पा नहीं रहे हैं। अर्थात् चिन्ता मत करो, तुम्हें ये प्राप्त नहीं कर सकेंगे। ढूँढ़ते रहेंगे, पर तुम उन्हें नहीं मिलोगी

और वस्तुतः उनकी व्यवस्था हो गई है, इसलिए 'बन्धुसाध्वसं मा कृढ्वं' अपने बन्धुजनों से 'साध्वस्' अर्थात् भय मत करो, निर्भय होकर के रासलीला मे रहो। सबकी व्यवस्था हो गई है। यहाँ भगवान् ने पाँच अन्वेषकों की बात कही है। तुम्हें पाँच लोग ढूँढ़ रहे हैं, माता, पिता, पुत्र, भाई और परिजन, क्योंकि पाँच प्रकार की गोपियाँ हैं। राधा जी का प्रियवर्ग भी गोपियों मे है और नित्यसिद्ध गोपियाँ, श्रुतिरूप गोपियाँ, ऋषिरूप गोपियाँ, देवकन्यारूप गोपियाँ और गोपकन्यारूप गोपियाँ। भगवान् ने कहा, हे नित्यसिद्ध अविवाहित गोपियों! तुम्हें तुम्हारी मातायें ढूँढ़ रही हैं। श्रुतिरूप गोपियों! तुम्हें तुम्हारे पितागण ढूँढ़ रहे हैं। ऋषिरूप गोपियों! पुत्रकल्प तुम्हारे मंत्रजापक तुम्हें ढूँढ़ रहे हैं, सेवक ढूँढ़ रहे हैं और देवकन्याओं! तुम्हें तुम्हारे भ्राता ढूँढ़ रहे हैं, अन्य देवता ढूँढ़ रहे हैं और गोपकन्याओं! तुम्हें तुम्हारे पति ढूँढ़ रहे हैं, पर वे तुम्हें पायेंगे नहीं, इसलिए किसी प्रकार की चिन्ता करने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। 'मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्' बन्धुजनों से तुम्हें भय करने की कोई आवश्यकता नहीं है। ''बन्धुभ्यः साध्वसं बन्धुसाध्वसं, ''साध्वसं भयं'' ''पंचमी भयेन्'' (पा.अ. २/१/३७) इति समासः। भगवान् ने चौथी प्रकार की गोपियों से कहा–

''दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररंजितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्।।''

भागवत १०/२६/२१

तुम सबने पूर्ण चन्द्रदेव की किरणों से सुशोभित कुसुमित वन को देख लिया और यमुना जी के तरंगों से मिले हुए, वायु की लीला से कंपित, वृक्षों के पल्लवों से सुशोभित, इस वन को भी तुमने देख लिया, अब अपने भवनों को लौट जाओ। और अनुशंसा के पक्ष मे भगवान कहते हैं कि गोपियों! इस समय हमारे खेलने के सारे उपकरण उपलब्ध हो गए हैं। तुम सब देख रही हो, जैसे यह वन कुसुमित है, अब पुष्पों से युक्त हो चुका है। मनचाहे फूल यहाँ से लिए जा सकते हैं, इसमे अन्धकार नहीं है। राकेशकररंजितम्' यह शरद्पूर्णिमा के चन्द्रमा की दिव्य किरणों से सुशोभित हो रहा है और 'यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्' यह श्रीयमुनाजी की तरल तरंगों से रसित है और इस समय वायु की लीला से काँपते हुए, थोड़े–थोड़े हिलते हुए वृक्षों के पल्लवों से भी यह सुशोभित हो रहा है। मानो भगवती यमुना और उनके तरंगों को स्पर्श किया हुआ वायु और वृक्षों के पल्लव भी शिर हिला–हिला करके हमे अनुमोदन दे रहे हैं कि यहाँ अब रमण करने मे कोई आपत्ति नहीं होगी। यह बात भगवान् उन व्रजांगनाओं से कह रहे हैं जो अपनी देवरानी, जेठानी, ननदों के बालकों को गोदूध पिला रही थीं। भगवान् ने कहा, आपने वन देखा, चन्द्रमा की किरणों से यह अभिरंजित हो रहा है। यमुनाजी की तरंगों से संस्पृष्ट वायु से वृक्षों के पल्लव भी संकेत कर रहे हैं कि संसार के बच्चों को दूध पिलाने से कोई लाभ नहीं। अब तो तुम आ जाओ अन्जन पुंज मंजु यशोदा क्रोडवर्ती गोपाल शिशु के पास, धन्य हो जाओगी। यदि भावना का रस पिलाना ही है तो कृष्ण को पिलाओ संसारवालों को नहीं। **''यमुनातरङ्गस्पृष्टो यः अनिलः वायुः तस्य या लीला क्रीड़ा तेन एजन्ति कम्पमानानि यानि तरुपल्लवानि तैः शोभितं वनं आगच्छत''** अर्थात् यमुना जी के तरंग वायु की क्रीड़ा से थोड़े–थोड़े हिलते हुए वृक्षों के पल्लवों से सुशोभित श्रीवृन्दावन मे आ जाओ। अब भगवान् पति सेवा परायण गोपियों से कह रहे हैं–

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत।।

भागवत १०/२६/२२

इसलिए हे सतियों! अत्यन्त शीघ्र अब व्रज को लौट जाओ और जो तुम पतियों की सेवा छोड़कर आई हो, ये ठीक नहीं है। 'शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः' पतियों की सेवा करो तुम सती हो। 'क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च' बालक और बछड़े चिल्ला रहे हैं। बालकों को दूध पिलाओ और गोदोहन का कार्य करो। शीघ्र व्रज को लौट जाओ, यहाँ बहुत देर तक रहना आप लोगों के लिए उचित नहीं है। इस श्लोक मे भगवान् ने जो गोपियों के आगमन की समर्थन की बात की वो भी बहुत मधुर है। इसलिए ''गोष्ठं चिरं मा यात'' व्रज को बहुत शीघ्र मत जाओ। जब तक इच्छा हो तब तक महारास मे विराजो। क्यों? ''शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्'' अरे! ''पतीन् सतीश्च मा शुश्रूषध्वं'' हे सतियों! उन पतियों की सेवा मत करो, क्योंकि सबका एकमात्र पति तो मैं ही हूँ। मेरी सेवा से सबकी सेवा पूर्ण हो जायेगी। ''मा क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च'' आपके बालक और बछड़े नहीं चिल्ला रहे हैं, उनके लिए हमनें दूसरी नारी की व्यवस्था कर दी है। इसलिए ''तान् मा पाययत'' अब तुम बच्चों को दूध मत पिलाओ। ''मा दुह्यत'' अब गोदोहन का कार्य मत करो। अब तो एकमात्र हमारे रास की नित्य सहचरी बनकर नित्य रमण का सौभाग्य प्राप्त करो। छठा वाक्य भगवान् उन गोपियों से कह रहे हैं जो भोजन छोड़कर भगवान् के पास चली आई हैं।

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः।।

भागवत १०/२६/२३

अथवा, यदि मेरे स्नेह के कारण आपका मन यंत्रित हो चुका है, मेरे स्नेह के वशिभूत होकर भोजन क्रीया को छोड़कर यहाँ आई हैं तो ''उपपन्नं वः'' यह सब कुछ संपन्न हो चुका है, मेरे दर्शन आप कर चुकी हैं और उचित भी है, क्योंकि मुझमे सभी जीवमात्र प्रेम करते हैं, आप भी हमसे प्रेम करती हैं, सबकी समानता भी आपके साथ है, कोई आपत्ति नहीं। मेरे अनुराग मे आप ने भोजन छोड़कर उचित नहीं किया है, अब लौट जाइए। और यहाँ दूसरे पक्ष मे भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अरे गोपियों! मेरे स्नेह के कारण आपके आशय यंत्रित हुए हैं, आपका मन बँध गया है, मेरे स्नेह से बँधा है और इसलिए आप आई हैं, बहुत उचित किया है। मेरे अनुराग मे आपने भोजन छोड़ा है यह बहुत उचित है, क्योंकि ''प्रीयन्ते मयि जन्तवः'' मयि प्रीते, मेरे प्रसन्न होने पर सभी जीव प्रसन्न हो जाते हैं। आपने मेरी प्रीति के लिए सब कुछ छोड़ा है यह बहुत उपयुक्त है। अब आपकी भी प्रीति का साधन संपन्न हो जायेगा। इसके अनन्तर भगवान् सातवाँ वाक्य उन व्रजांगनाओं के लिए कह रहे हैं, जिन्होंने लेप छोड़ा है। क्या किया तुम लोगों ने?

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्।।

भागवत १०/२६/२४

निष्कपट रूप से पति की सेवा स्त्री का परमधर्म है और अपने पति के बन्धुओं की सेवा तथा उसके प्रजा का पालन यह स्त्री का परमकर्त्तव्य है। तो आप ने अपने भवनों का लेप और अपने तन का अंगराग लेम छोड़कर मेरे यहाँ आने का जो कष्ट किया है, यह अपने कर्त्तव्य का त्याग किया है, क्योंकि यदि आप लोग अपने घरों को गाय के गोबर से लीप–पोतकर स्वच्छ रखतीं और अपने शरीरों मे सुन्दर अंगराग का लेपन करके उन्हें अपने पति के लिए आकर्षक बना के रखतीं तो यह बहुत उचित होता, आप परम कल्याणी हो जातीं। क्योंकि निष्कपट भाव से पति की सेवा और पति के कुटुम्ब तथा उसकी सन्तानों

का पालन–पोषण गृहिणी महिलाओं का परमधर्म है। आपने तो उस परमधर्म को भी छोड़ दिया। न तो पति की सेवा की चिन्ता की और न ही पति के परिवार और सन्तानों के पालन–पोषण की कोई व्यवस्था की। अतः शीघ्र व्रज को लौट जाइये। अपने–अपने घरों को गोबर आदि से लीप–पोतकर स्वच्छ कीजिए। अपने शरीर मे अंगराग लेप कीजिए, अपने पतियों की सेवा और परिवार की व्यवस्था कीजिए, यही गृहिणियों का परमाधर्म है। और अपेक्षा पक्ष मे भगवान् कहते हैं **''स्त्रीणां भर्तुः सेवा''** 'भर्तुः' एकवचन है। संपूर्ण स्त्रियों का मूलरूप से पति तो मे ही हूँ। ''अमायया भर्तुः'' निष्कपट पति मैं हूँ, क्योंकि मैं किसी से कुछ चाहता नहीं हूँ। 'अमायया' माया से व्यतिरिक्त आह्लादिनी शक्ति राधाजी के साथ विराजमान मुझ पति की सेवा करना और ''तद् बन्धूनां'' और मेरे बन्धु रूप सन्तों की सेवा करना ''प्रजानां'' और मेरे वात्सल्यभाजन प्रजा का पालन करना यह नारी का परमधर्म है। तो आपने लेपन छोड़कर परमधर्म का पालन किया है। अब तो आपका नित्य लेपन हो चुका, आप नित्य पवित्र हो चुकी हैं। अब भगवान् आठवाँ वाक्य उन व्रजसिमन्तिनियों से कह रहे हैं जो वंशीनिनाद सुनकर अपने शरीर का स्वच्छीकरण और अपने घर के पात्रों का धोना छोड़कर तथा रसोई मे चौका लगाना छोड़कर श्रीरासविहारी सरकार के पास आ गई हैं।

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्नः हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी।।

भागवत १०/२६/२५

जो दुःशील हो, दुर्भग हो, दुर्भाग्यशाली हो, दरिद्र हो, जड़ हो, रोगी हो, निर्धन हो ऐसा पति भी लोक की कामना करनेवाली स्त्री के लिए हातव्य नहीं है, यदि वह अपातकी महापातकी सिद्ध न हो। तात्पर्य यही है कि पतियों का त्याग करना उचित नहीं था, जो आप लोगों ने किया है, क्योंकि इससे तो नारी का पतन ही होगा। आप लोगों ने अपने घरों का और शरीरों का परिमार्जन अर्थात् स्वच्छीकरण छोड़कर निश्चित रूप से अपने पतियों का त्याग किया, जबकि यदि आप घरों और शरीरों को स्वच्छ करती होतीं तो आपके पति प्रसन्न ही होते। आप लोग कृपया बतायें मेरे द्वारा निर्दिष्ट सात दोषों मे से आप लोगों के पतियों मे कौन सा दोष है, जिसके कारण आपने दोनों प्रकार की परिमार्जन क्रियाओं को छोड़कर मेरे पास आने का निर्णय लिया। यदि उनमे उक्त दोष नहीं है तो आप लोग व्रज को लौट जाइये। और संकेत क्या है कि सखियों! दुःशील, दुर्भाग्यशाली, दीन, जड़, रोगी, निर्धन पति भी स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिए और सौभाग्य से मेरे मे कोई दुःशीलता नहीं है, मैं दुःशील नहीं हूँ। मैं दुर्भग नहीं हूँ, मैं सुभग हूँ और ऐश्वर्यादि छहों भग मेरे यहाँ नित्य रहते हैं। मैं दीन नहीं हूँ, दीनबन्धु हूँ, दीनानाथ हूँ। मैं जड़ नहीं हूँ, मैं चेतनों का भी चेतन हूँ ''चेतनश्चेतनानां'' मैं रोगी नहीं हूँ, मेरा नाम लेने से संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। जैसा कि धन्वन्तरि कहते हैं–

''अच्युतानन्त गोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।''

अच्युत, अनन्त और गोविन्द कहने से संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। मैं अधम भी नहीं हूँ, लक्ष्मी मेरे चरण की निरन्तर सेवा करती हैं **''श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि''** और मैं पातकी भी नहीं हूँ, अपातकी हूँ। मेरे नाम लेने से पातक नष्ट हो जाते हैं **''अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः''** (गीता १८/६६) मैं अघारि हूँ, इसलिए मेरा तो किसी भी प्रकार से

त्याग नहीं करना चाहिए। यदि आप लोकेप्सु हैं अर्थात् यदि आप गोलोक चाहती हैं तो मेरा त्याग मत करिये। वस्तुतः आपके लौकिक पतियों मे मेरे द्वारा निर्दिष्ट सातों दोष दिख रहे हैं, उनका शील दुष्ट है, क्योंकि वे मुझ परमात्मा मे समाधि नहीं लगा पा रहे हैं, उनका स्वभाव और चरित्र भी दुष्ट है इसी कारण तो उन्हें मुझ परमात्मा के पास आने मे तुम्हारी प्रति आशंकायें होती हैं। वे दुर्भग भी हैं दुर्भाग्यशाली हैं, क्योंकि तुम्हारे पति स्वयं तो भजन करते नहीं उल्टे तुम्हें भी मेरा भजन करने से रोकते हैं।

''सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं विषय अनुरागी।।

मानस ३/३५/४

वे वृद्ध हैं, क्योंकि जीव होने के कारण उनकी युवावस्था स्थिर नहीं है। वे जड़ हो चुके हैं, इसीलिए मुझ चेतन को पहचानने मे भूल कर रहे हैं। उनमे कामादि सभी रोग हैं। वे धनहीन हैं, क्योंकि उनमे मेरा प्रेमरूप धन नहीं है और तुम जैसी परमभागवतियों पर अत्याचार करके तुम्हारे पति पाप भी कर रहे हैं। जबकि इसके विरूद्ध मुझमे सातों गुण है। मैं सुशील हूँ, सुभग हूँ, नित्यकिशोर हूँ, चेतन हूँ, सारे रोगों से रहित हूँ और लक्ष्मीपति होने से परम धनवान हूँ, मुझमे कोई पाप नहीं है, इसीलिए मैं ही एकमात्र जीव जगत् का पामार्थिक पति हूँ। अतएव मेरा किसी भी परिस्थिति मे त्याग नहीं करना चाहिए। भगवान् इन्हीं सातों गुणों की चर्चा दृष्टिकोण से ही आगे चलकर भगवती रूक्मिणी ने सात श्लोकों मे द्वारकाधीश जी के लिए पत्र भेजा, इसकी चर्चा **''रूक्मिणी पत्र''** नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य होगी, अस्तु। यह वाक्य भगवान् मार्जन के समर्थन मे कह रहे थे। और अब ''अंजन्त्यः काश्च लोचने'' भगवान् नौवें वाक्य मे कहते हैं कि तुमने नेत्र मे अन्जन नहीं लगाया। अन्जन श्रृंगार छोड़कर, आप चले आये आपने उचित नहीं किया, क्योंकि–

अस्वर्गमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः।।

भागवत १०/२६/२६

कुलवधूओं का उप–पति से प्रेम करना अस्वर्ग्य है, स्वर्ग प्राप्ति मे बाधक बनता है। यह अयशस्य है, इससे बहुत अपकीर्ति होती है और 'फल्गु' यह फल्गु है, हल्का है, अत्यन्त छोटी सी बात है। 'कृच्छ्रं' यह कष्टकारक है, 'भयावहं' इससे भय होता है। यहाँ तक कि कुलस्त्री का उप–पति स्वीकार करना 'सर्वत्र जुगुप्सितं' निन्दित है। अतएव आपने अंजन श्रृंगार छोड़कर अपने पतियों का त्याग किया और मेरे यहाँ आकर मुझ उपपति को स्वीकार कर रही हैं इससे आपको पूर्वोक्त छे विडम्बनाओं का सामना करना पड़ेगा। आपको स्वर्ग के बदले नरक होगा, यश के बदले अपयश मिलेगा, गौरव के स्थान पर लघुता प्राप्ति होगी, सुख के बदले दुःख मिलेगा, अभय के स्थान पर भय मिलेगा और प्रशंसा के स्थान पर आपकी सर्वत्र निन्दा होगी। अतः आप लोग व्रज लौट जाइये। और वस्तुतः यहाँ अपनेक्षा के सन्दर्भ मे भगवान् कह रहे हैं कि हे गोपियों! आप अंजन क्रिया छोड़कर मेरे पास आईं यह बहुत अच्छा किया। मैं निरंजन हूँ मेरे पास अंजन की कोई आवश्यकता नहीं। वस्तुतः सबका प्राणपति होने के कारण मैं नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही आपका मुख्यपति हूँ, व्रजवाले सारे आपके उपपति हैं। उन्हें छोड़कर आप पूर्वोक्त छे दोषों से बच गईं। अब आपको नरक नहीं, प्रत्युत गोलोक की प्राप्ति होगी। आपको दिव्ययश मिलेगा, आप गुरूओं की भी गुरु बन जायेंगी। उद्धव जैसे ज्ञानी भी आपकी शिष्यता स्वीकारेंगे। आपको कभी

कष्ट नहीं होगा ''योगीवानन्दसंप्लुता'' आप निर्भय हो जायेंगी। आपकी सर्वत्र प्रशंसा होगी। अतः आप लौटकर व्रज न जायें। अब अंतिम दशम वाक्य भगवान् ने उन गोपियों के प्रति कहा, जो उल्टे–पल्टे वस्त्राभूषण पहनकर भगवान् के पास आई थीं। **''व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः''** इनके प्रति भगवान् कह रहे हैं–

''श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्।।''

भागवत १०/२६/२७

श्रवण से, मेरी कथा सुनने से, मेरे दर्शन से, मेरे ध्यान से, मेरे कीर्तन से मुझमे जो भाव आता है, वो सन्निधान से नहीं आता, इसलिए घरों को लौट जाओ। आपलोगों ने जिस भाव के लिए अपने वस्त्राभूषणों को भी उल्टे–पल्टे धारण करके मेरे पास प्रस्थान किया आपका वह मनोरथ भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि दूर रहने पर श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तन से मुझमे जो आदरभाव संभव है, वह निकट रहने पर नहीं आ सकेगा। निकटता मे अपमान संभव है ''अति परिचयादवज्ञा'' अब तक मैं आप लागों के निकट था तो आप लोगों ने मेरी कितनी दुर्दशा की। मुझसे पादुकायें उठवाईं, तराजू मँगवाई, छछिया भर छाछ पर नाच नचाई, गुलुचे लगाये। यथा–

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित्।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारूयन्त्रवत्।।
बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्।
बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन्।।

भागवत १०/११/७,८

सरलार्थः– भगवान् श्रीकृष्ण अपनी ज्ञाति एवं अपने धनस्वरूप गोपियों की प्रीति का निर्वहण करने के लिए कहीं श्रीव्रजांगनाओं के आदेश पर भोजन के लिए पाटे, घी आदि तौलने के लिए तराजू और गोपियों के चरण की जूतियाँ भी उठा के ले आते हैं। कठपुतली की भाँति गोपियों के वशिभूत प्रभु उनके संकेत पर भोले स्वभाव से ऊँचे स्वर मे गाने लगते हैं। गोपियों द्वारा छाछ का प्रलोभन देने पर सामान्य बालक की भाँति ब्रह्मादि देवताओं को भी नचानेवाले परमात्मा श्रीकृष्ण दोनों हाथ उठाकर कोमल श्रीचरणकमलों की थिरकन के साथ नाचने लगते हैं। इस प्रसंग पर रसखान कितनी मधुर अवधारणा प्रस्तुत कर रहे हैं–

शेष महेश गनेश दिनेश सुरेशहुँ जाहि निरन्तर ध्यावैं
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से शुक व्यास रटैं पचिहारे तौ पुनि पार न पावैं
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाँच नचावैं।।

इसीलिए हे गोपियों! तुम सब अपने–अपने घरों को लौट जाओ। दूर से ही श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तन के माध्यम से मेरा भजन करो। वस्तुतस्तु भगवान् कहते हैं, गोपियों! श्रवण, दर्शन और ध्यान और कीर्तन से मुझमे वह भाव नहीं आता जो मेरे सन्निकर्ष से आता है। **''ततः गृहान् न प्रतियात''** इसलिए घर को आप मत जाइए। और मेरे साथ श्रीवृन्दावन के महारास मे सम्मिलित होइये। इस प्रकार दसों वाक्यों मे भगवान् ने उपेक्षा और अपेक्षा दोनों प्रकार के विचारों को प्रकट किया। गोपियाँ नहीं समझ सकीं इसलिए शुकाचार्य जी को कहना पड़ा,

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसंकल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्।।

भागवत १०/२६/२८

इस प्रकार भगवान् के विप्रिय वाक्य को सुनकर गोपियाँ दुःखी हो गईं। उनका भगवन् मिलन संकल्प नष्ट हो गया और उन्हें अपार चिन्ता हो गई। जो अभिप्राय नहीं समझ सकीं उनके लिए भगवान् का वाक्य अत्यन्त कठोर था और जिन गोपियों ने भगवान् का अभिप्राय समझा उन्होंने कहा, नहीं **''विशिष्टं प्रियं विप्रियं''** ये वाक्य तो विशिष्ट प्रिय हैं। ''विषण्णा भग्नसंकल्पाः'' अब गोपियाँ विषण्ण नहीं हुईं। ''विषण्णा अभग्नसंकल्पाः'' विषाद के कारण गोपियों का संकल्प भग्न नहीं हुआ। **''विषण्णेन न भग्नः संकल्पः यासां चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्''** अत्यन्त चिन्तित हुईं अर्थात् भगवान् की प्राप्ति के लिए भी वे अत्यन्त चिन्तित हुईं। **''चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् विषण्णेन न भग्नः संकल्पः यासां''** यहाँ 'विषण्ण' शब्द मे भाव मे 'क्त' प्रत्यय है। विषाद से गोपियों का संकल्प भग्न नहीं हुआ और प्रभु के वात्सल्य के प्रति **''दुरत्ययां चिन्तां चिन्तनं प्रापुः''** उनके मन मे प्रभु का चिन्तन होने लगा। अब गोपियों की मनोदशा का वर्णन करते हुए भगवान् वेदव्यास कहते हैं–

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद् बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरूपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।।

भागवत १०/२६/२६

चिन्ता के कारण उष्णनिःश्वास से जिनके बिम्ब के समान अधर सुख गए हैं, ऐसे मुखों को नीचे करके, चरण से पृथ्वी को लिखती अर्थात् कुरेदती हुई 'उपात्तमषिभिः' नेत्रों के काजलों से युक्त अपने निरंध्र नेत्रों से निर्झरित आँसूओं द्वारा वक्षोरूहों पर लगे हुए कुम्कुम् को धोती हुई 'उरुदुःखभराः' अत्यन्त दुःख के बोझ से दबी हुई गोपियाँ चुपचाप रह गईं और निर्निमेष नेत्र से बाँकेबिहारी को निहारती रहीं। इतना रूक्ष कैसे? गोपियों ने अपना मुख नीचे क्यों किया? इस पर हम १०८ उत्प्रेक्षाभाव प्रस्तुत करेंगे।

१. गोपियों ने सोचा कि अरे! अभी तो वंशी बजाकर हमे बुलाया था और अब तत्काल हमे भेज रहे हैं तो कौन सा मुँह लेकर के हम व्रज जायें, इसलिए लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया।

२. अथवा, गोपियों ने सोचा कि कन्हैया का कोई दोष नहीं है। हमारे मुखों मे ही कोई दोष होगा, जिससे कन्हैया हमे नहीं देखना चाहते इसलिए

''काम खुलै विनती करौं लाज लगत अति मोही।
तोहि देखत अवगुण करौं कैसे भावौं तोही।।''

अतः अपने मुखों को प्रभु के लिए अनुपयुक्त मानती हुईं उन्होंने उन्हें नीचे कर लिया।

३. अथवा, गोपियों ने कहा, अरे दैव! लगता है कि हमारा अधरपान प्रभु को उपयुक्त नहीं लग रहा है। हमने अपने मुखों से कोई गलत कार्य किये होंगे। भगवान् की निन्दा की होगी, सन्तों की निन्दा की होगी इसीलिए भगवान् हमसे चिढ़ रहे हैं अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४. अथवा, गोपियों ने कहा, सखियों! श्रीकृष्णचन्द्र जी ने हमसे विश्वासघात किया है, क्योंकि पहले तो बुलाया अब भेज रहे हैं। तो विश्वासघाती का मुँह नहीं देखना चाहिए इसलिए **''कृत्वा मुखानि अव''**।

५. अथवा, गोपियों ने कहा, अरे यदि यही करना था तो हमें बुलाया क्यों? यदि बुला लिया है तो हम व्रज को तो नहीं जायेंगे। हम शिर नीचे कर ले रही हैं आपको इच्छा हो तो

तलवार अथवा सुदर्शन चक्र से हमारे शिर काट दीजिए, पर हम व्रज नहीं जायेंगे **''कृत्वा मुखानि अव''**।

६. अथवा, दुःख का भार इतना गुरुतर है कि उसको संभाल नहीं पा रही हैं। दुःख के बोझ को नहीं सहा जा रहा इसलिए **''कृत्वा मुखानि अव''** मुख नीचे कर लिया।

७. अथवा, गोपियों ने सोचा कि हमारे श्यामसुन्दर बहुत कोमल हैं और हमारे मुखों से गर्म निःश्वास निकल रहा है। इस गर्म निःश्वास से भगवान् के चरणों मे ताप लग जाएगा इसलिए **''कृत्वा मुखानि अव''** मुख नीचे कर लिया।

८. अथवा, गोपियों ने कहा, हम नहीं जानते थे कि हमने ही अपने मुखों से व्यर्थ की इनकी इतनी बड़ाई की। हम जानते होते तो इतनी बड़ाई नहीं करते, तो हमारे मुखों ने हमे धोखा दिया है अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

९. अथवा, अपनी मुख पर आई हुई सरस्वती से वे चिढ़ीं कि सरस्वती आपने हमे क्यों नहीं रोका, क्यों इनकी झूठी चाटुकारिता की **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०. अथवा, गोपियों ने कहा, कन्हैया! यदि तुमने आज हमारा अपमान किया, प्रत्याख्यान किया तो हम तुमसे कभी भी बात नहीं करेंगी **''कृत्वा मुखानि अव''** मुख नीचे कर लिया।

११. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने कहा कि हम भी अब प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि अब तुम हमे भेजे तो तुम हमारा मुख नहीं देख सकोगे। हम अपने प्राण त्याग देंगे **''कृत्वा मुखानि अव''** मुख नीचे कर लिया।

१२. अथवा यदि तुम हमारा प्रत्याख्यान करोगे, हमे घर जाने के लिए विवश करोगे तो हम भी वचन देती हैं कि अब ये मुख किसी को दिखाए नहीं जायेंगे **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१३. अथवा तुम्हीं बताओ कि हमारे मुखों मे क्या दोष है? हमने किसी को भी अपना अधरामृत नहीं पिलाया है, फिर भी तुम हम पर अत्याचार कर रहे हो। कौन सा दोष है हमारे इन मुखों मे कि न तुम इन्हें देखना चाहते हो और न इनसे अपने को दिखाना चाहते हो **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१४. अथवा, गोपियों ने कहा, सखियों! कृष्ण चन्द्रमा हैं और हमारे मुख कमल है तो कमल तो चन्द्रमा के सामने संकुचित हो ही जाता है इसलिए **''कृत्वा मुखानि अव''** मुख नीचे कर लिया।

१५. अथवा, लज्जा के कारण मुख नीचे कर लिया। हम तो जानती थीं कि ये कान्त होंगे पर ऐसा नहीं हुआ, इसलिए मानों लज्जातिशय से भगवान् का मुख नहीं देखना चाहतीं **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१६. अथवा गोपियों ने अपना मुख नीचे कर लिया। ये श्रुति रूप गोपियाँ हैं। **''मुखं व्याकरणं प्रोक्तं''** वेद का मुख है व्याकरण। मुख नीचे कर लिया क्यों? गोपियों ने कहा, व्याकरण ने तो कहा, 'सुद्धयुपास्यः' सुन्दर बुद्धि वाले लोगों के द्वारा ये उपास्य हैं और ये हैं 'मध्वरि' मधु के अरि। मधु नामक दानव के अरि हैं 'धात्रंशः' ये धाता ब्रह्मा ही जिनके अंश हैं और 'लाकृतिः' टेढ़ी आकृतिवाले, ऐसा गान तुम्हारा व्याकरण ने किया है, पर आज दिखाई नहीं पड़ रहा है। हम सुन्दर ध्यानवाली व्रजांगनायें हैं तुमको हमारा उपासनीय होना चाहिए था, पर तुम अब 'सुद्धयुपास्यः' नहीं बन पा रहे हो कुध्युपास्य बन रहे हो। तुम मधु के अरि हो न, पर आज मधु के अरि क्या आज मधु के अरि के साथ–साथ मधुरभाव वाली हमारे भी शत्रु बन गए। क्या कर रहे हो तुम? धाता ब्रह्मा तुम्हारे अंश हैं। ब्रह्मा तुम्हारे अंश हैं पर आज कितना अनर्थ हो रहा है कि ब्रह्मा जी के द्वारा ही तो हमको आज्ञा मिली थी कि 'संभवन्तु सुरस्त्रियः' हम ब्रह्मा जी की आज्ञा के अनुसार यहाँ अवतार लिए हैं। **''तत् प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः''** और आज तुम ब्रह्मा जी की बात मानने को तैयार नहीं हो। और

'लाकृतिः' तुम्हारी आकृति 'लृ' के समान टेढ़ी है, टेढ़ी आकृति मे तुमको हमारे मन मे बसना चाहिए था, पर ऐसा तुम नहीं कर रहे हो इसलिए **''कृत्वा मुखानि अव''** वेद के मुखरूप व्याकरण को उन्होंने नीचे कर लिया।

१७. अथवा गोपियाँ कहती हैं कि तुमने कपट किया इसलिए हम अपना मुख नीचे करके तुम्हारा मुख भी नहीं देखेंगी जाओ **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१८. अथवा गोपियाँ कहती हैं कि हमारा स्वभाव हंस जैसा है और पूतना बकी को मारने के कारण कदाचित् तुम्हारा स्वभाव बक जैसा टेढ़ा हो गया है, इसलिए हम तुमको मुख नहीं दिखाना चाहतीं **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१९. श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि अरे! ऐसा लगता है कि अभी तक कन्हैया के प्रति हमलोगों का उतना प्रेम नहीं प्रस्तुत हो पाया इसीलिए प्रभु हमारा मुख नहीं देखना चाहते, अतएव मुख नीचा कर लिया **''कृत्वा मुखान्यव''**।

२०. अथवा, श्रीव्रजांगनायें एक असमंजस मे पड़ गईं। सोचने लगीं अहो! कन्हैया परमप्रेम के एकमात्र आश्रय हैं यदि इनके यहाँ भी हमें स्थान नहीं मिला तो अब हमारे लिए ऊपर–नीचे कहीं स्थान नहीं रह गया। अब हम कहाँ जायें। इस असमंजस मे गोपियों ने मुख नीचे कर लिया **''कृत्वा मुखान्यव''**।

२१. अथवा, गोपियों ने सोचा कि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम मे पागल होकर ही तो हमने व्रज का सारा परिवार छोड़ा और अब ये भी हमको ठुकरा रहे हैं तो अब हम कौन सा मुख लेकर व्रज जायें **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२२. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने विचार किया कि परम कृपालु अनन्तकल्याणगुणगणसागर प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अपने पास बुलाकर फिर हमारा प्रत्याख्यान कर रहे हैं, इसमे उनका दोष नहीं है, यह तो हमारे ही मस्तकों पर लिखी हुई दुर्भाग्य की रेखाओं का परिणाम है, अतः ये दुर्भाग्य रेखाओं से युक्त मस्तक प्रभु को दिखाने योग्य नहीं है, इसीलिए मुख नीचे कर लिया **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२३. अथवा, गोपियों ने सोचा कि भगवान् अभिमान से बहुत चिढ़ते हैं **''ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च''** (नारद भक्तिसूत्र २–३)। अतएव कन्हैया जी ने अभिमान से ऊपर उठे हुए कालिय नाग के शिरों को अपने चरणों से कुचला। यथा– **''यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्‌शतैकशीर्ष्णस्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः''** (भागवत १०/१६/२८) अतः हम स्वयं ही इन अभिमानी शिरों को प्रभु के श्रीचरणों मे झुका लें, ''यह गर्व भरा मस्तक मेरा प्रभु चरण धूलि तक झुकने दो'' अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२४. अथवा, श्रीव्रजांगनायें जानती हैं कि प्रभु को दैन्य बहुत प्रिय है **''दैन्य प्रियत्वाच्च''** (नारद भक्तिसूत्र २/३) दैन्य से ही भगवान् द्रवित होते हैं ''जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना।।'' (मानस१/१८६/४) और दीनता का लक्षण है शीष का नवाना अतः प्रभु को अपने पर द्रवित करने के लिए श्रीव्रजांगनाओं ने मुख नीचे कर लिये, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२५. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं का यह मानना है कि हमसे कुछ ऐसा पाप हो गया है जिससे श्यामसुन्दर हमारे मुख नहीं देखना चाहते अतः मुख नीचे कर लिया **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२६. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं को यह विश्वास है कि जिस पाप के कारण प्रभु हमारा मुख नहीं देखना चाह रहे हैं उसका विनाश भी तो इन्हीं से संभव है, ये प्रभु हमारा पाप नष्ट तब करेंगे जब हम इनके श्रीचरणों मे झुक जायेंगी **''प्रणतदेहिनां पापकर्शनं''** (भागवत १०/३१/७) अतः अपने पापों को समाप्त करने के लिए मुख नीचे करके शिर झुकाया **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२७. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि अब तो हम पति, उनके पुत्र, भाई, बन्धु–बान्धव सबको छोड़कर श्यामसुन्दर के श्रीचरणों मे आ गई हैं, और ये हमें जाने के लिए कह रहे हैं तो अब हमारा पालन कौन करेगा? सुना है कि जो प्रभु के श्रीचरणों मे झुक जाता है उसका पालन भगवान् स्वयं करते हैं **''प्रणातपाल पालिहिं सब काहू''** (मानस २/३१३/५)। इसीलिए अपने मुख नीचे कर लिए कि प्रभु अब हमारा पालन कीजिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२८. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि अरे! क्या वंशीनिनाद से भी हमारे मन की सांसारिक कामनायें नहीं मिटीं? इसीलिए तो मदन मोहन हमारे मुख को नहीं देखना चाहते। भगवान् के श्रीचरण प्रणतजनों की सांसारिक कामनाओं को नष्ट कर देते हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणों मे झुकने के लिए गोपियों ने मुख नीचे कर लिये **''कृत्वा मुखानि अव''**।

२९. अथवा, श्रीगोपांगनाओं के मन मे कन्हैया जी के अंग–संग की कामना है, उसकी पूर्ति प्रभु तभी करेंगे जब गोपियाँ प्रभु के श्रीचरणों मे नमन करेंगी ''प्रणत कामदं पद्मजार्चितं'' (१०/३१/१३) अतः गोपियों ने मुख नीचा करके भगवान् के श्रीचरणों मे नमन किया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३०. अथवा, श्रीगोपांगनाओं को लगा कि जब तक हमारे मन मे कोई भी संसार की इच्छा रहेगी, तब तक हम प्रभु को नहीं भायेंगी और तब तक प्रभु हमको न तो निहारेंगे और न ही हमारे मन मे निवास कर सकेंगे। इसीलिए अपनी इच्छा को ढ़कने के लिए श्रव्रजांगनाओं ने भगवान् के श्रीचरणपल्लवों को माध्यम बनाना चाहा, **''इच्छापिधानं निजपादपल्लवम्''** (भागवत ५/१६/२७) इसीलिए गोपियों ने भगवान् के श्रीचरणों मे मस्तक झुकाये, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३१. अथवा, गोपियों को लगा कि कन्हैया हमे इतना कठोर दण्ड क्यों दे रहे हैं? एक बार वंशीनिनाद से अपने पास बुला लिया और फिर तुरन्त ही भेज रहे हैं, अतः हम इन्हें दण्डवत् करें, क्योंकि जो दण्डवत् करता है उसे दण्ड नहीं मिलता और जो प्रभु को दण्डवत् नहीं करता उसे अवश्य दण्ड मिलता है। जैसे धृष्टता करके भी केवट ने भगवान् श्रीराम को दण्डवत् किया तो प्रभु ने उसे क्षमा कर दिया और उल्टे उसके संकोच से दब गये,

''केवट उतरि दण्डवत कीन्हा। प्रभुहिं सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा।।''

(मानस २/१०२/२)

और ठीक इसके विपरीत संजीवनी के पर्वत द्रोणाचल को लेकर श्रीराम के पास आते हुए श्रीहनुमान जी ने भगवद्धाम श्रीअवध को दण्डवत् नहीं किया, तो श्रीभरत जी से उन्हें दण्ड मिल गया **''बिनु फर सायक मारेउ, चाप श्रवण लगि तानि।।''** (६/५८) अतः दण्डवत् करने के लिए गोपियों ने शिर नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३२. अथवा, गोपियों ने सोचा कि कन्हैया तो घनश्याम हैं, अपनी करुणा सुधा वारि धारा का वर्षण क्यों नहीं कर रहे हैं? प्रभु की कृपा कादम्बिनी क्यों नहीं बरस रही है? व्रज मे क्यों दुश्काल पड़ गया? अब तो कोई यज्ञ करना चाहिए, हम कौन सा यज्ञ करें? हमसे और यज्ञ तो संभव नहीं है। हम भगवान् श्रीकृष्ण को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर लेती हैं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण को किया हुआ एक प्रणाम दस अश्वमेध यज्ञों के अवभृथ स्नान से भी श्रेष्ठ

होता है, क्योंकि दस अश्वमेध यज्ञ करनेवाला संसार मे पुनर्जन्म प्राप्त करता है, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम करनेवाला फिर संसार मे नहीं आता।

''एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथैर्नतुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।।
(महाभारत शान्तिपर्व भीष्मस्तवराज ६५)

अतः हम प्रणामरूप अश्वमेध यज्ञ करेंगी जिससे भगवान् श्रीकृष्ण पर्जन्य (बरसने वाला बादल) बनकर हम सब पर कृपा सुधा की वृष्टि करेंगे ही **''यज्ञाद् भवति पर्जन्यः''** (गीता३/१४) इसीलिए व्रजदेवियों ने प्रणाम की मुद्रा मे मुख नीचे किये **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३३. अथवा, गोपियों को आश्चर्य लग रहा है कि हमारे श्यामसुन्दर हमे परायी क्यों मान रहे हैं, जबकि चीरहरण प्रकरण मे स्वयं कह चुके हैं **''भवत्यो यदि मे दास्यः''** (भागवत १०/२२/१६) अतः यह दूरी मिटाने के लिए प्रभु को प्रणाम कर लेना चाहिए, क्योंकि वे बड़े से बड़े पापी को एक बार के प्रणाम करने मात्र से अपना लेते हैं। यथा–

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीश निशंकी।।
तेउ सुनि शरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किए अपनाए।।
मानस २/२६६/२, ३

अर्थात् कोई क्रूर, टेढ़े स्वभाव वाला, खल प्रकृति वाला, दुष्टबुद्धि से सम्पन्न, नीच, चरित्रहीन, असमर्थ, शंकारहित और कलंकों से भरा हुआ हो वह भी यदि शरणागति की भावना से भगवान् के सन्मुख आ जाता है तो प्रभु एक बार प्रणाम करने मात्र से उसे अपना लेते हैं। अतः गोपियों ने अपने प्राणबल्लभ व्रजेन्द्रनन्दन को प्रणाम करने के लिए मुख नीचे कर लिये **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३४. अथवा, गोपियों को लग गया कि भगवान् हमसे असन्तुष्ट हैं इसीलिए हमें अपने से दूर कर रहे हैं, उन्हें प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय है प्रणाम, **''तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्''** (गीता ११/४४)। अतः प्रभु को प्रसन्न करने के लिए प्रणाम करती हुई श्रीव्रजदेवियों ने अपने मुखों को नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३५. अथवा, गोपियाँ जानती हैं कि नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र महाविष्णु हैं, उन्हें नमस्कार बहुत प्रिय है, ''नमस्कार प्रियो विष्णुः'' गीता जी मे भी भगवान् कहते हैं ''मां नमस्कुरु'' (गीता ९/३४) एवं (गीता १८/६५)। अतएव प्रभु को नमन करने के लिए श्रीव्रजांगनाओं ने शिर नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३६. अथवा, गोपियों ने सोचा कि हमारे मन मे रजोगुण की बहुलता है, और भगवान् का स्वभाव शुद्ध सत्व प्रधान है। हमको भी अपना रजोगुण दूर करने के लिए श्रीव्रजरज का अवलम्बन लेना चाहिए, इसीलिए व्रजरज को शिर पर धारण करने की इच्छा से गोपियों ने मुख नीचे कर लिये, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३७. अथवा, गोपियों ने देखा कि हमारे शरीर मे संसार की दुर्गन्ध है और चिन्ता के कारण मुख से दुर्गन्ध आ रही है अतः श्रीवृन्दावन की पृथ्वी से सुगन्ध प्राप्त करने के लिए उन्होंने मुख नीचे कर लिये, **''तत्र गन्धवती पृथ्वी''** अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३८. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि पृथ्वी भगवान् की प्रिय पत्नी हैं और परम भक्ता भी इसीलिए अवतार काल मे भगवान् ने पृथ्वी की प्रार्थना को ही प्राथमिकता दी **''पुरैव**

पुँसावधृतो धराज्वरो'' (भागवत १०/१/२२) अतः यदि पृथ्वी प्रभु पर दवाब डालें तो कन्हैया जी निश्चित ही हमारी बात मान लेंगे। अतः पृथ्वी से प्रार्थना करने के लिए श्रीव्रजांगनाओं ने मुख नीचे कर लिये **''कृत्वा मुखानि अव''**।

३६. अथवा, श्रीव्रजांगनायें यह जानती हैं कि सन्तों की कृपा के बिना भगवान् जीव को नहीं स्वीकारेंगे **''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः''** अतएव सन्तों की कृपा प्राप्त करने के लिए गोपियों ने पृथ्वी पर प्रणाम करने हेतु मुख नीचे किये, क्योंकि श्रीवृन्दावन की भूमि सन्तजनों के चरण रेणु से सनाथित है, अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४०. अथवा, भगवान् के प्रति गोपियों को प्रणय कोप हुआ, इससे उनके भूख से गरम–गरम निःश्वास निकलने लगा और उन्हें लगा कि यदि उनके मुख ऊपर होंगे तो उनके मुख के ऊष्ण श्वास से भगवान् को ताप लग जाएगा इसीलिए मुख नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४१. अथवा, इस अप्रत्याशित निराशा पर गोपियों के शरीर से उमड़ी हुई अग्नि की ज्वाला मुख को माध्यम बनाकर निकलना चाहती थी, गोपियों को लगा कदाचित् इस अग्नि ज्वाला से भगवान् के मोर मुकुट आदि को कोई क्षति न पहुँचे। अतः उसे बुझाने के लिए मुख नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४२. अथवा, जब भगवान् ने गोपियों से कहा, ''गृहान् प्रतियात'' तब गोपियों मे परम विरहाग्नि उद्धत होने लगा, उन्हे प्रतीत होने लगा मानो वह गोपियों के शरीर को जला देगा, अतः मुख नीचे करके नेत्रों के अश्रुजल से गोपियाँ विरहाग्नि को बुझाने लगीं। यथा श्रीरामचरितमानस मे हनुमान जी सीताजी की इसी दशा का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं–

विरह अगिनि तनु तूल समीरा। श्वास जरइ छन माहिं शरीरा।।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरैं न पाव देह विरहागी।।

मानस ५/३१/७, ८

इससे **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४३. अथवा, भगवान् के मुख की कान्ति शरच्चन्द्र के समान है और गोपियों के मुख कमल हैं, अतः चन्द्र की सन्निधि मे कमल का संकुचित होना स्वाभाविक बात है, अतः गोपियों ने अपना मुख नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४४. अथवा, श्रीकृष्ण के नेत्र स्वयं कमल हैं और गोपियों के मुख चन्द्र, व्रजांगनाओं को लगा कि हमारे मुखचन्द्रों के समक्ष कन्हैया जी के नेत्र कमल स्वयं संकुचित हो जायेंगे अतः मुख नीचे कर लिया। लो अब हमे ठीक से निहार लो, अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४५. अथवा, गोपियों को आशंका हुई कि लगता है हमसे कोई अपराध हो गया है अतः क्षमा माँगने के लिए उन्होंने अपना शिर नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४६. अथवा, भगवान् को ब्राह्मण प्रिय हैं **''भगवान् ब्राह्मणप्रियः''** ब्राह्मण पृथ्वी के देवता हैं इसीलिए ब्राह्मणदेवता का आशीर्वाद लेने हेतु गोपियों ने शिर झुकाने के लिए मुख नीचे कर लिया, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४७. अथवा, भगवान् श्रीकृष्ण गोपाल हैं, गौओं के चरण की धूलि प्रभु अपने मस्तक पर धारण करते हैं –

''तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह –
वन्य प्रसूनरुचिरेक्षणचारूहासम्।।'' भागवत १०/१५/४२

अतएव गौओं की धूलि को प्राप्त करने की इच्छा से गोपियों ने मुख नीचे कर लिए जिससे वे गोपालनन्दन श्रीकृष्ण को प्रिय हो सकें। अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

४८. अथवा, श्रीवृन्दावन स्वयं चिन्मयधाम है, जब धाम की कृपा होगी तभी श्याम की कृपा होगी, अतः श्रीवृन्दावन धाम की कृपा की अपेक्षा करती हुई गोपियाँ मुख नीचे करके श्रीवृन्दावन धाम को दण्डवत् करने लगीं, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
४६. अथवा, श्रीव्रजांगनायें इस सिद्धान्त से भली–भाँति परिचित हैं कि बिना राधा जी की आराधना किये श्रीराधा जी की चरणचिन्हों से चिन्हित श्रीवृन्दावन के सेवन के बिना श्रीकृष्ण महासिन्धु के परमानन्द रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता।

"अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्मं,
अनासेव्य वृन्दावनीं तत्पदाङ्काम्।
असंभाष्य तद्भाव गम्भीर चित्तान्
कथं श्यामसिन्धो रसस्यावगाहः।।"

अतः श्रीराधाजी की आराधना के क्रम मे श्रीवृन्दावन भूमि मे अंकित उन्हीं वृषभानुनन्दिनी के चरण चिन्हों को प्रणाम करने के लिए श्रीव्रजांगनाओं ने मुख नीचे कर लिए, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५०. अथवा, श्री व्रजांगनायें यह भी जानती हैं कि श्रीव्रजभूमि मे अंकित भगवान् श्रीकृष्ण के चरण चिन्ह पृथ्वी के मंगलस्वरूप हैं, जैसा कि श्रीव्रज आकर श्रीअक्रूर जी ने भी अनुभ किया।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणुः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः।।

भागवत १०/३८/२५

अतः इन श्रीचरण चिन्हों को प्रणाम करने के लिए गोपियों ने मुख नीचे किया, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५१. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हम भगवान् की सेवा के लिए ही स्वर्ग से मर्त्यलोक आईं और अब प्रभु सेवा का अवसर नहीं दे रहे हैं, अतः हमारा जन्म व्यर्थ है। इसी उपेक्षा से गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५२. अथवा, गोपियाँ सोचने लगीं कि अरे! हम श्रुतियों ने भगवान् की सेवा के लिए इस व्रज मे अवतार लिया, और कन्हैया हमारी ही उपेक्षा कर रहे हैं, तो हमारा जन्म लेना ही व्यर्थ है, इस पश्चात्ताप मे गोपियों ने मुख नीचे कर लिये, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५३. अथवा, श्रीव्रजांगनायें सेचती हैं कि यदि कन्हैया ने हमे भी पृथ्वी का भार समझ लिया है तो अब हम पृथ्वी मे ही प्रवेश करने मा प्रयास करें, इसीलिए गोपियों ने मुख नीचे किये, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५४. अथवा, श्रीगोपांगनाओं ने सोचा कि इस नटखट ने तो हमारे सभी प्रयासों को धूलि मे मिला दिया, हमनें तो इस कन्हैया के लिए सब कुछ छोड़ा और अन्त मे इसने भी अपने पास से जाने के लिए कह दिया। अब हम कहाँ जायें और क्या करें? इस अनुताप मे गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५५. अथवा, गोपियों ने फिर सोचा लगता है कन्हैया ने हमे बुलाया नहीं था। हम वंशी धुन सुनकर आह्वान के भ्रम से इनके पास चली आईं। यह हमारी मूर्खता ही थी, अतः अपनी कल्पित मूर्खता की लज्जा से गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, "**कृत्वा मुखानि अव**"।
५६. अथवा, गोपियों ने सोचा कि कन्हैया के आह्वान पर हम लोग यहाँ आईं और अब ये हमे लौटा रहे हैं, व्रज जाकर हम अपनी सखियों को अपने मुख कैसे दिखायेंगी, इस लज्जा से उन्होंने अपने मुख नीचे कल लिए, "**कृत्वा मुखानि अव**"।

५७. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि अरे हमनें तो प्रभु की प्रसन्नता के लिए अपने मुख को विविध अलंकारों से सजाया था, इस शरीर को भगवदीय मानकर ही अब तक पूजा था, परन्तु जब हमारे मुख भगवान् को नहीं भा रहे हैं तो फिर इन्हें रखने से क्या लाभ? **''दुलहिन वही जो पिया के मन भाये''** जैसा कि पार्वती जी **''कुमार संभवम्''** के पंचम सर्ग मे स्वयं ही अपने स्वरूप की निन्दा करती हैं –

''तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथासती।
निनिन्दरूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।।''

अतएव गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

५८. अथवा, व्रजगोपियों के मन मे एक विशेष लज्जा का अनुभव हुआ, अरे! हमनें आगमन के समय यह सोचा था कि हमारे मुखों को निहार कर श्यामसुन्दर बहुत प्रसन्न होंगे, पर हो गया इसके विपरीत। प्रसन्नता की बात तो दूर रही प्रभु तो हमारे मुखों को देख भी नहीं रहे हैं। अतः अपने मुखों की अप्रत्याशीत कुरूपता पर लज्जित होकर गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

५६. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि अरे! हम श्रीकृष्ण को सर्वज्ञ शिरोमणि समझती थीं पर ऐसा नहीं हुआ, ये हमारे मनोभावों को अभी तक नहीं समझ पा रहे हैं। लगता है हमनें अल्पज्ञ का वरण कर लिया, इस लज्जा से गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

६०. अथवा, गोपियों ने सोचा कि अरे! गर्गाचार्य जी ने नन्दनन्दन को भगवान् कहा था–

''तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः।
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः।।''

भागवत १०/८/१६

गर्गजी ने कहा, हे नन्दराय! आपके पुत्र की समता केवल नारायण कर सकते हैं, वे भी वात्सल्यादि गुणों से, श्री से, कीर्ति से और प्रभाव से। पर इसमे कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिनके आधार पर यह से भी श्रेष्ठ हैं, जैसे कि निरवधि आनन्द, निःसीम सौन्दर्य, निरुपद्रव स्वभाव औ निरतिशय प्रेम आदि अनेक ऐसे विशिष्ट गुण हैं जो या तो त्रेता के अवतारी श्रीराम मे विराजते हैं या तो द्वापर के अवतारी इन नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मे। अतः इनकी सावधान होकर रक्षा करो। अस्तु, इसी आधार पर हमने भगवान् रूप मे इनका वरण किया, पर आज हमे व्रज लौट जाने के लिए कह कर ये तो अपने सभी छः के छहों भगों का त्याग कर रहे हैं। कहा तो ये जाता है कि जो प्राणियों की उत्पत्ति–प्रलय–गति और अगति तथा विद्या और अविद्या को जानता है वही भगवान् कहलाता है, पर लगता है कि इनको हमारी किसी भी अवस्था का ज्ञान नहीं है। इनको जानना चाहिए कि इन्हीं नन्दनन्दन के लिए ब्रह्मा जी की आज्ञा से हम व्रज मे उत्पन्न हुईं, **''तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः''** (भागवत १०/१/२३) इनके द्वारा व्रज लौटाये जाने पर हमारा प्रलय अर्थात् विनाश हो जायेगा। श्रीकृष्ण के श्रीचरण ही हमारी गति हैं। इनके अतिरिक्त सारा संसार अगति है। प्रभु का कैंकर्य ही हमारी विद्या है ''सा विद्या या विमुक्तये'' इसके अतिरिक्त परिवार की सेवा हमारे लिए अविद्या है। तो प्रभु जान–बुझ कर हमें उत्पत्ति से प्रलय की ओर, गति से अगति की ओर तथा विद्या से अविद्या की ओर क्यों ढ़केल रहे हैं? क्या ये भगवान् नहीं हैं? इसी उधेड़ बुन में गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

६१. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने चिन्तन किया कि गर्गाचार्यजी ने नन्दनन्दन को भगवान् कहा पर आज इनमें ऐश्वर्यादि छहों गुणों में से किसी एक के भी सद्भाव की प्रतीति नहीं हो

रही है। क्या ऐश्वर्यवान् ईश्वर अपने अनीश्वर भक्तों को अपने चरणों से दूर करता है? क्या धार्मिक अपनी धर्मपत्नियों का इस प्रकार प्रत्याख्यान करता है? क्या यशस्वी शरणागतों का त्याग करके अपयश लेता है? क्या श्रीपति अपने भक्तों की उपेक्षा करके उन्हें श्रीहत कर सकते हैं? क्या नित्य ज्ञानवान् परमात्मा द्वारा अज्ञानग्रस्त जीवों की बिड़म्बना की जाती है? क्या परम वैराग्यवान् अपने वैरागी भक्त की उपेक्षा कर सकता है? जबकि आज सब कुछ हो रहा है। अतः श्रीकृष्ण की भगवत्ता में भ्रमाभास के कारण गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६२. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि यदि हम लौट कर जायेंगी और मार्ग में हमारी सखियाँ मिलेंगी तो उन्हें हम क्या उत्तर देंगी? इस लज्जा से गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६३. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि पहले कन्हैया बहुत प्रसन्न थे और अभी हमारे मुख देखकर ही क्षुब्ध हो गये हैं। इससे लगता है कि हमारे मुख इन्हें कष्ट देने के लिए हैं। अतः अब हम इन्हें अपने मुख नहीं दिखायेंगी इस अवधारणा से मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६४. अथवा, मुख नीचे करके गोपियों ने एक संकेत दिया कि अब हम लौटकर व्रज तो नहीं जायेंगी, हमारे शिर आपके श्रीचरणों में अर्पित हैं, आप चाहें तो हमें गले लगायें अथवा, अपने चरणों से कुचल दें अथवा, तलफा–तलफा कर मार डालें, आपने अपने चरणों में जिस प्रकार चाहें उस प्रकार रखें पर हैं तो आप हमारे ही प्राणधन।

"आश्लिष्यतां पादरतांपिनष्टु मां,
आदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो,
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः।।"

चैतन्यशिक्षाष्टकं, ८

इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६५. अथवा, गोपियों ने कहा यदि आप हमको भार मानते हों तो हम पृथ्वी पर साष्टांग करके पड़ जाती हैं, आप हमें मार डालिए, जैसे अन्य दैत्यों के वध करते हैं। आपने नारी जाति की ताटका और पूतना का भी तो वध किया है, संकोच मत कीजिए हम अपना मुख नीचे कर लेती हैं, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६६. अथवा, गोपियों को भगवान् के प्रति प्रणयकोप है, अतः वे भगवान् को कड़ी दृष्टि से देखरही हैं–

एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा।।

भागवत १०/३२/६

गोपियाँ भ्रुकुटि के धनुष पर नेत्र कटाक्षरूप बाणों का सन्धान करके प्रभु को लक्ष्य करके प्रहार कर रही हैं। उन्हें लगा कि कहीं हमारे नेत्र बाणों से प्रियतम के सुकुमार शरीर में ब्रण न हो जायें इससे मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६७. अथवा, गोपियों ने विचार किया कि कन्हैया के नेत्र में कोई मोहिनी शक्ति है उसी से तो इन्होंने हमको बिना घर–बार की बना दिया, कहीं हमारी और क्षति न हो जाए इस कारण इनकी आँखों से आँख मिलाना ठीक नहीं है, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६८. अथवा, मुधरभाव के आधिक्य में कन्हैया जी के प्रति गोपियों को चिढ़ हो र ही है, वे सोचने लगीं कि पहले तो हमें वंशनिनाद से बुलाया, हम कितनी बिड़म्बनाओं को पार करके इनके पास आईं। और फिर **"स्वागतं वो महाभागाः"** कह कर हमारा सम्मान किया, फिर दूरसे ही क्षण हमें लौट जाने के लिए विवश कर रहे हैं। आपकी कथनी और करनी में अन्तर है अब हाम आपको निहारेंगी भी नहीं। इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

६६. अथवा, गोपियों को प्रभु के प्रति मान है, वे कहती हैं कि यदि आप हमारी उपेक्षा कर रहे हैं तो हम भी आपकी उपेक्षा करेंगी। आप हमें नहीं देखना चाहते तो हम भी आपको नहीं देखेंगी। **"तामनुसार सरसीरुह लोचन या तव हरतु विषादम्"** इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

७०. अथवा, भावुक श्रीव्रजांगनाओं को एक डर लगा कि कहीं शोक से शुष्क अधर वाले हमारे मुख को देखकर कन्हैया जी को अधिक क्रोध आ जाएगा तब तो हमारी बहुत हानि हो जाएगी। इसीलिए अपनी प्रतिक्रियायें छिपानी ही उचित होंगी जो कि हमारे मुखों पर प्रतिबिम्बित हो रही हैं, अतः मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

७१. अथवा, माधुर्य के अतिरेक में गोपियों को ऐसा लगा कि हमारे अधर बिम्बफल (कन्द्रु) समान हैं। बिम्बफल को शास्त्रों ने बुद्धि का नाशक कहा है "सद्यो बुद्धि हरी बिम्बा" कदाचित् हमारे अधर बिम्ब को देखकर कन्हैया की बुद्धि समाप्त न हो जाए "शुष्यद् बिम्बाधाराणि" इससे हमारा और राष्ट्र दोनों का बहुत बड़ा अहित हो जाएगा। अब हम कान्हा को बिम्बाधर वाले मुख नहीं दिखाना चाहतीं, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

७२. अथवा, कन्हैया के प्रत्याख्यान से श्रीव्रजांगनाओं के मन में महाशोक सागर उमड़ पड़ा अतः उस बोझ के सम्हालने में असमर्थ गोपियों के मुख स्वयं नीचे हो गए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

७३. अथवा, प्रभु के प्रत्याख्यान के अनन्तर अनन्त–अनन्त गोपियों के नेत्रों से अश्रु का प्रवाह उमड़ पड़ा, उन्होंने सोचा कि यदि हमारे मुख ऊपर होंगे तो गरम कड़ाहों में खौलते तेल के समान अत्यन्त ऊष्ण अश्रुओं की छीटों से कहीं हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर के श्रीश से भी कोमल श्रीविग्रह में फफोले नहीं पड़ जायें, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

७४. अथवा, जब भगवान् श्यामसुन्दर ने गोपियों को श्रीव्रज लौट जाने की आज्ञा दी, तत्क्षण सभी व्रजबालाओं के हृदय में तरंगित शोकसागर से उनके नेत्रों में भी अश्रु का प्रवाह उमड़ पड़ा, जो अनेक गंगा–यमुना धारा के रूप में फुटा। गोपियों ने सोचा कि कहीं हमारा यह अश्रु प्रवाह हमारे प्रियतम कन्हैया जू को ही न बहा ले जाए अथवा इन्हें डूबो न दे इसीलिए मुख नीचे करके अपने चरणों से पृथ्वी को कुरेदने लगीं "चरणेन भुवं लिखन्त्यः" जिससे उनका सारा अश्रुजल पृथ्वी के छिद्रों से पाताल में चला गया। गोपियों के अश्रुप्रवाह के संबन्ध में किसी मध्यकालीन संस्कृत कवि का एक बड़ा रोचक श्लोक प्रसिद्ध है। जब उद्धव श्रीव्रज से मथुरानाथ श्रीकृष्णके पास आए और भगवान् श्रीकृष्ण के पूछने पर व्रज का समाचार कहने लगे तब एक उद्‌गार प्रकट किया। प्रभो! गोविन्द! आपके बिना व्रज की गौयें तितर–बितर हो गई हैं, अब गोकुल में मयूर नहीं नाच रहे हैं, अब कोयल कुहू–कुहू करके नहीं कूज रही है, अब पशु वृन्दावन में घास नहीं चर रहे हैं। हे कंसारे! व्रज में आपके वियोग के कारण सभी दुर्बल हो गये हैं, केवल श्रीयमुना में इन दिनों बहुत बाढ़ आ

गई है। वह कैसे? भगवान् ने आश्चर्य से पूछा। उद्धव जी ने उत्तर दिया, गोपियों के निरन्ध्रनेत्रों से बहते हुए असंख्य अश्रुप्रवाहों के कारण।

''शीर्णागोकुलसंधतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति
मूका कोकिलमण्डली पशुचयः शष्पाय न स्पन्दते।
सर्वेत्वद् विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः
किन्तेवका यमुना कुरङ्गनयनानेत्राम्बुभिर्बर्धते।।''

महाकवि श्रीसूरदास जी भी गा पड़े

''निशि दिन बरषत नयन हमारे......................................
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब ते श्याम सिधारे।
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भे कारे।।
कंचुक पट सूखत नहीं कबहुँ, ऊर बिच बहत पनारे।
सूरदास ब्रज अम्बु बढ़्यो है, काहे न लेत उबारे।।
''निशि दिन बरषत नयन हमारे...................................... ''

इसीलिए गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

७५. अथवा, श्री व्रजांगनाओं ने सोचा कि यदि कुण्डल आदि आभूषणों से सुसज्जित दाड़िम दशन, बिम्बाधर , अन्नत कपोल, खंजन नेत्र, आयत ललाट, वक्र भ्रुकुटि, मन्दस्मित आदि उपकरणों से सुसज्जित हमारे मुख कन्हैया जी को नहीं भाये तो अब कैसे भायेंगे? क्योंकि अब तो शोकज्वाला से हमारे अधर सूख चुके हैं, अश्रुप्रवाह से कपोल पर आये हुए काजल के कारण काले पड़ गये हैं, इसीलिए इन्हें नीचे करना ही उचित है। अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

७६. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं को अपने मुखों के प्रति ही घृणा होने लगी। उन्होंने कहा कि यदि तुम श्यामसुन्दर को ही नहीं प्रसन्न कर सके तो फिर अब तुम्हें हम ऊपर नहीं करेंगी। प्रभु के समक्ष उपस्थित होने की तुम्हारी योग्यता नहीं है इसीलिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

७७. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हमारी चंचलता को धिक्कार है, जो कि कान्हा के वंशी धुन को सुनकर कुछ भी विचार किये बिना हमलोग मोहन के प्रेम में बावली बनकर अपने घर–द्वार छोड़कर यहाँ चली आईं, इसी आमर्ष से उन्होंने अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

७८. अथवा, गोपियों ने कहा कि हे नन्दनन्दन! आपने हमारे त्याग का भी कोई मूल्यांकन नहीं किया, अब व्रज जाने की बात कह रहे हैं। आपको हम कृतघ्न मानती हैं, कृतघ्न का मुख दर्शनीय नहीं होता। अतएव उन्होंने अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

७९. अथवा, गोपियों ने कहा, कान्हा! आपको हम मित्र मानती थीं, हम आपके आमंत्रण पर आईं, अब आप व्रज लौट जाने की बात करके मित्रद्रोह और विश्वासघात कर रहे हैं। अतः हम आपका मुख नहीं देखेंगी। क्योंकि आप हमारे दुःख से दुःखी नहीं हो रहे हैं। अतः आपको देखने में भी हमें पाप लगेगा।

''जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी।।''

मानस ४/७/१.

८८इसीलिए अपने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

८०. अथवा, गोपांगनाओं को ब्रह्माजी पर क्रोध आ गया, अरे विधाता! तुमने हमें भयंकर दुःख दिया, हमने सह लिया, पर अब अधिक मत सहाओ, प्रत्युत हमें मार डालो। इसीलिए शिर नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८१. अथवा, संसार के सभी दुःखों में जाति के अपमान से उत्पन्न दुःख अत्यन्त असहनीय होता है–

''**जद्यपि जग दारुन दुःख नाना। सब ते कठिन जाति अपमाना।।**

मानस १/६३/७.

गोपियों ने सोचा कि हम भी गोपियाँ हैं, और श्रीकृष्ण भी गोपाल पुत्र, हमारी जाति में प्रकट हुए कन्हैया हमारा अपमान कर रहे हैं, इस लज्जा से गोपियों के मुख नीचे हो गए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८२. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि परस्पर के संयोग से एक–दूसरे में एक–दूसरे के गुण–दोष आ जाते हैं ''संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'' लगता है कि कन्हैया के दाक्षिण्य–चंचलता–उन्मुक्तता आदि गुण हममें आ रहे हैं, और हम नारियों का मान अविहत्था–लज्जा–शालिनता आदि गुण कन्हैया में जा रहे हैं। जाने के लिए कह दिया, अतः अब हम श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में मस्तक रखकर उन्हें मनायें, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८३. अथवा, श्रीव्रजबालायें कहने लगीं कि प्यारे मन मोहन! इस प्रकार कठोर वाक्यरूप बाणों से हमारे कर्णकुहरों, हृदयों को क्यों बेध रहे हो? यदि हमें मार डालना ही अभिमत है तो हम सभी तुम्हारे चरणों में शिर झुका दे रही हैं, सुदर्शन चक्र या नन्दक तलवार से एक ही वार में हम सबके शीष काट दो। इसी अभिप्राय से मुख नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८४. अथवा, श्रीगोपबालाओं ने ब्रह्मा जी को धिक्कारते हुए कहा कि विधाता! तुमने हमारे मुखों को कैसे बनाया और क्यों बनाया, जो भगवान् को अच्छे नहीं लग रहे हैं? अब तो हम इन मुखों को वृन्दावन की भूमि में रगड़–रगड़कर मर जायेंगी। इसी निश्चय से मुख नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८५. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि लगता है हमारे मुख कलंकित हो चुके हैं, इसीलिए तो व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण इन्हें नहीं निहार रहे हैं, अब तो चुल्लू भर पानी में नाक रगड़–रगड़कर मर जाना ही श्रेयष्कर है, इसी निश्चय से उन्होंने अपने मुख नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८६. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं को आज श्रीरासविहारी सरकार से भी कुछ डर लगने लगा, वे परस्पर कहने लगीं, वीर! कान्हा चौराग्रगण्य पुरुष हैं, इन्होंने वंशीध्वनि को माध्यम बनाकर हमारे मनोरत्न को चुरा लिया, अभी भी बहुत कुछ चुराना चाह रहे हैं, इन चोर जार शिखामणि से छिप–छिपके रहना होगा। अतः अपने मुखों को छिपा लिया, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८७. श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि प्रभो! आपका दोष नहीं है जब आपने हमें आश्वासन दिया कि ''**मायेमा रंस्यथ क्षपाः**'' उसी समय हमें विश्वास नहीं करना चाहिए था। इसीलिए तो हमारे मुखों पर चाँटे लगे। पर अब हम आपको दुबारा अवसर नहीं देंगी। जिससे फिर हमारे मुखों को चाँटे लगें। अतः मुख नीचे कर लिए, ''**कृत्वा मुखानि अव**''।

८८. अथवा, श्रीव्रजसिमन्तिनियों ने कहा, कान्हा! लगता है तुम निर्भय हो गए हो, कदाचित् तुम सोच रहे होगे कि चीरादान लीला के समय हमारे तुम्हारे बीच में जो संवित् हुई थी, तुमने स्वयं कहा था कि हे व्रजबालाओं! अब तुम सिद्ध हो चुकी हो, अभी व्रज को लौट जाओ, आनेवाली अगली शरदीय पूर्णिमा को तुम मेरे साथ महारास में सम्मिलित होगी और मेरे साथ रम जाओगी ''**यता बला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः**'' (भागवत १०/२२/२६)

इसमें कोई साक्षी नहीं है, क्योंकि उस समय श्रीकृष्ण और गोपियों के अतिरिक्त वहाँ और कोई दूसरा नहीं था, पर यह तुम्हारी भूल है। उस समय भी सबको धारण करनेवाली पृथ्वी साक्षी थीं और आज भी हैं। अतः पृथिवी को संकेत करने के लिए गोपियों ने अपने मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

८६. अथवा, श्रीव्रजदेवियों के मन में उत्कट वैराग्य आ गया, उन्होंने सोचा कि यदि हमारा सौन्दर्य हमारे प्राणधन मुरली मनोहर श्रीकृष्ण को नहीं आकर्षित कर सका तो अब हम इन अलंकारों को धूल में मिलाकर अपने मुखों और शरीरों को माटि में ढ़क लेती हैं, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९०. अथवा, श्रीव्रजदेवियों ने सोचा कि अरे! यह पृथिवी हमसे श्रेष्ठ है, क्योंकि प्रभु इसकी बात कभी नहीं टालते, इसका भार उतारने के लिए अवतार लिया करते हैं। भगवान् के श्रीचरण चिन्हों से पृथिवी निरन्तर अंकित रहती हैं, इसीलिए इन्हें वसुन्धरा कहा जाता है। अतः पृथिवी को प्रणाम करने के लिए गोपियों ने मुख भाग नीचे कर लिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९१. अथवा, श्रीव्रजबालायें पृथिवी को उपालंभ देती हैं कि पृथिवी! तुम श्रीकृष्ण के जन्म से झूठे गर्व का अनुभव करती हो, जो क्षण–क्षण में नये–नये रूप और नये–नये रंग बदलता हो ऐसे बहुरूपिया को तुम क्यों धारण करती हो? और इसे तुम क्षमा क्यों करती हो? अतः नीचे मुख करके व्रजांगनायें पृथिवी की भर्त्सना कर रही थीं, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९२. अथवा, श्रीव्रजांगनायें अपने मुख नीचे करके पृथिवी से प्रार्थना कर रही थीं कि बहन पृथिवी! आप हमारी सहायता करें और कन्हैयाजी से कहें कि ये हमारा तिरस्कार न करें, हमें महारास में सम्मिलित होने का सौभाग्य दें, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९३. अथवा, श्रीव्रजांगनायें मुख नीचे करके पृथिवी से यह प्रार्थना कर रही थीं कि जब श्यामसुन्दर हमें ठुकरा रहे हैं तो आप ही हमें स्थान दे दीजिए, अब हम रिक्त हाथ व्रज नहीं जायेंगी, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९४. अथवा, श्रीव्रजांगनायें मुख नीचे करके पृथिवी से यह कह रही थीं कि कन्हैया के बज्र से भी कठोर ह्रदय को और इनके द्वारा हमारे ऊपर किये जा रहे प्रत्याख्यानरूप अत्याचार को देखकर भी तुम स्थिर क्यों हो? अब तक तुम्हें द्रवित हो जाना चाहिए था। तुम फट क्यों नहीं गई? अतः **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९५. अथवा, श्रीव्रजांगनायें मुख नीचे करके पृथ्वी माँ से यह अनुरोध कर रही हैं कि पृथिवी! अब विलम्ब मत करो शीघ्र फट जाओ हम तुम्हीं में छिप जायें, अतः **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९६. अथवा, श्रीव्रजांगनायें मुख नीचे करके अपने ही ह्रदयों को कोस रही हैं कि ऐसे बज्र से भी कठोर वाक्य सुनकर ह्रदय टुकड़े–टुकड़े क्यों नहीं हो गए? अतः **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९७. अथवा, श्रीव्रजांगनायें मुख नीचे करके नन्दनन्दन श्रीकृष्ण को यह बताना चाहती थीं कि तुम तो स्वच्छन्दचारी हो तुम्हारे यहाँ तो एक नहीं तो दूसरी, दूसरी नहीं तो तीसरी ऐसी अनगिनत पत्नियाँ संभव हैं, न तुम्हें डर है न लज्जा और न ही किसी प्रकार का शास्त्रीय प्रतिबन्ध। परन्तु हम पतिव्रतायें हैं। हमारे लिए तो एकमात्र तुम्हीं प्राणपति और आशय हो। यदि तुमने भी ठुकरा दिया तब तो हमारे लिए पृथिवी प्रवेश के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। अतः हम पृथिवी में समाने का प्रयास कर रही हैं, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९८. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने भगवान् की उपेक्षा देखकर अपने मुख नीचे करके योगाग्नि प्रकट करने का निर्णय ले लिया, क्योंकि अग्नि मुख से ही प्रकट किया जा सकता है **"मुखादग्निरजायत"** (शु. यजु. ३१/१२) इसीलिए, **"कृत्वा मुखानि अव"**।

९९. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं को यह अब निश्चय हो चुका है कि भगवान् के विरह में उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है, और शास्त्र के अनुसार मन चन्द्रमा में लीन हो जाता है और नेत्र सूर्य में। गोपियों ने मुख नीचे करके अपना मन भगवान् श्रीकृष्ण की नखमणि चन्द्रिका में और अपने नेत्र भगवान् की श्रीचरण नखमणि ज्योति में लीन कर लिया, अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१००. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने ''अन्ते या मतिः सा गतिः'' सिद्धान्त के अनुसार अपना अन्त निकट जानकर भगवान् के श्रीचरण का ही ध्यान किया, जो भारत वसुन्धरा पर विराजमान हैं, अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०१. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हमारा मन संसार में भटक रहा है, इसीलिए प्रभु हमें स्वीकार नहीं कर रहे हैं। अतः मन मतंग को वश में करने के लिए भगवान् के श्रीचरण के अंकुश की आवश्यकता है, वह भूमि पर ही अंकित है, इसीलिए मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०२. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हमारे पाप पर्वत के समान हो चुके हैं, अतः इन्हें नष्ट करने के लिए भगवान् के श्रीचरण के वज्र की अपेक्षा है, वह भी इसी पृथिवी पर उपलब्ध है, अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०३. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हमारा स्वभाव संसारी होने के कारणा निम्नगामी है, इसे ऊपर उठाने के लिए भगवान् के श्रीचरणों के ध्वज की आवश्यकता है, जो इसी व्रजभूमि में अंकित है, अतः उसके ध्यान के लिए गोपियों ने मुख नीचे कर लिए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०४. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं ने सोचा कि हामरे मन में वासना की दुर्गन्ध है, उसे मिटाने के लिए भगवान् के श्रीचरणों के कमल चिन्हों की अपेक्षा है, वह भी इसी व्रजभूमि में अंकित है, अतः उसके ध्यान के लिए भी गोपियों ने पृथिवी को निहारने के लिए मुख नीचे कर लिए। भगवान् के चौबीस चरण चिन्हों के होने पर भी भागवतकार और मानसकार ने मुख्यरूप से वज्र–अंकुश–ध्वज तथा कमल इन्हीं चार चिन्हों में सबका अन्तर्भाव मान लिया और इन्हीं चार चरण चिन्हों के चिन्तन का विधान किया। यथा–

> **''संचिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं**
> **वज्रांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम्।**
> **उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल –**
> **ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।।''** भागवत ३/२८/२१

इसीलिए मुख नीचे किए, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०५. अथवा, गोपियाँ भगवान् के श्रीचरणों में प्रपन्न हो रही हैं और संप्रति विरह के ताप से तप्त भी हो रही हैं, उस ताप को शान्त करने के लिए उन्हें छत्र चाहिए, जिसकी भूमिका का निर्वहण करेंगे भगवान् के श्रीचरणकमल जो व्रजभूमि में विराज रहे हैं। अतः उन्हें अपने शिर का छत्र बनाने के लिए अपने मुख नीचे कर लिए। यथा–

> **प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।**
> **यन्मूलकेता यतायोऽञ्जसोरु**
> **संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपत्ति।।** भागवत ३/५/३८

अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०६. अथवा, श्रीव्रजांगनायें विरहसागर में डूब रही थीं, उन्हें जहाज चाहिए था, और वे जाहाज हैं भगवान् के श्रीचरण, जो संप्रति श्रीव्रजभूमि में विराज रहे हैं, इसीलिए उनका ध्यान करने के लिए गोपियों ने मुख नीचे किये, **''कृत्वा मुखानि अव''**।

१०७. अथवा, श्रीव्रजांगनाओं को आज नौ वस्तुयें चाहिए उन्हें ध्याता बनना है, उन्हें अपना पराभव दूर करना है, उनको भगवद् अंग–संग रूप अभीष्ट चाहिए, उन्हें तीर्थ चाहिए, उन्हें सबका प्रणम्य बनना है, श्रीव्रजांगनाओं को शरण चाहिए, व्रजसिमन्तिनियों को अपनी आर्ति दूर करनी है, उनको किसी पालक की अपेक्षा है और इस असार संसार सागर में उन्हें एक सुदृढ़ जहाज चाहिए और ये नौ अपेक्षायें भगवान् के श्रीचरणों में ही संभव हैं। इसीलिए उन श्रीचरणों का वन्दन करने हेतु गोपियों ने मुख नीचे कर लिए–

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।

भागवत ११/५/३३

अतः **''कृत्वा मुखानि अव''**। अब इस भावमाला का सुमेरु अर्थात् एक सौ आठवाँ भाव प्रस्तुत है।

१०८. वस्तुतः इस श्लोक में श्रीव्रजांगनाओं ने 'अव' शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात् **''श्वसनेन शुष्यद् बिम्बाधराणि मुखाग्नि कृत्वा शुचः गोप्यः चरणेन भुवं लिखन्त्यः अव इति प्राहुः''** अर्थात् चिन्ता के श्वास से सूखे हुए बिम्बाधर से युक्त मुखों को करके चरण से पृथिवी को कुरेदती हुईं शोकाकुल गोपियों ने कहा, हे प्रभु! 'अव' हमारी रक्षा कीजिए। 'अव' इस पद से यहाँ गोपियों ने उन्नीस भावों की अभिव्यक्ति की। यथा– 'अव'

''रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्य–
र्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभाववृद्धिषु'' (पा. धा. ६००)

अर्थात् गोपियाँ कहती हैं, 'अव' अर्थात् गच्छ, प्रभो! आप हमारे मन मन्दिर में पधार जाइये। 'अव' अर्थात् कन्, प्रभो! आप हमारे नेत्रों के सामने सुशोभित हो जाइये। गोपियों ने कहा, 'अव' हे परमेश्वर! आप हम पर प्रसन्न होइये। गोपियाँ कहती हैं प्रभो! 'अव' अर्थात् आप हमारे संसाधनों से तृप्त हो जाइये। गोपियाँ कहती हैं प्रभो! 'अव' (अवगच्छ) आप हमारी परिस्थितियों को समझिये। श्रीव्रजांगनाओं ने प्रार्थना की प्रभो! 'अव' प्रविश, आप हमारे मन मन्दिर में प्रवेश करिये। गोपियों ने कहा, 'अव' श्रृणु, आप हमारी प्रार्थना सुनिये। गोपियों ने कहा, प्रभु! 'अव' स्वामी भाव, आप हमारे स्वामी बनिये। गोपियों ने कहा, 'अव' याचस्व, आप आज हमसे कुछ माँगिये। गोपियों ने कहा, 'अव' इच्छ, आप आज महारास की इच्छा करिये। गोपियों ने कहा, 'अव' दीप्यस्व, आप प्रकाशमान होइये। गोपियों ने कहा, 'अव' अवाप्नुहि, आप हमें प्राप्त कर लीजिए। व्रजसिमन्तिनियों ने कहा, 'अव' आलिंग, आप हमारा आलिंगन करिये। पुनः व्रजबालाओं ने कहा, 'अव' हिंसय, आप हमारे दोषों को समाप्त कर दीजिए। गोपियों ने अंतिम प्रार्थना की, 'अव' वर्द्धस्व, आप हमारे भाव में किशोरमूर्ति होकर बढ़िये। इस प्रकार श्रीसीताराम जी की कृपा एवं श्रीराधामाधव की अनुकम्पा से **''कृत्वा मुखानि अव''** की हमने एक भावमाला अर्थात् १०८ भाव प्रस्तुत किये।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। षष्ठपुष्प संपन्न ।।

।। अथ सप्तम पुष्पं।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्बर्हार्हमौलिं लस –
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

और अब गोपियाँ पृथ्वी से प्रार्थना करती हैं ''**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**'' चरणों से पृथ्वी को कुरेदती हुईं, पृथ्वी! हमे स्थान दे दीजिए और कज्जल से युक्त सुन्दर नेत्रों से अपने वक्षोस्थ कुम्कुम् को धो दिया। क्या इसका उपयोग होगा ''**उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्**'' प्रचण्ड दुःख के भार से विकल होकर चुप हो गईं।

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विभृज्य रुदितोपहतेस्म किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः।।

भागवत १०/२६/३०.

जिनके लिए उन्होंने संपूर्ण कामनाओं को छोड़ दिया था, ऐसे अपने प्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र को अप्रिय जैसे बोलते हुए देखकर अश्रु से मलिन नेत्रों को पोंछकर कुछ क्रोध के आवेश में गद्गद् होकर गोपियाँ अनुरागपूर्ण होकर प्रभु के समक्ष बोलने लगीं। यहाँ यह ध्यान रहे कि चारों ओर से गोपियों ने श्यामसुन्दर को घेर लिया है। उनको लगता है कि हम चारों ओर से घेर लेंगी तो वे कहीं जा नहीं सकेंगे। और चार प्रकार की गोपियाँ हैं, जिनकी चर्चा पहले पद्मपुराण मे आ चुकी है।

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कथंचन।।

श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा, देवकन्यारूपा और गोपकन्या इसलिए इन चारों गोपियों के एक–एक प्रकार के यूथ हैं। अतः चारों यूथों की ओर से अब गोपियाँ भगवान् से प्रार्थना करेंगी। यद्यपि यहाँ गोपियों ने ग्यारह श्लोकों मे भगवान् की प्रार्थना की है। भगवान् ने दस श्लोकों मे निषेध किया था और इसकी प्रतिक्रिया में गोपियाँ उन्हें ग्यारह श्लोकों मे उत्तर देंगी। लगता यह है कि इस बार श्रीराधा जी का सखीवर्ग भी उन गोपियों के साथ हो गया है। जैसा कि पूर्व मे हम कह आये हैं कि ग्यारह प्रकार की जो भगवद्विषयक आसक्तियाँ हैं वे ही यहाँ ग्यारह प्रकार से बोल रही हैं और इस दृष्टि से दशधाभक्ति और एक भगवती राधा जी का प्रिय सखीवर्ग ये ग्यारह मिलकर बोल रही हैं। श्लोक हैं ग्यारह, पर यहाँ क्रियायें हैं चार, जिनमे दो बार गोपियों ने भगवान् से प्रसन्नता की बात कही और दो बार अपने भाव प्रकट किये। भगवान् को प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना की। गोपियों ने चतुर्दिक श्यामसुन्दर को घेर लिया है और आज प्रथम श्रुतिरूप गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से प्रार्थना कर रही हैं।

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादि पुरुषो भजते मुमुक्षून्।।

भागवत १०/२६/३१

श्रुतिरूपा गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से प्रार्थना के स्वर में वसंततिलका छन्द में कहती हैं, हे प्रभु! आप इस प्रकार नृशंस वाक्य कहने योग्य नहीं हैं। अर्थात् आपको यह

नृशंस, दारूण, हृदयविदारक वाक्य शोभा नहीं दे रहा है। क्यों? क्योंकि आप भवान् हैं **''भानि तारागणाः सन्ति यस्य इति भवान्''** आप तो चन्द्रमा के समान शीतल हैं। चन्द्र इस प्रकार विष वमन करे तो कैसा लगेगा? हे विभो! सर्वव्यापक! हम व्रजांगनाओं ने तो संपूर्ण विषयों को छोड़कर आपके श्रीचरणों की सेवा प्रारम्भ की है। हे दुरवग्रह! दुराग्रह मत करो और **''दुरवग्रहं आ त्यज''** अपना दुराग्रह छोड़ दो। हमे उसी प्रकार स्वीकारो जिस प्रकार मुमुक्षुजनों को आदि पुरुषदेव भगवान् नारायण स्वीकारते हैं। वस्तुतः तुम दुरवग्रह हो रहे हो **''अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे''** (पा. अ. ३/३/५१) पहले तो तुम पर्जन्य मेघ थे, वर्षण करते थे कृपा कादम्बिनी का। हमारे दुर्भाग्य से वह वर्षण समाप्त क्यों हो गया? तुम्हारे यहाँ दुष्काल क्यों पड़ गया है कृपावारिधारा का? **''दुरवग्रहं आ त्यज''** इस दुराग्रह को छोड़ दो और 'अस्मान् भजस्व' और हमे स्वीकार करो उसी प्रकार **''भक्ता भज स्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्''** अथवा **''स्व दुरवग्रह! स्वदुरवग्रहं आ त्यज''** अपने दुराग्रह को छोड़ दो और अपनों पर किये हुए दुराग्रह को छोड़ दो।

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।।

भागवत १०/२६/३२

हे प्रभो! जो आपने यह कहा कि **''यत्पत्यपत्यसुहृदां अनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्मः''** पतियों और उनकी सन्ततियों तथा उनके मित्रों की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, तो यह स्वधर्म उन स्त्रियों का है जो **''यत्पत्यपत्यसुहृदां अनुवृत्तिरंगस्त्रीणां''** पति और उनकी संताने तथा उनके मित्रों की अनुवृत्ति ही जिनकी रंगभूमि है अर्थात् उनकी सेवा मे जिन्हें रस आता होगा उनका स्वधर्म होगा। पर **''स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्''** आप तो धर्म को जाननेवाले हैं, परन्तु आप नारीधर्म के संबन्ध मे कैसे जान सकते हैं? हमे यह जिज्ञासा है। प्रभो! यदि आपकी ऐसी इच्छा ही है तो एक बार आप भी करके देखें। प्रथम आपने मोहिनी अवतार धारण किया था **''अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे''** आप ही नारीभाव स्वीकार करके इन सबकी सेवा करें। वस्तुतस्तु यह उनका विनोद है। गोपियाँ कहती हैं, प्रभो! संपूर्ण उपदेशों के आश्रय आप हैं। हमारी तो संपूर्ण भावनायें आपके ही श्रीचरणों मे समाहित हो जायें अर्थात् जो सामान्य नारियों को पति पर प्रेम होता है, जो उनके मित्रों और सन्तानों पर प्रेम होता है वह हमारी संपूर्ण आसक्ति आपमें ही हमारी समाहित हो जायें। क्योंकि आप ही संपूर्ण प्राणियों के परमप्रिय हैं, उनके बन्धु हैं और उनके आत्मा भी हैं। तात्पर्य यह है कि यदि पति की दृष्टि से चर्चा की जाये तो आप प्रेष्ठ हैं। सन्ततियों की दृष्टि से चर्चा करें तो आप सबके बन्धु हैं और मित्रों की दृष्टि से चर्चा करें तो आप सबके आत्मा हैं और वस्तुतः इन तीनों की आत्मा तो आप ही हैं। यदि आप आत्मा न हों तो कौन पत्नी, पति की सेवा करेगी? कौन माँ अपनी सन्तति की सेवा करेगी? कौन भावुक महिला उनके मित्रों की सेवा करेगी? आत्मा ही के कारण सभी 'सेव्य' होते हैं, और सबकी आत्मा आप हैं, तो क्यों न आपकी ही सेवा की जाये। इसलिए अपने वाक्य का उपसंहार करते हुए श्रुतिरूपा गोपियाँ कहती हैं, हे भक्तवत्सल!

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशा भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र।।

भागवत १०/२६/३३

हे परमेश्वर! हे कमलनेत्र! जो कुशल नारियाँ होती हैं और कुशल पुरुष होते हैं वे आपमे ही निरन्तर प्रेम करते हैं, क्योंकि आप एकमात्र संपूर्ण जीव जगत् के आत्मीय हैं। आप ही सबकी आत्मा हैं और आप नित्यप्रिय हैं और कोई नित्यप्रिय नहीं हो सकता। **"पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्"** संसार के पति, पुत्र ये सब तो कष्ट ही देते हैं। हे प्रभो! हे परमेश्वर! इसलिए आप हम पर प्रसन्न हो जायें और कल्प–कल्पान्तर, युग–युगान्तर, जन्म–जन्मान्तर से आप मे ही संजोयी हुई इस आशा लता को मत काटें। हमने अनन्तकाल से आशालता को संजो रखी हैं, जब आपके नेत्र कमल जैसे हैं तो आप स्वयं इस आशारूप लता को काटने के लिए कुल्हाड़ी क्यों लेंगे? आप प्रसन्न हो जाइए, क्योंकि श्रुति स्वयं कहती हैं **"किं प्रजया करिष्यामः येषां नायमात्माऽयं लोकः"** उस संतान को हम लेकर क्या करेंगी, जिनका न यह आत्मा है और न लोक, इसलिए प्रभो! अब तो आप ही हमारे आश्रयभूत हैं। हम आपके अतिरिक्त और किसी को नहीं जानतीं। इसके अनन्तर ऋषिरूप गोपियों ने प्रार्थना करनी प्रारम्भ की। प्रभो! आप कहते हैं व्रज को चली जाओ। हम व्रज कैसे जायें, हमारे चित्त को आपने चुरा लिया है। सुखपूर्वक चुरा लिया अथवा, सुखात्मक आपके द्वारा हमारा चित्त चुराया जा चुका है, जो घरों मे निर्विस्ट होते हैं वे हमारे हाथ भी अब कुछ काम नहीं कर रहे हैं। हमारे चरण आपके श्रीचरणों को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते। हम व्रज जायें कैसे? और मान लीजिए हम किसी साधन से जाती हैं तो वहाँ करें क्या?

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा।।

भागवत १०/२६/३४

हम क्या करें प्रभो! आप ही आज्ञा दें। प्रभो! एक प्रार्थना है हमारी आप स्वीकारें। क्या?

सिंचांग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते।।

भागवत १०/२६/३५

हे हमारे प्राणसर्वस्व! अपने अधरामृत के प्रवाह से युक्त अपनी मंगलमय वंशी द्वारा आपके मधुर मन्द–मन्द मुस्कान से भरी चितवन, मंगलमय गीत से उत्पन्न हमारे हृदय की उत्कंठा की अग्नि को सींच दीजिए, शान्त कर दीजिए। 'त्वदधरामृतपूरकेण' **"त्वदधरामृतस्य पूरकः प्रवाहः यस्मिन् तेन वेणुना"** यदि ऐसा नहीं हुआ, तो हे हमारे मित्रवर! आपके ही विरह से उत्पन्न अग्नि मे अपने शरीर को भस्मसात् करके, हम ध्यान से आपके ही चरणारविन्द के पदवी को प्राप्त कर लेंगी। **"इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ"** (३/३/१५७) इच्छार्थ में यहाँ 'लोट लकार' का प्रयोग हुआ है। ऋषिरूपा गोपियों के चुप होते ही देवकन्याओं ने कहा। प्रभो!

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमंग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः।।

भागवत १०/२६/३६

हे कमलनेत्र! जिस समय से हमने आपके उस श्रीचरणकमल तल का स्पर्श किया है जिनके द्वारा कभी–कभी भगवती लक्ष्मी जी को महोत्सव के लिए प्राप्त होता है, जो कभी–कभी लक्ष्मी जी को महोत्सव के क्षण दिए जाते हैं, जिन्हें कभी–कभी लक्ष्मी जी स्पर्श

कर पाती हैं और आप तो 'अरण्यजनप्रियस्य' आप ठहरे वनवासियों के प्रिय। अथवा, आरण्यक सन्यासियों के प्रिय। अथवा, हम आरण्यक व्रजवासियों के प्रिय ऐसे हे प्रभो! आपके उस श्रीचरणारविन्द को जबसे हमनें स्पर्श किया है, उस समय से आपको छोड़कर और किसी पुरुष के समक्ष हम खड़ी भी नहीं रह पाती हैं। और आपके द्वारा आनन्द प्राप्त कराये जाने के पश्चात् अब हम अन्य को देखने का साहस भी नहीं जुटा पातीं। इसलिए प्रभो! अब तो आप ही हमारी गति हैं, आप ही मे हमारी मति है, आपमे ही हमारी रति है और आपमे ही हमारे जीवन की इति भी होगी। प्रभो!

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः।।

भागवत १०/२६/३७

यद्यपि आपके वक्षस्थल पर स्थान प्राप्त करने के पश्चात् भी श्रीलक्ष्मी जी जिन आपके श्रीचरणकमलों को तुलसी जी की सपत्नी भावना के होने पर भी उसकी चिन्ता न करके कामना करती रहती हैं। जिन लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष के लिए अन्य देवताओं का प्रयास है वे भी जिन आपके श्रीचरणकमल के रज की इच्छा करती हैं। ठीक उसी प्रकार हम भी 'तद्वद् वयं' हम भी आपके चरणारविन्द के रज को प्रपन्न हो चुकी हैं। वे तो केवल कामना ही करती हैं, हम तो प्राप्त हो चुकी हैं। हमने शरणागति स्वीकार कर ली है, हमारी षड्विध शरणागति पूर्ण हो चुकी है, हमने आपकी अनुकूलता का संकल्प ले लिया है। आपकी प्रतिकूलता छोड़ दी है। आप हमारी रक्षा करेंगे इस प्रकार का हमारे मन में महाविश्वास हो चुका है। आपको हमने रक्षक के रूप मे वरण कर लिया है। आपके प्रति हमारा पूर्ण कार्पण्य है, हमारा दैन्यभाव है, और आपके चरणों में हमने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया है। इसलिए अब तो हम आपके ही शरण में हैं और आपके ही शरण मे रहेंगी। हे परमेश्वर! अब हमारा प्रत्याख्यान मत कीजिए, अब हमको लौटने के लिए मत कहिए।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्।।

भागवत१०/२६/३८

हे पुरुषभूषण! हे वृजिनार्दन! दूसरों के लिए आप जनार्दन होंगे पर हमारे लिए आप वृजिनार्दन हैं। हमारे, वृजिनों अर्थात् पापों को नष्ट करते हैं। अन्यत्र तो दैत्यजनों को नष्ट करने के कारण, दैत्यजनों का अर्दन करने के कारण आपको जनार्दन कहा जाता है **"जनान् दैत्यजनान् अर्दयति इति जनार्दनः"** यहाँ तो **"वृजिनानि पापानि अर्दयतीति वृजिनार्दनः"**। और लोगों के लिए आप जनार्दन हैं, अर्जुन के लिए आप जनार्दन हैं **"का प्रीति स्याज्जनार्दन"** (गीता १/३६) **"ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।"** (गीता १/३६) अर्जुन के लिए आप जनार्दन हो सकते हैं, पर श्रीव्रजांगनाओं के लिए आप तो वृजिनार्दन हैं। आप हम पर प्रसन्न हो जाइए, क्योंकि आपकी उपासना की आशा लेकर हमने अपने घरों को छोड़कर आपके श्रीचरणकमल को प्राप्त कर लिया है। क्योंकि हम जानती हैं कि वसतियाँ अर्थात् घर आपकी उपासना को खा जायेंगे **"त्वत् उपासनां अश्नन्तीति त्वदुपासनाशाः"** इसलिए आपकी सुन्दर मुस्कुरान से भरी चितवन को निहारकर हमारे मन मे आपकी सेवा के लिए तीव्र अभिलाषा जग गई है और उस अभिलाषा से हमारा अन्तःकरण तप रहा है। हे पुरुषभूषण! हे पुरुषों के आभूषणस्वरूप प्रभो! अब हमको अपना दास्य दे दीजिए। अपनी सेवा का सौभाग्य दे दीजिए। यहाँ श्रीव्रजांगनायें प्रभु से भोग नहीं माँग रही हैं। प्रभु से और कुछ काम की तृप्ति की चर्चा नहीं करती हैं। यहाँ काम का अर्थ

है अभिलाषा "**कामो निश्चयवांछयोः**" गोपियाँ कहती हैं, आपकी सुन्दर मुस्कुरान और चितवन के कारण हमारे मन मे आपकी सेवा का जो निश्चय हुआ वह तीव्र हो चुका है। अब इसकी आपूर्ति के लिए हमारे मन में ऐसा ताप बढ़ता जा रहा है जो हमारे अन्तःकरण को तपाता जा रहा है। हे पुरुषभूषण! अब दास्य दे दीजिए। "**पुरुषभूषण देहि दास्यं**" भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं, गोपियों के वाक्य को सुनकर। अब चतुर्थ प्रकार की गोपियाँ बोल पड़ीं। भगवान् प्रश्न कर सकते हैं कि तुम हमारी दासी क्यों बनना चाहती हो? इसलिए कि हमने आपका कुछ देखा है।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम् दास्यः।।

भागवत १०/२६/३६

हमने आपके कुण्डलश्री की शोभा से युक्त गण्डस्थल और आपके अधर की सुधा अर्थात् ऐसी सुधा जहाँ धरा का भाव है ही नहीं, जहाँ पृथ्वी की भोगवासना नहीं है, इस मंगलमयी अधरसुधा से समन्वित और हासपूर्ण चितवन से युक्त लोल–लोल कुन्तलों से आवृत श्रीमुखारविन्द को निहारकर और भक्तों को अभयदान देनेवाले आपके दिव्य भुजदण्डों को निहारकर तथा श्री जी के द्वारा एकमात्र रमण स्थान आपके श्रीवक्ष को निहारकर, अर्थात् आपका श्रीवत्सलांच्छन निहारकर, अब हम आपकी दासी बनना चाहती हैं। हम जानती हैं कि आपके दासों का तीनों कालों मे कोई पराभव नहीं कर सकता। आपके दास जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में सबसे विजयी रहते हैं। प्रभो! हमें इस संसार में पराजित नहीं होना है और अजेय बनने के लिए आपके दास्य के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं होता। प्रभो! आप इतने सुन्दर हैं कि आपके लिए सुन्दर पदों से युक्त मूर्च्छनामण्डित वेणुगीत को सुनकर कौन महिला अपने आर्यचरित्र से विचलित नहीं हो जाएगी? अर्थात् कौन आपश्री को कान्तरूप मे नहीं स्वीकारेगी? आपका वह रूप जिससे त्रिलोकी को सुन्दरता मिली है, जिसको निहारकर गौओं, पक्षियों, वृक्षों और मृगों में भी पुलकावली आ गई, उस रूप को देखकर भला कौन आपके श्रीचरणों का सेवक नहीं बन जाएगा?

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम।
त्रैलोक्य सौभाग्यमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।।

भागवत १०/२६/४०

चतुर्थ प्रकार की गोपियों का क्या मंगलमय भाव, "अब विलम्ब मत कीजिए"। यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार भगवान् नारायण देवलोक की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप व्रजजनों के भय और आर्ति को हरण करने के लिए प्रकट हुए हैं। इसलिए हे आर्तबन्धो! अब आप हमारे आपकी सेवा के लिए तप्त वक्षोरूहों पर और हमारे शिरों पर अपना करकमल रख दीजिए। हम आपकी दासियाँ हैं।

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्।।

भागवत १०/२६/४१

यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यदि गोपियों का पाँच वर्ग माना जाता है राधा जी के प्रिय सखीवर्ग को लेकर तो यहाँ पाँच क्रियायें भी उपलब्ध है। पहले 'तन्नः प्रसीद', पुनः 'सींचाग नः', पुनः 'तन्नः प्रसीद', पुनः 'पुरुषभूषण देहि दास्यं' और पुनः 'तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो', रासपंचाध्यायी की यही तो परिणति है। गोपियाँ क्या माँग रही हैं

भगवान् से? आप हम पर प्रसन्न हो जायें। आप अपने मिलन की उत्कण्ठा की अग्नि को सींच दें अर्थात् शान्त कर दें। आप हम पर प्रसन्न हों, आप हमे दासी होने से सेवा का सौभाग्य दें और आप हमारे शिरों पर और वक्षों पर अपने करकमल को रख दें, जिससे

"शीतल सुखद छाँह जा कर के मेटत पाप ताप माया।
निशि बासर तेंहि कर सरोज की तुलसीदास चाहत छाया।।"

इस प्रकार पाँच प्रकार की गोपियों ने अपना विज्ञापन पूर्ण कर लिया। पाँचों भाव यहाँ इकट्ठे हो रहे हैं, शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुरभाव। इस प्रकार पंचभाग धरती के पाँचों रसों का एक साथ सम्मिश्रण हो रहा है। और अब भगवान् ने गोपियों के इस करुण क्रन्दनात्मक विज्ञापन को जब सुना तो उन्हें दया आ गई और दया से गोपियों को रमण कराया कामवासना से नहीं।

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।।

भागवत १०/२६/४२.

आत्माराम होने पर भी भगवान् ने गोपियों को रमण कराया। ठीक है, क्या चाहती हो गोपियों? गोपियों ने कहा, हम कुछ नहीं चाहतीं, हम तो यही चाहती हैं कि जीवन भर हम संसार मे नाचती रहीं और नाचते–नाचते हमारा समय बीता कोई लाभ नहीं हुआ। हमारी आज इच्छा है कि अब हम संसार मे नहीं अब तो आपके सामने नाचेंगी, **"ऐसी तान सुना कन्हैया मैं नाचूँ तू गा"** आप गायें और हम नाचें। भगवान् स्वीकार करते हैं, ठीक है रमण स्वीकार हुआ। अब आगे की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए भगवान् शुकाचार्य जी कहते हैं–

"ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति–
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः।। भागवत १०/२६/४३

यहाँ इन्द्रवंशा और वंशस्थ की उपजाति में मुनीन्द्रशुकाचार्य जी महारास की प्रस्तावना करते हुए कह रहे हैं कि अपने प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्रजी को निहारकर प्रभु की स्वीकृति भरी चितवन से जिनका मुखकमल प्रसन्नता के कारण विकसित हो उठा है, ऐसी प्रभु के श्रीचरणों में पूर्ण रूप से उपस्थित हुई उन अनन्त श्रीव्रजांगनाओं से घिरे हुए किसी प्रकार च्युत न हुए अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचर्य संपन्न अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण अपनी उदार चेष्टाओं से समन्वित होकर उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे शरद् पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र मण्डल से घिरे हुए उन्मुक्त प्रकाश और कुन्द जैसे दन्तावलीरूप किरणों से समलंकृत मृगांक पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होते हैं। आज प्रियतम श्रीकृष्ण ने गोपियों को प्रेम भरी चितवन से निहार लिया। प्रभु के नेत्र सूर्य हैं, **"चक्षोः सूर्यो अजायत"** जैसे सूर्योदय के समय कमल खिल जाता है, उसी प्रकार भगवान् के नेत्र सूर्य की सन्निधि में गोपियों के मुखकमल खिल गए। गोपियाँ चारों ओर से प्रभु को घेर कर उपस्थित हैं। परन्तु भगवान् च्युत नहीं हो रहे हैं। इसलिए उन्हें अच्युत कहा जा रहा है। भगवान् की चेष्टायें उदार हैं, क्योंकि सामान्य गोपियों के साथ प्रभु का संबन्ध हो रहा है। उनका हास भी उदार है और कुन्द के समान दन्तावली का प्रकाश ही प्रभु के मुखचन्द्र की किरण है। गोपियाँ तारागण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रमा और राधा जी रोहिणी हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर भी चन्द्रमा का पूर्ण समाज इकट्ठा हो गया है।

''उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्।।''

भागवत १०/२६/४४

अनन्त व्रजवनिताओं के यूथों के स्वामी श्रीव्रजांगनाओं के द्वारा जिनका यश गाया जा रहा है, ऐसे रासविहारी सरकार स्वयं भी ऊँचे स्वर से गाते हुए वैजयन्ती माला धारण किए हुए श्रीमद्वृन्दावन धाम को सुशोभित करते हुए विचरण करने लगे। हम कह चुके हैं कि अब यह रमण तभी संपन्न होगा जब भगवान् मे 'रामत्व' आयेगा, क्योंकि 'रामत्व' ही परमेश्वर की पूर्णता है। जिसमे योगी लोग रमण करते हैं उसे 'राम' कहते हैं और 'राम' शब्द से अविधावृत्ति से परब्रह्म का अभिधान होता है।

**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते।।**

रासपंचाध्यायी में भगवान् की पूर्णता हुई। पूर्णता के लिए एक ही आधार है 'रमण'। और 'रमण' राम का धर्म है। कृष्ण का धर्म है 'कर्षण' और राम का धर्म है 'रमण' यह दृश्य यहाँ निरन्तर आप देखेंगे। भगवान् आनन्दकन्द अब प्रथम बार रमण करने का मन बाना रहे हैं। ''**वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे**'' रमण करने का मन बनाया। भगवान् ने ''**रमु क्रीडायां**'' अर्थात् खेलने का मन बनाया, क्योंकि ब्रह्म का स्वभाव है ''**आत्मरतिरात्मक्रीडः**'' वो आत्मा के साथ रमण करते हैं, आत्मा के साथ खेला करते हैं। भोग, ब्रह्म का स्वभाव नहीं हो सकता, वह तो ग्राम्यजीव का स्वभाव है। अब भगवान्–

**नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना।।** भा. १०/२६/४५

वेदव्यास जी स्पष्ट करते हैं कि भगवान् श्रीमद्यमुना जी के पुलिन पर विराजमान होकर गोपियों के साथ खेल रहे हैं। जैसे कोई बालक खिलौनों के साथ खेलता है, उसी प्रकार निर्दोषभाव से भगवान् गोपियों के साथ खेल रहे हैं। यह श्रीमद्भागवतम् का सबसे ही विचित्र श्लोक यह है जिसकी चर्चा अब हम करने जा रहे हैं। श्रीमद्भागवत् जी के दशम स्कन्ध के २६वें अध्याय का ४६वाँ श्लोक जिसकी व्याख्या में प्रायशः वक्ता और टीकाकार अस्त–व्यस्त से दिखते हैं, संदिग्ध से दिखते हैं कोई कुछ कहने को तैयार नहीं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की कृपा से और राधारानी जी की अनुकम्पा से अब हम इस श्लोक की व्याख्या का प्रयास कर रहे हैं। यद्यपि इसके संबन्ध में हम पहले बहुत कुछ कह चुके हैं और यहाँ तक की इसकी भूमिका में ही हमारा लगभग सात घण्टे का वक्तव्य संपन्न हो चुका है, परन्तु उसका फिर थोड़ा सा अभ्यास करते हैं। श्लोक देखिए कितना रमणीय है–

**बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार।।**

भागवत १०/२६/४६

यहाँ कर्त्ता कौन है? भगवान् श्रीकृष्ण। और षष्ठी कहाँ है? 'व्रजसुन्दरीणां'। और तृतीया कहाँ है? 'बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः' और

'क्ष्वेल्यावलोकहसितैः' दो स्थानों पर तृतीया है। ये बाहुप्रसार किसका? इसमे हिन्दी टीकाकार भी प्रतिकूल ही प्रतीत होते हैं। बाहुप्रसार किसका? यहाँ संबन्ध देखना चाहिए भगवान् का नहीं। संबन्ध में षष्ठी होगी व्रजसुन्दरीणां बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः वेल्यावलोकहसितैः। रतिपतिं स्वतंत्र है। **''रतिपतिं उत्तंभयन् भगवान् गोपीः रमयांचकार''** व्रजसुन्दरियों के बाहुप्रसार, परस्पर आलिंगन, और परस्पर हाथ, केश, उरु, नीवी, वक्ष का स्पर्श, नर्म विनोद, 'नखाग्रपातैः', चुटकी बजाना, 'क्ष्वेल्यालीला' खेल और 'अवलोक' मंगलमय रसभरी चितवन और 'हसितैः' मन्द–मन्द स्मित इन बारह संकेतों से व्रजसुन्दरियों की ही इन बारह क्रियाओं से **''रतिपतिं उत्तंभयन्''** रति के पति काम को 'उत्तंभयन्' 'उत् ऊपरी स्तंभयन्' समरांगण मे परास्त करके आकाश मे लटकाते हुए 'रमयांचकार' गोपियों को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने रमण कराया। इसका तात्पर्य क्या है? जो टीकाकार यहाँ **''व्रजस्त्रीणां रतिपतिं उत्तंभयन्''** अर्थात् उद्दीपयन् यह अर्थ करते हैं कि व्रजसुन्दरियों के काम को भगवान् ने उद्दीपित किया, उनके प्रति मेरा विनम्र निवेदन है कि यद्यपि अब वे सभी के सभी स्वर्गीय हो चुके हैं तथापि जहाँ भी वे होंगे वहाँ से मेरा निवेदन अवश्य सुनेंगे। निवेदन यह है कि 'रतिपतिं' का 'व्रजसुन्दरीणां' के साथ संबन्ध नहीं हो सकता इसका मूल कारण यह है कि **''मुखं व्याकरणं स्मृतं''** वेद का मुख कहलाता है व्याकरण; और श्रीमद्भागवतम् वेदरूप कल्पवृक्ष का गलित फल है **''निगमकल्पतरोर्गलितं फलं''** इससे श्रीमद्भागवतम् की व्याख्या करने के लिए व्याकरण को मुख रूप मे प्रस्तुत होना पड़ेगा। व्याकरण को वेदरूप कल्पवृक्ष के महातात्पर्य रूप श्रीमद्भागवत की व्याख्या करने के लिए मुख की भूमिका निभानी पड़ेगी। यदि मुख की भूमिका निभानी पड़ेगी तो अन्य व्याकरणों के अतिरिक्त एकमात्र पाणिनीय व्याकरण ही ऐसा व्याकरण है जो लेक और वेद दोनों मे प्रयुक्त शब्दों का अनुशासन करता है **''अथ शब्दानुशासनं''** आक्षेप भाष्य हुआ, **''केषां शब्दानां''**? उत्तर दिया भाष्यकार ने **''लौकिकानां वैदिकानां च''** लौकिक और वैदिक दोनों शब्दों का अनुशासन है पाणिनीय व्याकरण और यही है वेद का मुख्य अंग, जिसे हम मुख कह रहे हैं। उसी व्याकरण के महाभाष्य मे भगवान् पतंजलि ने कहा **''सविशेषणस्य वृत्तिर्न वृत्तस्य विशेषणं न''** 'सविशेषण' पदार्थ अर्थात् जिस शब्द का कोई विशेषण होता है उसमें कभी समास नहीं किया जा सकता और जिसका समास हो जाता है, जो समास के अन्तर्गत शब्द आ जाता है उसका कोई विशेषण नहीं हो सकता। जैसे 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहाँ 'राज्ञः' शब्द का 'ऋद्धस्य' विशेषण है अब जब तक 'ऋद्धस्य' इसके साथ रहेगा तब तक इसका समास नहीं किया जा सकता और जब राजा के साथ पुरुष का समास हो गया तो समस्त होने के कारण राजा का 'ऋद्धि' शब्द विशेषण ही नहीं बन सकता। ठीक इसी प्रकार से 'रतेः पतिः रतिपतिः' रति के साथ पति शब्द का समास हो सकता है अब यह 'व्रजसुन्दरीणां' का विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि 'रतिपतिं' शब्द में पति शब्द रति का विशेष्य है, और रति उसका विशेषण। 'व्रजसुन्दरीणां' के साथ उसका समास कैसे बनेगा? इसलिए व्रजसुन्दरियों का रतिपति ऐसा नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहना ही होता तो शुकाचार्य ''व्रजसुन्दरीणां मनसीजं'' कह देते तो कोई आपत्ति नहीं थी। 'मनसीज' शब्द भी काम का वाचक है। ''व्रजसुन्दरीणां मदनकं'' कह देते, ''व्रजसुन्दरीणां स्मरमहो'' कह देते, परन्तु यह सब न कहकर 'रतिपतिं' का प्रयोग करके शुकाचार्य भी 'रतिपति' को व्रजसुन्दरी से संबन्धित नहीं मानते अर्थात् यहाँ संबन्ध मे षष्ठी नहीं होगी। क्योंकि 'काम' व्रजसुन्दरियों का संबन्धी नहीं है, व्रजसुन्दरियों के संबन्धी तो श्यामसुन्दर हैं। एतावता 'बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु' इत्यादि जो शब्द है वही व्रजसुन्दरियों से संबद्ध होंगे। **''व्रजसुन्दरीणां बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्म–**

नखाग्रपातैः, क्ष्वेल्यावलोकहसितैः' अर्थात् व्रजसुन्दरी संबन्धी बाहुप्रसार परिरम्भ, कर, अलक, उरु, नीवी और स्तन का आलभन, नर्म मधुर विनोद, नखाग्रपातैः और चुटकियों का बजाना, क्ष्वेल्या और उनका अवलोक, हँसित, इन बारह क्रियाओं के द्वारा 'रतिपतिं उत्तम्भयन्' रतिपतिं स्वतंत्र है। रतिपति काम को 'उत्तम्भित' करके ऊपर लटका करके भगवान् ने गोपियों को रमण कराया। हम इस बात को बारम्बार कह चुके हैं कि भगावन् मे तो काम की गंध आ ही नहीं सकती। पहली बात वे परमेश्वर हैं, वे परत्व की सातवीं कक्षा में कहे जा सकते हैं। शरीर से परे है इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से परे है विषय, विषयों से परे है मन, मन से परे है बुद्धि, बुद्धि से परे है जीवात्मा, जीवात्मा से परे है भगवान् की योगमाया और योगमाया से भी परे हैं परमेश्वर भगवान्। तो वहाँ काम का प्रवेश कैसे होगा? और दूसरी बात ऐसी अवस्था भी नहीं है भगवान् श्रीकृष्ण की। वह आठ वर्ष के हैं। और तीसरी बात ऐसी व्यवस्था भी नहीं है यहाँ। यह ग्रन्थ परमहंसों के लिए है और परमहंस काम कथा क्यों सुनने लगे? और चौथी बात परीक्षित आसन्न मरण हैं, उनकी मृत्यु केवल दो दिन अवशेष है। ऐसी परिस्थिति मे वे कामकथा क्यों सुनने लगे? और सबसे बड़ी बात तो शुकाचार्य जैसा परमहंस परिव्राजकाचार्य जिसे स्त्री–पुरुष का कोई भेद ही नहीं आभाषित हो रहा है, वह कामकथा क्यों सुनाएगा? और सबसे बड़ी बात ये भगवान् हैं, भगवान् षडैश्वर्य संपन्न हैं। तो जो षडैश्वर्य संपन्न है, जिनमे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज निरन्तर विराजमान रहते हैं, उनमे इन छहों के नाशक काम का आगमन कैसे होगा? एतावता यहाँ जो अर्थ हमनें निवेदन किया वही अर्थ है। और जिस श्लोक को अब तक टीकाकारों ने सबसे भयंकर माना था, उसको मे सबसे अभयंकर मान रहा हूँ। भगवान् आनन्दकन्द ने व्रजसुन्दरियों के बारह संकेतों को शस्त्र के रूप में स्वीकारा, क्योंकि काम के स्थानों की जब चर्चा की गई तो भगवान् ने यही कहा कि इसके बारह स्थान हैं, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि **"इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते"** (गीता ३/४१) तो भगवान् आनन्दकन्द यहाँ बारह चेष्टाओं से काम को गोपियों के बारहों स्थानों से भगाकर उसे आकाश मे टाँग देते हैं। बाहुप्रसार, परिरम्भ का आलभन, अलक का आलभन, उरु का आलभन, नीवी का आलभन, स्तन का आलभन और नर्म (विनोद), नखाग्रपात (चुटकी बजाना) और क्ष्वेल्या (लीला), अवलोक (चितवन) हँसित (मन्दहास) इन बारह क्रियाओं के द्वारा भगवान आनन्दकन्द ने रतिपति को 'उत्तम्भयन्' आकाश मे लटकाकर गोपियों को रमण कराया। इस प्रकार भगवान् ने प्रथम अध्याय मे गोपियों के साथ आत्मरमण किया। गोपियों की आत्मा के साथ भगवान् खेलते रहे। स्वस्वरूप की व्याख्या परिणति पूर्ण हुई। जीव को भगवान् की शरण में कैसे जाना चाहिए व जीव का स्वरूप क्या होना चाहिए? जीव का स्वरूप है दास्य।

दासभूतास्तु वै सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
अहं दासो हरिः स्वामी स्वभावं च सदा स्मर।।

श्रीहारित कहते हैं कि ये संपूर्ण जीवात्मा भगवान् के दास हैं। मैं दास हूँ, भगवान् स्वामी हैं, इस स्वभाव को कभी भूलना नहीं चाहिए। इस स्वभाव का निरन्तर स्मरण करो। आज गोपियाँ बारम्बार कहती हैं **"पुरुषभूषण देहि दास्यं"** हे पुरुषभूषण! हमे दास्य दीजिए। यही जीव का स्वरूप है। दास्यभाव चाहती हैं श्रीगोपियाँ **"वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः"** गोपियों ने अपने को किंकरि माना, दासी माना, दास्य माँगा। तीन बार 'दास्य' शब्द का प्रयोग करके सिद्ध किया कि जीवात्मा तीनों कालों में परमात्मा का दास ही है। वह कभी स्वामी नहीं हो सकता और न ही जीवात्मा परमात्मा से स्वरूपतः अभिन्न हो सकता

है। अब द्वितीय अध्याय की भूमिका का प्रारम्भ हुआ। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गोपियों को सम्मान दिया।

एवं भगवतः कृष्णाल्लबधमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि।।

भागवत १०/२६/४७

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से गोपियों को सम्मान मिला और अब उन्होंने अपने को सबसे श्रेष्ठ मान लिया, थोड़ा सा अहंकार आया। चारों प्रकार की गोपियों में अहंकार आया। सम्मान का गर्व हुआ, उन्होंने सोचा कि हमारे समान संसार मे कोई है ही नहीं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् लक्ष्मीपति हमें इतना सम्मान दे रहे हैं। हमारे साथ खेल रहे हैं इसका अर्थ है कि हम ही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी हैं। भगवती गोपियों में यह अभिमान उचित नहीं होगा, इसलिए–

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।।

भागवत १०/२६/४८

भगवान् ने देखा, गोपियों का 'सौभगमद' सौभाग्य का अहंकार "**वीक्ष्य मानं च**" और इधर राधा जी का मान देखा कि राधा जी मान कर गईं हैं, रुठ चुकी हैं, राधा जी मानेंगी नहीं, उनको रोष आ गया है। जाओ, रमो गोपियों के साथ। इसलिए अब केशव 'केशान् अवति' "**कं ईशं च वशयति इति केशवः**" जो ब्रह्मा और विष्णु का भी नियंत्रण करते हैं, ऐसे केशव अथवा 'केशान् वयति' राधारानी के केशों का उद्ग्रन्थन करने के लिए, अन्य गोपियों के अहंकार को दूर करने के लिए और 'प्रसादाय' राधारानी को प्रसन्न करने के लिए भगवान् 'तत्रैवान्तरधीयत' वहीं पर उसी रासमण्डल में 'अन्तरधीयत' अन्तर्धान हो गए। "**धीङ् आधारे**" 'धीङ्' धातु का आधार अर्थ है। अर्थात् गोपियों को आधार देते हुए 'तत्रैव अधीयत' वहीं पर भगवान् 'अन्तरायां अधीयत' यहाँ 'व्यत्यय' से सप्तमी का 'अलुक' और 'अन्तरा' शब्द के 'टाप्' प्रत्यय का लोप अर्थात् वहीं पर राधारानी की साड़ी मे ही भगवान् छिप गए 'तत्रैवधीयत'। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गए, छिप गए और किसी को यह ज्ञात नहीं कहाँ छिपे हैं? वस्तुतः राधारानी को लेकर भगवान् अन्तर्धान हुए और चले गए। पहले उन्होंने उनके आँचल मे अपना मुख छिपा लिया, उनकी ओढ़नी मे छिप गए, किसी ने देखा ही नहीं और फिर दूर चले गए। इधर गोपियाँ व्याकुल हो गईं 'अन्तर्हिते भगवति' यद्यपि अन्तर्धान होने मे भी भगवान् गोपियों का अन्तः से हित कर रहे हैं, फिर भी श्रीमद्व्रजांगनायें भगवान् को न देखती हुई 'अतप्यंस्तमचक्षाणाः' अनुतप्त हो गईं। चारों ओर ढूँढ़ने लगीं। भिन्न–भिन्न क्रियाओं का चिन्तन करते–करते तदात्मिका हो गईं। उनका अनुकरण करने लगीं। और

गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।।

भागवत १०/३०/४

गोपियाँ ऊँचे स्वर मे भगवान् को गाने लगीं, सोचा कि "**मद्भक्ताः यत्र गायन्ते तत्र तिष्ठामि नारद**" जब हम गायेंगे तो कदाचित् रूक जायें। प्रभु क्यों रूकने लगे? उन्मत्त की भाँति वन से वन मे ढूँढ़ने लगीं। और आकाश की भाँति संपूर्ण प्राणियों के बाहर और भीतर

व्याप्त परमात्मा को 'वनस्पतीन्' परमात्मा के संबन्ध मे वनस्पतियों से पूछने लगीं। **''पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्''** आज गोपियाँ वनस्पतियों से पूछ रही हैं। हम कह चुके हैं कि ये गोपियाँ राधा जी की कायव्यूह हैं, राधा जी की छाया हैं और राधा जी ही श्रीरामावतार की सीता जी हैं। जैसे श्रीरामावतार की सीता जी की छाया माया सीता जी के संबन्ध मे भगवान् ने सबसे पूछा—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।।
खंजन शुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना।।
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल शरद शशि अहि भामिनी।।
बरुन पाश मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रशंसा।।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न शंक सकुच मन माहीं।।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू।।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं।।

मानस ३/३२/६ से १५

ठीक इसी प्रकार जैसे वहाँ सात पंक्तियों में भगवान् श्रीराम ने सीता जी के संबन्ध मे लताओं, वृक्षों अर्थात् जड़ पदार्थों से भी पूछा, हे खगों! हे मृगों! हे पक्षियों! हे मधुकर श्रेणियों! तुमने मृगनैनी सीता को देखा है? हे खन्जन! हे तोते! हे कपोत! हे मृग! हे मछली! मधुप! हे भ्रमरों के समूह! हे कुशल कोकिलाओं! कुन्द की कलिका, अनार, दामिनी बिजली, कमल, शरदकालीन चन्द्रमा, सर्पपत्नी, वरुण के पाश, कामदेव का धनुष, हंस, हाथी और सिंह अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं।

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं।
नेकु न शंक सकुच मन माहीं।।

मानस ३/३२/१३

श्रीफल, स्वर्ण, कदलि आदि सब प्रसन्न हो रहे हैं। क्या तुम सबने देखा है? चारों ओर भगवान् आनन्दकन्द पूछ रहे हैं और कह रहे हैं कि, कोई तो बता दे। ठीक इसी प्रकार से यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के संबन्ध में गोपियाँ पूछ रही हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रीरामावतार में सात पंक्तियों मे भगवान् श्रीराघवेन्द्र जी ने सीता जी के संबन्ध में पूछा है। ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवत् में भी सात श्लोकों में गोपियाँ श्रीकृष्ण के संबन्ध में ठीक उसी प्रकार से वृक्षों, लताओं, हरिणादि से पूछ रही हैं। गोपियों ने पहला प्रश्न किया—

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः।
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः।।

भागवत १०/३०/५

हे पीपल! हे प्लक्ष, पाकड़! हे वटवृक्ष! प्रेम और मुस्कुरान भरी चितवन से हमारे मन को चुरा कर ले गए हुए नन्दनन्दन को तुम लोगों ने देखा है? उसने नहीं बताया। कहा, नहीं बतायेंगे। ये अस्वत्थ हैं न जो कल न रह सके उसे अस्वत्थ कहते हैं, ये स्वयं चलता नहीं क्या बातयेगा कृष्ण के संबन्ध मे। प्लक्ष की आँखें सुन्दर प्रकृष्ट आँखें तो है, पर हृदय मे इसके दया नहीं है। 'न्यग्रोध' नीचे रहता है वो ऊपरी वस्तुओं को कैसे समझ सकेगा। इसके पश्चात् उन्होंने दूसरों से पूछा—

कच्चित् कुरवकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः।।

भागवत १०/३०/६

तुम लोग तो बताओ। कुरवक, अशोक, नाग, पुन्नाग, चम्पक! तुम लोगों ने क्या मानियों के अहंकार दूर करके ले गए हुए रामानुज बलराम के छोटे भ्राता कृष्ण को देखा है? ये क्यों बताने लगे, ये भी तो उनके मित्र होंगे। चलो, तुलसी से पूछते हैं, कदाचित् उसे हमारे प्रति सहानुभूति हो। भगवती तुलसी से पूछा, तुलसी! तुम तो हमारे प्रति सहानुभूत हो। तुम बताओ, **''कच्चित् तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये''** हे कल्याणी! तुमको गोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरण प्रिय हैं और तुमको अपने वक्ष पर धारण करके भ्रमरकुलों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण निश्चित कहीं छिप गए हैं। तुम बताओ न। तुलसी मौन रहीं तो गोपियों ने कहा, ये नहीं बतायेगी, इसको भी तो हमारे प्रति सौतन का भाव है। फिर कौन बताएगा? मालती तुम बताओ न, **''मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके''** तुम बताओ तुमको तो भगवान् बहुत प्रिय हैं। मालती ने भी नहीं बताया। ठीक है अब हम पहले तो विल्व आदि वृक्षों से पूछते हैं। बताओ न तुम लोग। हे आम्र! हे प्रियाल! कटहल! असन! कोविदार! जम्बूफल! मदार! वकुल! छोटे आम के वृक्ष! कदम्ब! नीप! अन्य भी यमुना जी के तट पर विराजमान परोपकारी वृक्षों हम विरहिणीयों को कन्हैया का स्थान बताओ। तुम बताओ

''चूत प्रियाल पनसासनकोविदारजम्ब्वर्क बिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्ण पदवीं रहितात्मनां नः।।

भागवत १०/३०/९

किसी से उत्तर नहीं मिल रहा है। पृथ्वी! तुम तो बहुत सौभाग्यशालिनी हो। तुमने कौन सा तप किया है जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द के स्पर्श के उत्सव से तुममें वृक्षों के बहाने से पुलक प्रतीत हो रहा है। यह इस समय का पुलक है या वराह भगवान् के आलिंगन से तुम्हें पुलकावली आई। अथवा, वामन भगवान् के चरण विन्यास से तुम पुलकित हो रही हो, सही बोलो न। दो तो पूर्व के हो चुके। अभी–अभी श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरणारविन्द तुम पर भ्रमण कर रहे हैं। उन्हीं के स्पर्श से तुम पुलकित हो रही हो। बताओ न सही–सही तुम, कहाँ गए हैं श्रीकृष्ण? चुप रहीं पृथ्वी। ये तो नहीं ही बताएगी। चलो, किसी तटस्थ महिला से पूछते हैं। हरिणियों से पूछा, सही–सही बताओ, हे हरिणपत्नी! भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया के साथ यहाँ आए और उनको तुमने भी देखा होगा। निश्चित ही जो श्रीकृष्णचन्द्र जी के शरीर को स्पर्श करके वायु आ रहा है वह श्रीराधा के अंग–संग के कारण उनके वक्ष पर लगी हुई कुम्कुम् से रंजित माला का वायु है। तुम छिपाओ मत, सत्य–सत्य बता दो। वृक्षों! तुम तो झूठ कभी नहीं बोलोगे **''बाहुं प्रियांस उपधाय''** प्रिया के स्कन्ध पर अपनी भुजा रख करके श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ से निकले अवश्य और तुम लोग झुक–झुककर उनको प्रणाम करते रहे हो। वो तुम्हारा अभिनन्दन करते ही होंगे बताओ। चलो, कोई नहीं बताता, लताओं से पूछती हैं **''पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः''** वृक्ष की शाखाओं पर चिपकी हुई लतायें, तुम लोग इतने प्रसन्न क्यों हो? निश्चित कन्हैया ने तुम्हारा स्पर्श किया है, इसलिए तुम प्रसन्न हो रही हो। इस प्रकार सभी जड़ पदार्थों से गोपियों ने पूछा। और जब किसी ने उत्तर नहीं दिया **''लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः''** तब तन्मय होकर उन्होंने भगवान् की लीलाओं का

अनुकरण किया। यहीं से लीला के अभिनय का प्रारम्भ होता है। इसके भी आचार्य गोपियाँ ही हैं। गोपियों ने अब पूतना वध से लीला प्रारम्भ किया। कोई गोपी पूतना बनी और किसी ने कृष्ण बनकर स्तनपान किया, संकेत है कि यदि आप पूतना जैसी दुष्ट महिला का उद्धार कर सकते हैं जो 'जिघांसया' आपके पास आई थी, पर हम तो आपको मारने के लिए नहीं आए हैं। हम तो पिपासे आए हैं तो आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? फिर गोपियों ने सकटासुर वध की लीला की। कोई गोपी सकट बनी और कोई कृष्ण बनकर चरण से उसे मारती है। प्रभो! सकटासुर का यदि उद्धार हो सकता है तो हमारे मन का भी तो उद्धार हो जाए। कोई गोपी श्रीबलराम बनती है कोई कृष्ण बनती है और कोई वकासुर, वत्सासुर वध की लीला करती हैं। तृणावर्त बनकर किसी ने श्रीकृष्णचन्द्र का हरण किया। उसका भी स्मरण करा दिया कि प्रभो! हम तृणावर्त के समान तो पतित नहीं हैं। तृणावर्त तो आपको आकाश मे ले गया और गोवर्धन के तलहटी मार्ग पर आपको फेंकना चाहता था। फिर भी आपने उसका उद्धार कर दिया। हम तो आपको हरण करके नहीं ले गए आप ही ने वंशी धुन की निनाद से हमको बुलाया है। प्रभो! आपने ही हमारे मन को हरण किया है। तो तृणावर्त की भी भूमिका देखी जाए तो वहाँ भी हमारा पक्ष सबल है प्रभु। कोई गोपी दावानल पान करती हुई श्रीकृष्ण बनकर कहती हैं कि मत डरो। इस लीला से भी भगवती गोपियाँ कहती हैं कि सरकार! यदि आपने दावानल से जलते हुए व्रज को बचाया तो हमको विरहानल से क्यों नहीं बचा रहे हैं? उस बार आपने दावानल पान किय था, अग्नि को पी लिया और हमको आप क्यों विरहाग्नि का पान करा रहे हैं? हम भी तो आपके व्रज मे हैं। कोई गोपी गोवर्धनलीला का अभिनय कर रही है। वस्त्र का गोवर्धन उठाती हैं, इसका संकेत है कि प्रभो! जैसे आपने इन्द्र के कोप से तहस–नहस होते हुए व्रज को बचा लिया था उसी प्रकार अब हमको भी तो बचाइए। आपके विरहानल मे हम जल रही हैं। हम तो जल जायेंगी। सबसे अन्त में उलूखल बन्धन की लीला की। संकेत किया कि हे दामोदर! अरे! माँ यशोदा ने आपको बाँधा, पर आपने बुरा नहीं माना। हाँ यशोदा ने आपको उलूखल में बाँधा, पर हम आपको उलूखल में नहीं बाँधेंगी। हमको यदि बाँधना ही होगा तो हम आपको अपने हृदय मे बाँध लेंगी। प्रभु! अब तो कृपा कीजिए। धन्य हैं श्रीव्रजांगनायें इस प्रकार अनुकरण करते–करते **''व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः''** भगवान् के चरण चिन्हों के दर्शन हो गये। और श्रीचरणचिन्हों के दर्शन के साथ–साथ थोड़ी दूर जाने के पश्चात् राधाजी के भी चरणचिन्हों के दर्शन हुए। गोपियाँ गद्‌गद् हो गईं। देखो तो सही, देखो ये क्या व्यक्तित्व है राधाजी का। सखी!

''अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः।।''

भागवत १०/३०/२८

गोपियों! **''नूनं अनया भगवान् ईश्वरः हरिः आराधितः''** निश्चित ही इनके द्वारा सर्वसमर्थ, सबके मन को चुरानेवाले षड़ैश्वर्य संपन्न भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आराधित किए गए। इन सखीवर्य ने श्रीकृष्णचन्द्र की आराधना कर ली है 'अनयाराधितः' इनके द्वारा आराधना की गई है 'यत्', क्योंकि इसलिए हमको छोड़ करके प्रसन्न होकर गोविन्द जी इनको एकान्त में ले गए। यहाँ 'राधितः' इस शब्द के प्रकरान्तर से 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति कर दी, राधा नाम भी कह डाला, **''राध्यते श्रीकृष्णः अनया इति राधा''** और वस्तुतः आगे चलकर इन्होंने 'अनया' शब्द को तृतीयान्त माना **''अकारं श्रीकृष्णचन्द्रं नयति इति अना तया अनया''** **''अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः''** और वस्तुतः यहाँ श्लेष अलंकार होगा

''राधया इतः राधितः'' भगवान् श्रीकृष्ण राधाजी के द्वारा प्राप्त कर लिए गए हैं। यहाँ 'अनया' ही के समान 'राधा' शब्द में भी तृतीया है। ''राधया इतः राधितः'' परन्तु विशेषता यह है कि तृतीयान्त 'राधया' शब्द का प्रथमान्त 'इतः' शब्द के साथ समास नहीं हुआ, प्रत्युत् तृतीया विभक्ति का ''सुषां सु लुक'' पूर्ण सर्वणाच्छे– या –डा– ड्या –याजाल'' (पा. अ. ६/१/३६) इस सूत्र से लोप हुआ और **''शकन्ध्वादित्वात् पररूप''** हुआ। यहाँ तृतीया का छन्दस् लोप करके वेदव्यास जी महाराज यह संकेत कर रहे हैं कि श्रीराधा जी का श्रीकृष्ण जी के साथ संपन्न हुआ विवाह पूर्णरूपेण वैदिक है, अशास्त्रीय नहीं। क्यों प्राप्त हुए? बोले, **''अनया राधितः''** इनके द्वारा आराधित हुए, पहले वे प्रसन्न हुए अथवा, **''राधां इतः''** फिर राधा के पास, राधा के हृदय मे प्रवेश कर लिया है भगवान् ने। ये देखो सखियों! ये देखो, धन्य हैं ये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरण मिली हुई धूलियाँ जिन्हें ब्रह्मा, शिव और साक्षात् भगवती राधाजी भी अपने विरह संताप को समाप्त करने के लिए मस्तक पर धारण करते हैं।

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनाः।।

भागवत १०/३०/३२

श्रीव्रजगोपियों ने देखा कि सखियों! देखो, क्या कारण है कि यहाँ दोनों के चरण स्पष्ट दिख रहे हैं। और

कस्याः पदानि चैतानि याताया नन्दसूनुना।
अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा।।

भागवत १०/३०/२७

नन्दनन्दन के साथ गये हुये ये चरण किसके हो सकते है 'कस्याः'? सुखस्वरूपिणी राधारानी के ही ये चरण हैं। ये देखो, अब तो ये दिख भी नही रहे हैं, केवल श्री कृष्ण के चरण दिखते हैं। मुझे तो यह लगता है कि **''खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः''** जब राधारानी के चरण थक गए होंगे तब कन्हैया ने उन्हें कन्धे पर उठा लिया होगा, बिठा लिया होगा। ये देखो, यहाँ तो श्रीकृष्ण के चरण बिल्कूल धँसे हुए दिख रहे हैं। यहाँ **''इमन्याधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम्''** वधू श्रीराधाजी को स्कन्ध पर लेकर चलते हुए श्रीकृष्ण के चरण बहुत धँसे हुए दिख रहे हैं। देखो, संसार के भारहारी प्रभु भाराक्रान्त हो गए। क्या वे कामी दिखते हैं? 'कामिनः' यहाँ श्रीकृष्ण को 'कामिनः' क्यों कहा? 'कामी' शब्द का यहाँ कामातुर अर्थ नहीं है, **''कश्च अश्च मश्च इति कामं'' ''ककारो ब्रह्मा अकारो विष्णुः मकारो महेशः तेषां समाहारः कामं, कामं अस्ति यस्मिन् इति कामी तस्य कामिनः''** अर्थात् 'क' माने ब्रह्मा 'अ' माने विष्णु और 'म' माने महेश्वर ये तीनों ही जहाँ निरन्तर विराजते हैं, जो इन तीनों के शासक हैं, वे हैं महाविष्णु श्रीकृष्णचन्द्रजी, उन्हीं को संस्कृत मे 'कामी' कहा। काम जिसके पास हो वही है कामी। ये तीनों उनके पास हैं उत्पत्ति, पालन, प्रलय, उन्हीं से होते हैं, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण को यहाँ 'कामी' कहा गया। 'वधूं वहतः' यहाँ भगवान् शुकाचार्य स्पष्ट राधाजी के लिए 'वधू' शब्द का प्रयोग करते हैं। और वधू शब्द का प्रयोग उसी महिला के लिए किया जाता है जो विवाहित हो और अपने भाई के द्वारा दी हुई लाजा की (धान के लावे की) आहुति करती हो **''वधू भ्रांतृदत्तां लाजां जुहूयात्''** इस गृह्य पारास्कर सूत्र के अनुसार राधारानी के लिए 'वधू' शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है

कि श्रीराधाजी का श्रीकृष्णचन्द्र जी के साथ विवाह हुआ और जिसको भागवत्‌कार भी मानते हैं। भाण्डीर वन मे श्रीकृष्ण के साथ राधा जी का विवाह बहुत स्पष्ट और ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रसिद्ध भी है।

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवश्यामास्तमालद्रुमै –
नक्तं भीरूरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यग्धकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।।

श्रीराधारानी का श्रीकृष्ण के साथ वैदिक रीति से विवाह हुआ। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का तत्कालीन उपनयन संस्कार और विवाह इसी संकेत से सूचित होता है जो टीकाकारों ने यह कहा कि भगवान् का 'अनुपनीत' विवाह हुआ था इस पर भी मे सहमत नहीं हूँ। भगवान् का कोई भी कार्य वेद विरूद्ध होता ही नहीं। इसलिए विवाह के पहले ब्रह्मा जी ने उनका उपनयन भी कराया और फिर विवाह कराया। यही कहना यहाँ उचित होगा कि गान्धर्व विवाह भी श्रीकृष्ण का राधाजी से नहीं हुआ, यह ब्राह्म विवाह ही है। कहा जाता है कि भाण्डीर वन में इस घटना के घटने के पूर्व एक घटना उपस्थित हुई। नन्दराय किसी भोज मे कन्हैया जी को लेकर गए हुए हैं। वहाँ राधारानी आती है। उसी समय बादलों की गड़गड़ाहट से कन्हैया जी डरने लगते हैं और कन्हैया जी की अवस्था भी उस समय तीन वर्ष की है। राधारानी उनसे दो वर्ष बड़ी अर्थात् पाँच वर्ष की हैं। श्रीकन्हैयाजी को डरते और रोते देखकर राधाजी ने एक प्रस्ताव किया नन्द बाबा से, आप आज्ञा करें तो मे इन्हें माँ यशोदा के पास पहुँचा आऊँ? नन्द बाबा ने कहा, यही करो। **"नक्तं भीरूरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय"** यह रात मे बहुत डरता है, इसको घर पहुँचा आओ। जब दोनों चले तो मार्ग मे ही भगवान् आनन्दकन्द किशोररूप में प्रकट हुए और राधारानी किशोरीरूप मे भाण्डीर वन मे दिव्य मण्डप बनाया गया। उसी समय नारदजी महाराज ने आकर पहले वैदिक विधि से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का उपनयन कराया और इसके पश्चात् राधाजी के साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी का विवाह संपन्न हुआ। इस प्रसंग में जो अन्य अनर्गल कथायें कही और सुनी जा रही हैं उनका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। श्रीराधारानी एकमात्र श्रीकृष्ण की धर्मपत्नी हैं, स्वकीया हैं, परकिया नहीं। इसलिए कहती हैं कि ये देखो, सखियों! अपनी वधू को ले जाते हुए श्रीकृष्णचन्द्र जी के चरण यहाँ धँस गए हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ज्ञान हैं, राधारानी जी भक्ति हैं, तो ज्ञान तो भक्ति का आधा है ही इसमे आपत्ति क्या है? और आगे गोपियों ने कहा देखो, यहाँ कृष्णचन्द्रजी ने राधाजी को उतार दिया है। यहाँ उनका केश प्रसाधन किया है **"कामिन्याः कामिना कृतम्"** और यहाँ वे दोनों सुन्दर यमुना पुलिन पर बैठकर परस्पर रमण करते रहे हैं, खेलते रहे हैं। **"रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः"** भगवान् आत्माराम हैं, यहाँ राधारानी के साथ प्रेम सरोवर के तट पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने रमण अर्थात विहार किया है। यहाँ **"रमु क्रीडायाम्"** स्पष्ट लिखते हैं, यद्यपि भगवान् आत्माराम हैं, आत्मा मे ही रमण करते हैं, आत्मरत हैं। उनका यत्न भी बहुत मंगलमय होता है, फिर भी वे राधारानी के साथ खेल रहे हैं, रमण कर रहे हैं। कोई किसी प्रकार की वासना नहीं। वो अखण्डित हैं, इतने मे भी वे खण्डित नहीं हुए, काम कलि नहीं, सुरतव्यापार नहीं। मैं टीकाकारों की इस वाक्य से कभी भी सहमत नहीं हूँ कि रासलीला के प्रकरण में भगवान् का 'सुरत्' हो रहा है। ऐसा नहीं है, यह तो ग्राम्यधर्म है, परमात्मा का धर्म नहीं है। परमात्मा केवल खेलते हैं **"स**

एकाकी नारमत'' रमते हैं। जैसे योगी रमता है, उसी प्रकार योगेश्वर भी रमते हैं। थोड़ी दूर चलने के पश्चात् राधा रानी दृप्त हो गईं **''ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्''** (भागवत १०/३०/३८) राधा जी दृप्त हुईं **''दृप हर्षमोहनयोः''** (पा. धा. १८६६) 'दृप' धातु का अर्थ है हर्ष। राधारानी की प्रसन्नता का कोई पारावार न रहा। गद्‌गद् हुईं राधारानी और उन्होंने कन्हैया जी से कह दिया, **''दृप्ता केशवमब्रीवत्''** कन्हैया! **''न पारयेऽहं चलितुं''** अब मे आगे नहीं चल पा रही हूँ, मेरी गति समाप्त हो गई है, क्योंकि मेरी गति तो आप ही हैं। आपको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ, क्या चलूँ? मेरे चरण आगे नहीं चल रहे हैं। कन्हैया जी ने कहा, तो भी थोड़ी दूर चलना चाहिए। कहा, ठीक है मेरी कोई गति नहीं है अब मैंने अपने को आपको समर्पित कर दिया है **''नय मां यत्र ते मन''** जहाँ आपको मन हो वहाँ ले चलिए। राधाजी के इस वचन से कन्हैया जी धर्मसंकट में पड़ गए। और राधाजी भी एक प्रकार से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी की परीक्षा ही ले रही थीं, जहाँ आपका मन है वहाँ ले चलिए। कन्हैया जी ने कहा, मेरा मन तो कहीं है नहीं और जहाँ मेरा मन है वहाँ आप चल नहीं सकतीं।

सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं।।

मानस ५/१४/७

मेरा मन तो आप में है और आप अपने में नहीं चल सकतीं। कैसे करूँ? **''एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति''** (भागवत १०/३०/३६) इस प्रकार कहने पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने प्राणप्रिया श्रीराधिकाजी से कहा ठीक है, चलो स्कन्ध पर बैठ जाते हैं। **''स्कन्धः काये प्रकाण्डे च बाहुमूलसमूहयोः''** स्कन्ध का अर्थ है, काय, शरीर, प्रकाण्ड, वृक्ष की डाल, भुजा का मूलभाग और समूह। भगवान् ने यहाँ चारों बातें कहीं। **''स्कन्ध आरुह्यतां''** एक काम करो मेरे वक्ष पर, मेरे हृदय पर ही बैठ जाओ। दूसरा मेरे **''बाहुमूल''** स्कन्धे पर चढ़ जाओ। तीसरा, वृक्ष की शाखा पर चढ़ जाते हैं। चौथा, चलो फिर सखियों के समूह मे चले चलते हैं। वस्तुतस्तु जब चारों पक्षों से राधाजी की असहमति हो गई तब भगवान् ने पाँचवा पक्ष दिया जो बहुत ही रोचक है। और यहाँ यद्यपि इस भाव को किसी टीकाकार ने नहीं कहा, पर यह मेरी व्यक्तिगत धारणा और व्यक्तिगत मेरी अनुभूति है। इसको महानुभाव अन्यथा नहीं लेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने राधा जी से कहा, **''स्कन्ध आरुह्यतां''** हे राधा जी! चलिए हम और आप इस भागवत् जी के दशम स्कन्ध मे ही आरूढ़ हो जायें, भागवत् जी के दशम स्कन्ध मे ही छिप जायें। जिनको ढूँढ़ना होगा वे हम युगल को ढूँढ़ लेंगे। ऐसा कहकर, **''ततश्चान्तर्दधे कृष्णः''** भगवान् श्रीकृष्ण और कहीं नहीं गए **''अन्तर्दधे कृष्णः''** राधा जी के हृदय मे ही जाकर छिप गए। **''सा वधूरन्वतप्यत''** लीला की दृष्टि से वधू राधाजी भी पश्चाताप करनें लगीं। और

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।।

भागवत १०/३०/४०

हे नाथ! हे रमण! हे प्रिय! हे महाभुज! हे सखे! हमे अपना दर्शन दीजिए। यहाँ भी पाँच विशेषण दिए गए हैं। श्रीराधारानी जी अर्थपंचकमय हैं, यही 'परस्वरूप' की व्याख्या है। अर्थपंचकमय राधारानी ने कहा, हे मेरे नाथ! आप मुझे अनाथ क्यों कर रहे हैं? आप रमण

हैं आपको तो रमाना चाहिए, आप भ्रमा क्यो रहे हैं? आप मेरे प्रेष्ठ हैं, अत्यन्त प्रिय हैं, अप्रिय व्यवहार क्यों कर रहे हैं? आप महाभुज हैं, आपकी भुजायें महान हैं, इस प्रकार आप छिप क्यों रहे हैं? हे सखे! आप मेरे मित्र हैं, विश्वासघात क्यों कर रहे हैं? आप 'सन्निधिं' अपने सान्निध्य को दिखाइए आप हैं कहाँ? ऐसा कह कर राधारानी मूर्च्छित हो जाती हैं। और ढूँढ़ती–ढूँढ़ती सखियाँ भी वहाँ आ जाती हैं। सखियों ने देखा श्रीराधारानी को **''ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम्''** (भागवत १०/३०/४१) पूरी बातें सुनीं। कहा, चलो अब कन्हैया को ढूँढ़ें। तब तक ढूँढ़ा जब तक चन्द्रमा की चाँदनी दिखाई पड़ती रही। किन्तु जब गह्वर वन मे जब कन्हैया ने प्रवेश कर लिया जहाँ चन्द्रमा की चाँदनी भी नहीं जा सकती, तब सखियाँ लौट आईं। श्रीराधारानी ने एक सुझाव दिया कि देखो, हम जितना ढूँढ़ेंगी उतना वो दूर चले जायेंगे और अब मार्ग बहुत घना हो चुका है। जितना दूर जायेंगे उतना उन्हें कष्ट ही तो होगा। तो अपने प्रभु को कष्ट नहीं देना चाहिए। हम उन्हें ढूँढ़ने का प्रयास न करें वे स्वयं हमको मिल जायेंगे, चलो वहीं चलते हैं जहाँ से प्रभु हमको छोड़कर गए थे। हम सब गायेंगी और भगवान् मिल जायेंगे। क्योंकि भगवान् कहते हैं कि में वैकुण्ठ में नहीं बसता एवं योगियों के हृदय में नहीं रहता मेरे भक्त जहाँ गाते हैं मैं वहीं रूक जाता हूँ हम गायेंगे तो वहाँ भगवान् निश्चित रूक जायेंगे। चलो गोपियों वहीं चलते हैं, ऐसा निर्णय करके

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः।
समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः।।

भागवत १०/३०/४५

गोपियाँ श्रीकृष्ण की भावना करती हुई फिर उसी यमुना तट पर आ गईं। समवेत होकर गाने लगीं। और अब आया प्रसंग ''श्रीगोपीगीत'' का। हमारे शास्त्रों और पूर्वाचार्यों का मानना है कि पुराणों मे सबसे श्रेष्ठ है श्रीमद्भागवतम्, भागवतम् का भी सार है दशम स्कन्ध, दशम स्कन्ध का भी सार है पूर्वार्द्ध, पूर्वार्द्ध का भी सार है रासपंचाध्यायी और रासपंचाध्यायी का भी सारभूततत्व है गोपीगीतम्। गोपीगीतम् के अठारह श्लोक कनकमंजरी छन्द मे गाये गए हैं और किन्हीं–किन्हीं आचार्यों के मत मे ललित छन्द में और किन्हीं के मत में राजहंसी और किन्हीं के मत में इन्दिरा। परन्तु वंशीधर ने कनकमंजरी छन्द ही माना है और यद्यपि नियम का सर्वत्र पालन तो नहीं किया गया, परन्तु कतिपय श्लोकों में ऐसा नियम देखा जाता है कि प्रत्येक चरण का पहला और सातवाँ अक्षर एक होता है और चारों चरणों में द्वितीय अक्षर एक ही होता है। कनकमंजरी में नगण दो, रगण एक और गुरु, एक होता है। **''कनकमंजरी न्रौ पुनर्लगौ''** अब गोपीगीत का यहाँ अति संक्षिप्त सारांश वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इसका विस्तृत वक्तव्य इसी गोपीगीत के लिए समर्पित स्वतन्त्र प्रबन्ध लेख में प्रस्तुत किया जायेगा। यद्यपि इस गोपीगीत का अपना एक वैशिष्ट्य है और इसी गोपीगीत की प्रशंसा उद्धव जी ने दशम स्कन्ध के ही ४७वें अध्याय के ६३वें श्लोक मे की है।

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।।

गोपियों का 'हरिकथोद्गीत' हरिकथा अर्थात् रासपंचाध्यायी मे आया हुआ उत्कृष्ट गीत संपूर्ण भुवनों को पवित्र कर रहा है। वो यही गोपीगीत कनकमंजरी छन्द मे बद्ध है।

यहाँ १६छन्द कहे गए हैं। गोपियाँ गा रही हैं और अपने भगवान् से कुछ वस्तुयें माँग रही हैं। ऐसा लगता है कि गोपियों ने भगवान् को षड़ैश्वर्य संपन्न मानकर ही छः वस्तुयें माँगी। छः बार माँगने की क्रिया का प्रयोग किया। और मुझे ऐसा लगता है कि गोपियों ने शरणागति की ही छहों विधाओं की फिर प्रतिज्ञा की और उन्हीं के आधार पर प्रथम याचना अनुकूलता का संकल्प, दूसरी याचना मे प्रतिकूलता का वर्जन, तीसरी याचना मे रक्षा का महाविश्वास, चौथी याचना मे रक्षक का वरण, पाँचवीं याचना मे कार्पण्य और छठी याचना मे गोपियों ने आत्मनिक्षेप अर्थात् सर्व समर्पण की इच्छा का वरदान माँगा। गोपियाँ कहती हैं–

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।

भागवत १०/३१/१

हे प्रभो! 'जयति' आपकी जय हो! और **''ते जन्मना व्रजः अधिकं जयति''** आपके जन्म से यह श्रीव्रजमण्डल सबसे श्रेष्ठ विराजमान हो रहा है। सबसे उत्कृष्ट दिख रहा है और ''अधिकं जयति के गोलोकेऽपि अधिजयति'' गोलोक की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ दिख रहा है। क्यों? ''श्रयत इन्दिरा शाश्वदत्र हि'' यहाँ निश्चय ही इन्दिरा अर्थात् लक्ष्मी 'शश्वत् श्रयते' निरन्तर सेवा करती रहती हैं। जो वैकुण्ठ की महारानी हैं वही श्रीव्रज की नौकरानी हैं। 'दयित' हे प्यारे! 'दृश्यतां' देखिए तो इस प्रकार प्रसन्न हुए व्रज मे भी 'त्वयि धृतासवः' जिन हम लोगों ने आपके लिए प्राण धारण किए हैं ''धृतासवः यैस्त्वां विचिन्वते' वे ही हम लोगों के गण 'दिक्षु' संपूर्ण दिशाओं मे आपको ढूँढ़ रहे हैं। देखिए, 'अस्माभिः दृश्यतां' अथवा, आपका हम लोग साक्षात्कार कर लें। अथवा, दृश्यतां एक बार अनुभव तो कीजिए। वस्तुतस्तु 'त्वयि धृतासवस्त्वां दृश्यतां विचिन्वते' जिन्होंने आपमे प्राण धारण किए हैं, ऐसे हम सखियों के गण आपसे दृश्यता की याचना कर रहे हैं। 'विचिन्वते याचन्ते' हम चाह रहे हैं कि एक बार आप दृश्य हो जाइये। 'दृश्यतां' निहारिए हमको, 'दृश्यतां' आविर्भूत होइए और 'दृश्यतां' एक बार ऐसा आप जान लीजिए, और वस्तुतः 'दयित दृश्यतां त्वां विचिन्वते' आपकी सुन्दर दृश्यता के लिए हम याचना कर रहे हैं, एक बार दृश्य हो जाइए। एक बार हमें दिखाई पड़ जाइए। क्यों? भगवान् कहते हैं, इससे क्या लेना–देना? कहा, इसलिए कि आपके नेत्र बड़े प्यारे हैं। इतने प्यारे हैं कि शरद्काल में निर्मल जलाशय के बीच उत्पन्न हुए सुन्दर कमल की शोभा को भी जिस आपकी दृष्टि ने चुराया है, उसी दृष्टि से अशुल्क दासिका, बिना मोल की क्रीत दासियों का वध करते हुए क्या आपको स्त्रीवध का पाप नहीं लग रहा है? हे प्रभो! हे सुरतनाथ! हे वरद! क्या वध ही वध होता है? क्या शस्त्र से मारना ही वध होता है? दृश्य से वध करने पर हत्या नहीं लगती? अर्थात् आपके नेत्र इतने सुन्दर हैं उनसे हमनें वध की अपेक्षा नहीं की थी। हमें यह आश नहीं थी कि इनसे भी किसी की हत्या की जा सकती है। और आप नारियों की हत्या इनसे करते हैं।

''शरदुदाशये साधुजातसत् सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः।।''

भागवत १०/३१/२

आप सुरतनाथ हैं। हे सुरतनाथ! सुरतनाथ माने **''शोभनं रतं रतिः यासां एषां ते सुरताः''** आपके चरणों मे जिनकी सुन्दर रति है 'तेषां नाथः' उनके आप नाथ हैं। अथवा, **''सुरतं भोगवासनां नाथते उपतापयति इति सुरतनाथः''** जो भक्तों की भोगवासना को नष्ट

कर देते हैं उन्हें सुरतनाथ कहते हैं। हे वरद! वरदान देनेवाले आप तो संसार के ग्राम्यधर्म को नष्ट करनेवाले हैं, प्रभो! हम आपके यहाँ सुरत्व की दृष्टि से नहीं आयी हैं, भोग की दृष्टि से नहीं आयी हैं, हम आपसे काम अर्थात् अपनी वासना की पूर्ति नहीं चाहते। आपके चरण तो उपासना की पूर्ति के लिए है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, इसमे मेरा क्या दोष है? फिर गोपियाँ कहती हैं

विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतो भयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः।।

भागवत १०/३१/३

हे ऋषभ! हे श्रेष्ठ! लगता है अब आप ऋषभ अवतार की भूमिका निभा रहे हैं। जैसे ऋषभदेव सबसे उदासीन रहा करते हैं, उसी प्रकार आप उदासीन रह रहे हैं। यदि आपको हमे मारना ही था तो ये बताइए 'विषजलाप्ययात्' कालिय के विषमय जल के आतंक से आपने हमें क्यों बचाया? सर्प बना अघासुर पूरे व्रजमण्डल को निगल रहा था, फिर आपने क्यों बचा लिया? इन्द्र की वर्षा से और वायु से आपने क्यों बचा लिया? इन्द्र के विद्युत संबन्धी वज्रपात से और अनल माने दावानल से आपने हमें क्यों बचाया? और 'वृषमयात्मजात्' वृषासुर और मय के पुत्र व्योमासुर से आपने हमें क्यों बचा लिया? हमें मरने देते। तो यदि आपने इन सबसे बचाया है तो काम नामक राक्षस से भी आप हमको बचा लीजिए और ऐसा कुछ कीजिए **"अस्माभिः भवान् दृश्यतां"** हम आपको एक बार देख लें। 'दृश्यतां' आप प्रकट हो जाइए, आविर्भूत हो जाइए। 'दृश्यतां' आप दिखायी पड़ जाइए। भगवान् कहते हैं, हमे बहुत मत सताओ। गोपियाँ कहती हैं, आप सताने की बात कहते हैं, अब तो हम आपको गारी देंगी।

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले।।

भागवत १०/३१/४

हे प्रभो! 'भवान् गोपिकानन्दनः न खलु' आप केवल गोपिकानन्दन नहीं हैं। आप यशोदा के ही पुत्र नहीं हैं। आप तो 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' संपूर्ण जीवात्माओं के अन्तरात्मा भी हैं और 'दृक्' माने साक्षी भी हैं। हे सखे! हे मित्र! 'विश्वगुप्तये' संसार की रक्षा के लिए 'विखनसा प्रार्थितः' विखना माने ब्रह्मा जी के द्वारा प्राथित होकर ब्रह्मा जी की प्रार्थना पर आप 'सात्वतां कुले उदेयिवान्' यदुवंश मे आप उदित हुए हैं। अथवा, सखियाँ यहाँ गारियाती हैं, कहती हैं 'भवान् गोपिकानन्दन न खलु' आप लगता है गोपिका के नन्दन नहीं हैं। यदि होते तो हम गोपिकाओं पर भी आपका प्रेम होता। आप 'अखिलदेहिनां अन्तरात्मदृक् न' संपूर्ण जीवात्माओं के आप अन्तर्यामी भी नहीं हैं नहीं तो आपको थोड़ी सी भी तो दया लगती। फिर 'विश्वगुप्तये विखनसार्थितः सात्वतां कुले न उदेयिवान्' आप ब्रह्मा जी की प्रार्थना पर संसार की रक्षा के लिए यदुवंश मे नहीं उत्पन्न हुए। तो भगवान् ने कहा, तो मे हूँ कौन? 'स भवान् खे उदेयिवान्' लगता है कि आप आकाश मे उत्पन्न हुए हैं। शून्यवादियों के शून्यब्रह्म हैं आप। इसलिए कृपा कीजिए।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात्।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्।।

भागवत १०/३१/५

प्रभो! अब हम दूसरी प्रकार की याचना आपसे करती हैं। अनुकूलता का तो संकल्प हो गया अब प्रतिकूलता के वर्जन की याचना हम कर रही हैं। प्रभो! आपका यह करकमल कितना प्यारा है। हे वृष्णिधुर्य! हे चन्द्रवंश के धुरन्धर प्रभो! आप वृष्णिवंश के धुर्य हैं, वृष्णिवंश की धुरि को धारण करते हैं। जो आपके चरणों को प्राप्त कर चुके हैं उनके लिए आपके करकमल ने संसार से अभयदान की रचना की है। 'विरचितं अभयं येन तत् विरचिताभयं' आपके श्रीचरणों के सेवकों के लिए जिन्होंने संसार सागर से अभयदान दिया है और श्री जी का पाणिग्रहण किया है। और ''कान्त कामदं'' जिन्होंने श्रीचित्रकूट के कामदगिरि को भी सुशोभित कर दिया है 'कान्तः कामदः येन स तं' ऐसे अपने करकमल को हमारे शिर पर धारण कर दीजिए। हमारे शिर पर रख दीजिए, जिससे हम अभय हो जायें। जैसा कि श्री विनय पत्रिका में श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज भी भगवान् रघुनाथ जी से प्रार्थना करते हैं।

कबहुँ सो कर – सरोज रघुनायक धरिहौ, नाथ! सिस मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।।
जेहि कर – कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक – संसय मेट्यो।
जेहि कर – कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।।
जेहि कर – कमल कृपालु गीध कहँ पिंडोदक दै धाम दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास – हित कपिकुल – पति सुग्रीव कियो।।
आयो सरन सभीत विभीषण, जेहि कर – कमल तिलक किन्हों।
जेहि कर गहि सर – चाप असुर हति अभयदान देवन दीन्हों।।
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप, ताप, माया।
निसी – बासर तेहि कर – सरोज की चाहत तुलसीदास छाया।।

विनय पत्रिका १३८

गोपियाँ फिर तीसरी प्रार्थना मे कहती हैं कि प्रभो!

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय।।

भागवत १०/३१/६

हे वीर! आप व्रजजनों के विपत्ति को दूर करनेवाले हैं और 'निजजनस्मयध्वंसनस्मित' आपकी मुस्कुरान आपके भक्तों के अहंकार को दूर कर देती है। इसलिए हे सखे! हम किंकरियों को स्वीकार कर लीजिए। और ''**नो योषिता जलरुहाननं दर्शय**'' हम नारियों को अपना सुन्दर कमलवत् मुख दिखा दीजिए। प्रथम याचना की, आप ईश्वर हैं, इसलिए 'दृश्यतां'। आपमे अखण्ड धर्म है, इसलिए अपना करकमल हमारे शिर पर रखिये। आप यशस्वी हैं इसीलिए अपने मुखारविन्द को दिखाइए। यही है शरणागति ''**रक्षिष्यतीति विश्वासः**''। आप चिन्ता क्यों करते हैं? और चौथी याचना बड़ी सुन्दर है जिसमें गोपियाँ रक्षकत्व का वरण करती हैं, और चतुर्थ भग 'श्री' के अनुसार अपने वक्षोरूहों पर भगवान् के श्रीचरणकमल पधराने की प्रार्थना करती हैं।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्।।

भागवत १०/३१/७

हे प्रभो! आप अपने श्रीचरणकमल को हमारे वक्षोरूहों पर रख दीजिए। भगवान् ने कहा, पाप लगेगा तो? कहा, नहीं 'प्रणतदेहिनां पापकर्शनं' आपके श्रीचरणकमल तो प्रणत् प्राणियों के पाप को दूर करते रहते हैं पाप कैसे लगेगा? भगवान् ने कहा, आपके स्तन बहुत कर्कश होंगे वे मुझे कष्ट देंगे। गोपियों ने कहा, 'तृणचरानुगं' आपके चरण तो तृणचरों के पीछे–पीछे वृन्दावन की पगडंडियों मे चलते हैं उससे कठोर तो हमारे वक्षोरूह नहीं होंगे। भगवान् ने कहा, आपने सुन्दर भूषण वस्त्र धारण किए होंगे और हमारे चरणों के रखने से उसकी शोभा समाप्त हो जाएगी। कहा, नहीं 'श्रीनिकेतनम्' आपके श्रीचरण तो श्रीनिकेतन हैं, लक्ष्मी जी के भी निवासस्थान हैं। उनसे हमारे वक्षोरूहों की शोभा घटेगी नहीं प्रत्युत् बढ़ेगी। भगवान् ने कहा कि, आपके कंचुकों से हमे डर लगता है। कहा, नहीं 'फणिफणार्पितं' जब आपके चरण फणि, कालिय नाग के फण पर नाचे थे, वहाँ नहीं डरे तो यहाँ कैसे डरेंगे? आपने श्रीरामावतार में चरण रखा अहल्या के शिर पर, पुनः इसी अवतार में चरण रखा पूतना के उर पर, अभी थोड़े ही दिन पहले चरण रखा कालीय के फन पर। तो अब गोपियों के स्तन पर चरण रखने में क्यों डर रहे हैं? इसलिए हे प्रभो! आप अपने चरणों को हमारे दोनों वक्षोरूहों पर रख दीजिए, काम को नष्ट कर दीजिए। आपके चरण मे रहनेवाली अंकुश की रेखा हमारे मन मतंग को नियंत्रित कर ले। हमारे काम मतंग को नियंत्रित कर ले। यही है गोपियों का 'गोतृत्व' वरण। अब गोपियों की कार्पण्यरूपप ंचम प्रार्थना। भगवान् ने कहा कि इतना कष्ट आप क्यों हमें देंगी? कहा नहीं हम आपकी किङ्करियाँ हैं, सबको आप चरणामृत देते हैं हमको आप अधरामृत दीजिए।

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः।।

भागवत १०/३१/८

हे वीर! आपके 'वल्गुवाक्यया' **''वल्गुनि वाक्यानि यस्यां सा तया''** सुन्दर वाक्यों वाली, विद्वानों को मनोज्ञ लगनेवाली ऐसी 'मधुरया गिरा' मधुर वाणी से मोहित होती हुई हम विधिकरी सेविकाओं को अपने अधरसीधु से, अधरामृत से आप्यायित कर दीजिए, कृतकृत्य कर दीजिए, पूर्ण कर दीजिए, जीवित कर दीजिए। यही है गोपियों का कार्पण्य, और यही है ज्ञान, भग के आधार पर भगवान् से अधरामृत की याचना। क्योंकि व्रजांगनायें कहती हैं कि हम विद्वन्मनोहारिणी आपकी वाणी से मोहित हो चुकी हैं। अप कमलनेत्र हैं और लोगों को चरणामृत देते हैं, हमें अधरामृत दीजिए, यही है ज्ञानामृत। भगवान् ने कहा कि इतना बड़ा दान मे क्यों दूँ? गोपियों ने कहा कि प्रभो! जब आपके कथावाचक इतने उदार होते हैं तो आप उदार क्यों नहीं हो रहे हैं?

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।

भागवत १०/३१/९

आपकी कथा अमृत है, आपकी कथा तप्तजनों के लिए जीवन है। आपकी कथा का मनीषियों ने बहुत बखान किया है। अपकी कथा कल्मषों को, संपूर्ण पापों को नष्ट

करनेवाली है। आपकी कथा श्रवण करने मात्र से मंगल दे देती है। आपकी कथा मे भक्तिरूप श्री विराजती हैं। ऐसी संसार में व्याप्त आपकी कथा को जो लोग कहते हैं वो बहुत कुछ दे रहे हैं, इसलिए कृपा कीजिए। क्यों?

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमंगलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि।।

भागवत १०/३१/१०

आपका सुन्दर प्रहसन से युक्त प्रेम भरा निहारना, ध्यान में मंगल करनेवाला आपका विहार एकान्त में हृदय को छूनेवाली मधुर–मधुर वार्त्तायें ये सब हमारे मन को क्षुब्ध कर रहे हैं। प्रभो! अब कृपा हो। भगवान् ने कहा कि आप इतना हमसे कलह क्यों कर रही हैं? हमको अपने आनन्द मे रहने दीजिए। कहा, नहीं हम नहीं कलह कर रहे हैं। आपके श्रीचरणों को निहारकर ही हमको आपसे झगड़ा करने का मन हो रहा है।

चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति।।

भागवत १०/३१/११

हे नाथ! हे हमारे ईश्वर! हे कान्त! हे समस्त सुखों की सीमा! जब आप नन्दनन्दन प्रभु गौओं को चराने के लिए, यहाँ 'चारयन्' मे हेतु मे 'शतृ' प्रत्यय हुआ **''लक्षणहेत्वोः क्रियायाः''** (पा. अ. ३/२/१२६) जब आप गौओं को चराने के लिए श्रीव्रज मे चलते हैं तो नवीन कमल को भी जहाँ से सुन्दरता मिली है, ऐसे आपके श्रीचरणकमल कटी हुई फसलों के खूँटियों, तृणों और अँकुरों से कष्ट पाते होंगे, छिलते होंगे इस प्रकार का चिन्तन करके हमारा मन कलिलता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् करुणा के दलदल मे फंस जाता है और कलह करने का मन करता है। ''इस प्रकार कलह मत करो, जाओ भजन करो, किसने कहा?'' गोपियाँ कहती हैं, कलह के मूल आप हैं। क्यों? बोलीं–

दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम्।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि।।

भागवत १०/३१/१२

जब दिन समाप्त होने लगता है तब, नीले–नीले, कुटिल–कुटिल, नवल–नवल, दिव्य–दिव्य, भव्य–भव्य, नव्य–नव्य, कोटि–कोटि मधुप की पंक्तियों को तिरस्कृत करनेवाले सुन्दर घुँघराले–घुँघराले बालों से ढ़के हुए, ऐसे अपने गोधूली से धूसर अपने नवकमल के समान सुन्दर परम पावन पाटल पराग से मण्डित आप अपने मुखारविन्द को दिखलाते हुए हमारे मन में स्मरणात्मक काम को उत्पन्न कर देते हैं। अर्थात् हमारे मन की सोई हुई सेवा कामना को आप फिर जगा रहे हैं, तो गलती आपकी है हमारी नहीं। भगवान् ने कहा, तो फिर आप चाहती क्या हैं? कहा, हम एक ही बात चाहती हैं–

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन्।।

भागवत १०/३१/१३

हे प्रभो! हे हमारे रमण! 'रमयतीति रमणः' हमको रमानेवाले प्रभो! हे आधिहन्! भक्तों की मनोव्यथा को हरनेवाले श्यामसुन्दर, हे योगियों के ध्येय! प्रणतों के, प्रणतजनों की समस्त कामनाओं को देनेवाले! अथवा, प्रणतजनों के मन के संसार की वासनात्मक काम को नष्ट कर देनेवाले! **''प्रणतजनानां कामं ददाति''** अथवा **''प्रणतजनानां कामं द्यति खण्डयति इति प्रणतकामदस्तं प्रणतकामदं''**। और 'पद्मजार्चितं' पद्मज याने ब्रह्मा जी के द्वारा पूजित और पद्मजा लक्ष्मी जी के द्वारा पूजित 'धरणिमण्डनं' पृथ्वी के आभूषणस्वरूप! 'ध्येयमापदि' विपत्ति मे जिनका ध्यान किया जा सकता है, ऐसे कल्याणकारी आपके श्रीचरणकमल को आप हमारे स्तनों अर्थात् वक्षोरूहों पर रख दीजिए। और हमारी मनोव्यथा को समाप्त कर दीजिए प्रभु। भगवान् ने कहा, और कुछ नई वस्तु क्या चाहती हो? गोपियों ने कहा कि हम चाहती हैं, सबको तो आप चरणामृत देते हैं हमको अधरामृत दे दीजिए। कैसा अधरामृत?

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्।।
भागवत १०/३१/१४

हे वीर! आप हमको अधरामृत का वितरण कीजिए, चरणामृत का नहीं। अधर का अमृत अथवा, **''न विद्यते धरा यस्मिन् तत् अधरं, तदेव अमृतं''** अथवा **''अधरं तिरष्कृतं अमृतं येन तत् अधरामृतम्''** हे प्रभो! **''सुरतं वर्धयति नाशयति इति सुरतवर्धनः''** हम कह चुके हैं कि 'वर्धन' शब्द का यहाँ नाश मे तात्पर्य है। जो संसार के भोगवासना को नष्ट कर देता है, पाप को नष्ट करता है, जो स्वरयुक्त वेणु के द्वारा पूर्णरूप से चुम्बित है। चुपके–चुपके नहीं, चिल्ला–चिल्लाकर वेणु ने जिसका चुम्बन किया है, जो मनुष्य के अन्य रागों को भुला देता है। हे वीर! 'वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्' हमको इस प्रकार के अधरामृत का वितरण तुम स्वीकारो, हमे वितरित करो। भगवान् कहते हैं, इतनी उत्सुकता क्यों? गोपियों ने कहा–

अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्।।
भागवत १०/३१/१५

हे प्रभो! जब आप दिन में गाय चराने के लिए वन में भ्रमण करते हैं तो आपको 'अपश्यताम्' आपको न देखते हुए 'अस्माकं गोपीजनानां' हम गोपीजनों के लिए एक त्रुटि (पलक का गिरना) युग बन जाती है। और **''कुटिल कुन्तलं श्रीमुखं च ते उदीक्ष्यतां पक्ष्मकृद् अजड़ः''** और कुटिल–कुटिल कुन्तलों से युक्त आपके श्रीमुखारविन्द को यदि हम देखने लगते हैं तो पलक गिरने पर लगता है, **''दृशां पक्ष्मकृद् जड़ः''** नेत्रों के पलक को बनानेवाले ब्रह्मा जड़ हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। फिर 'कुटिल कुन्तलं श्रीमुखं च ते उदीक्ष्यतां' फिर यदि मान लो आपके श्रीमुखारविन्द का दर्शन हो जाए तब तो दर्शन करने मे 'दृशां पक्ष्मकृद् अजड़ः' यदि नेत्रों के पक्षों को ब्रह्मा काट लेते तब उनको हम अजड़ मान लेते। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, अब तुम्हारा मन्तव्य क्या है? तब कहती हैं–

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्‌गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि।।

भागवत १०/३१/१६

हे अच्युत! पति, उनके पुत्र, भाई, बान्धव, सबको छोड़कर और आपकी गति को जानती हुई भी आपके गीत से मोहित हुई हम आपके निकट आ गई हैं। हे कपटी! अरे रात्रि में आपके अतिरिक्त कौन महिलाओं का त्याग कर सकता है? अथवा, रात्रि मे 'कितवः' कपटी महिलाओं का भी त्याग नहीं किया जा सकता। भगवान् ने कहा, गोपियों! तुम सब मुझसे निस्पृह हो जाओ। अब गोपियों ने कहा, प्रभो! हमारे मन में बहुत स्पृहा हो रही है। क्यों? गोपियों ने कहा–

रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसितानन‌ं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः।।

भागवत १०/३१/१७

आपके मधुर–मधुर वार्त्तालाप जो कि मन मे आप से मिलन की कामना को उत्पन्न कर देता है, आपका 'प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणं' प्रहसन से भरा हुआ मुखारविन्द, प्रेम से भरी हुई चितवन और श्री जी के निवासस्थान रूप विशाल आपके हृदय को देखकर 'मुहुरतिस्पृहा' बार–बार देखकर अत्यन्त स्पृहा के साथ आज हमारा मन मोहित हो रहा है प्रभु। भगवान् ने कहा, तो आप क्या चाहती हैं? अब गोपियाँ छठी प्रार्थना करती हुईं 'आत्मनिक्षेप' के भाव से कहती हैं, कुछ दे दीजिए।

व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमंगलम्।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम्।।

भागवत १०/३१/१८

हे मदनमोहन! आपका जन्म, व्रजवासियों और वनवासियों के लिए, 'वृजिनहन्त्र्यलं' विपत्ति को नष्ट करनेवाला उपाय और 'विश्वमंगलम्' विश्व का मंगल है। हे मित्र! **''त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां''** जिनके आत्मा मे आपके लिए स्पृहा है, ऐसे आप हम लोगों के लिए थोड़ा सा वह प्रसाद दीजिए जो स्वजनों के हृदय के रोगों को नष्ट कर सके। इतना कहते–कहते गोपियाँ भावुक हो गईं और बोलीं–

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।।

भागवत १०/३१/१९

हे प्रभो! जो आपके श्रीचरणकमलों को हम डर–डर कर अपने कर्कश कठोर वक्षोरूहों पर रखती हैं, उसी चरणकमल से आप वृन्दावन की कठोर पगडण्डियों मे घूम रहे हैं। क्या उन्हें कष्ट नहीं होता होगा? इसकी कल्पना करके हमारी बुद्धि मोहित हो जा रही है। क्यों? क्योंकि **''भवदायुषां नः''** **''भवान् आयुः यासां तास्तासां''** आप ही हमारे आयु हैं। अथवा, **''भवति आयूंषि यासां''** आपमे हमारा आयु है, इसलिए आयुष्य की रक्षा कीजिए और अब करुणा करके दर्शन दीजिए। इस प्रकार गोपियों ने १९श्लोकों मे अपने श्यामसुन्दर को

गाया और दर्शन कृपा प्राप्त कर लिया। श्रीमद्व्रजांगनाओं ने इस प्रसंग मे भगवान् से छः वस्तुयें माँगी, "**दृश्यतां, करसरोरुहं नः शिरसि धेहि, जलरुहाननं दर्शय, ते पदाम्बुजं नः कुचेषु कृणु, अधरसीधुना नः आप्यायस्व, हृच्छयं कृन्धि** और पुनः **यत् स्वजनहृद्रुजां निषूदनं तत् मनाक् नः त्यज**" अर्थात् हे प्रभो! आप हमे दर्शन दीजिए, ईश्वर के दर्शनों का अधिकार है। भक्त भगवान् को देखता है, इससे आप हमे दर्शन दीजिए। अपने ऐश्वर्य से भगवान् प्रश्न कर सकते हैं कि हमको तो लोग निराकार कहते हैं, मैं कैसे दर्शन दूँ? इसका गोपियाँ स्पष्ट उत्तर दे रही हैं, आप ईश्वर हैं और ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' समर्थ होता है, इसलिए हमे दर्शन दीजिए। "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**" आप में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँचों क्लेश नहीं है। आप कर्म के परिणामों से बँधे हुए नहीं हैं। आपका संस्कार कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते, आप विशेष पुरुष हैं, सामान्य पुरुष नहीं हैं। और पुरुष का अर्थ होता है जो अत्यन्त दानशील होता है "**पुरु अधिकं शनोतीति पुरुषः**" इसलिए आप दर्शन दीजिए। भगवान् कह सकते हैं कि हमको तो लोग निराकार कहते हैं। कहा, नहीं, 'निराकार' का अर्थ क्या होता है "**निरुपमा आकाराः यस्य सः निराकारः**" जिसके आकार की कोई उपमा न हो उसे निराकार कहते हैं। आपके आकार की कोई उपमा नहीं है, "**निशेषाः आकाराः यस्य**" संपूर्ण आकार जिनके हैं उसे कहते हैं निराकार। "**निर्गताः आकाराः यस्मात्**" यह संसार का आकार जिससे निकला है वह है निराकार। "**निरन्तराः आकाराः यस्य स निराकारः**" जिसके आकारों में बाहर भीतर का कोई अन्तर नहीं है वह है निराकार। और वस्तुतः आपको निराकार इसलिए कहते हैं "**आकारात् स्तंभादिकात् निर्गतः निष्क्रान्त इति निराकारः**" प्रह्लाद की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए खम्भे को फाड़कर जो प्रकट हो गया वह निराकर है। इसलिए प्रभो! आपको किसी ने 'अनाकार' नहीं कहा। यदि आपके पास आकार नहीं होता तब आपको 'अनाकार' कहा जाता। जैसे न उचित को अनुचित कहा जाता है, निरुचित नहीं कहा जाता। न उपयुक्त को अनुपयुक्त कहा जाता है निरुपयुक्त नहीं कहा जाता। न आवश्यक को अनावश्यक कहा जाता है, क्योंकि "**तस्मान्नुड़चि**" (पा.अ.६/३/७४) अच के परे रहने पर नुट् का आगम हो जाता है। तो यहाँ भी तो अनाकार कहना चाहिए था आपके संबन्ध मे, पर आपको निराकार कहा जाता है। इसलिए निश्चित है कि आपके लिए आकार का निषेध नहीं है "**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**" इसलिए आप हमे दर्शन दीजिए। और आप तो समग्र धर्म के आश्रय हैं, उस धर्म के आधार पर आप हमको अभयदान दीजिए। दान देना सबसे बड़ा धर्म है और आप यशस्वी हैं, इसलिए अपने मुखारविन्द का दर्शन कराइए। आप श्रीमान हैं, इसलिए अपने चरणकमल को हमारे वक्ष पर रखिए। क्यों? हम आपका इतिहास जानते हैं "**फणिफणार्पितं**" यदि श्रीरामावतार मे आप अहल्या के शिर पर चरण रख सकते हैं, इसी श्रीकृष्णावतार मे पूतना के ऊर पर चरण रख सकते हैं, इसी श्रीकृष्णावतार मे कालिय के फण पर भी चरण रख सकते हैं, तो आज गोपिकाओं के स्तन पर चरण रखने मे आपत्ति क्या है? आप अखण्डज्ञानसंपन्न हैं 'कृन्धि हृच्छियम्' हमारे हृदय मे सोनेवाले काम को काट कर फेंक दीजिए, क्योंकि वह अज्ञानजनक है, अज्ञानजनित् भी है और आपके पास नित्यज्ञान है। आपका ज्ञान उस काम से नहीं ढ़कता। जीव का ज्ञान तो "**आवृतं ज्ञानमेतेन**

ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'' (गीता ३/३६)। हम फिर कहते हैं आप अधरामृत प्रदान कीजिए, अमृत दीजिए। अमृत? हाँ, अमृत का दान कीजिए। क्यों? इसलिए सबको आप चरणामृत देते हैं आप हमको अधरामृत दीजिए 'वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्'। और अन्ततोगत्वा वस्तुतः सातवाँ वाक्य जो है, वो सबका पुनरावर्तन है। कुछ दान कीजिए जो हमने छहों मे कहा। छः बात हमनें कही, दर्शन, करकमल का शिर पर आधान, कमलमुख का दर्शन और वक्षोरूहों पर चरणकमल का अर्पण। काम का कर्तन और अधरामृत प्रदान। इनमें से जो भी आपके भक्तों के हृदय के रोग का नाश करे वही छः मे से एक भी दे दीजिए। इस प्रकार गोपीगीत की परिणति बहुत करुणा के वातावरण मे हो रही है।

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।।
भागवत १०/३१/१६

।। छठा पुष्प सम्पन्न।।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम,
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम,
राधेश्याम जय राधेश्याम राधेश्याम जय राधेश्याम

।। अथ सप्तम पुष्प प्रारम्भ।।

नृत्यन्मत्तमयूरिकापतिपतद्वर्हार्हमौलिं लस –
च्छ्रीवत्सं जनवत्सलं नवघनश्यामं विरामं द्विषाम्।
कन्दर्पामितसुन्दरं नटवरं वृन्दावनि भूषणं
श्रीराधामुखकंजमंजुमधुपं तापिच्छनीलं श्रये।।

इतना सुनते ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपने को रोक नहीं पाए।

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः।।

भागवत १०/३२/१

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से युक्त होकर गोपियाँ सुन्दर स्वर मे रोईं। शुकाचार्य कहते हैं कि गोपियों का रुदन इतना करुण था कि हम उसे देख नहीं पाये। इसलिए हमारे परोक्ष 'परोक्षे लिट्' (पा. अ. ३/२/११५) हमारी आँखे बन्द हो गई। तब तक भगवान् प्रकट हुए।

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।।

भागवत १०/३२/२

गोपियों के गीत से ही भगवान् प्रकट हो रहे हैं। **"शौरिः शूरस्य गोत्रापत्यं पुमान् शौरिः"** शूर अर्थात् शूरसेन के गोत्र मे उत्पन्न होने के कारण, शूरसेन के गोत्रापत्य होने के कारण नाती होने के कारण, पौत्र होने के कारण भगवान् को 'शौरि' कह रहे हैं। वसुदेवनन्दन और शूरसेन के पौत्र श्रीकृष्ण प्रकट हो रहे हैं। 'शूरस्य गोत्रापत्यं' ये भी स्वयं शूर हैं, काम विजय कर लिया है, काम को जीत लिया है भगवान् ने। प्रकट हो रहे हैं 'स्मयमानमुखाम्बुजः' उनके मुखारविन्द पर हँसी है, काम के विजय का एक आनन्द है 'पीताम्बरधरः' वो भी पीताम्बर धारण किए हुए हैं। अथवा, 'पीताम्बरधरः' वस्तुतः यहाँ 'पीताम्बरः' कहने से भी काम चल सकता था **"पीतं अम्बरं यस्य स पीताम्बरः"** फिर 'पीताम्बरधरः' क्यों कहा गया? क्योंकि भाष्य का सिद्धान्त है **"न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चे त्तदर्थप्रतिपत्तिकरः"** यदि बहुव्रीहि से अभिप्सित अर्थ निकल रहा हो तो कर्मधारय से मत्वर्थीय नहीं करना चाहिए। यहाँ 'मत्वर्थीय' शब्द अन्य विधान का भी उपलक्षण है, अर्थात् कर्मधारय के पश्यात् कोई भी विधान नहीं करना चाहिए। यहाँ **"पीतं च तत् अम्बरं पीताम्बरं पीताम्बरं धरतीति पीताम्बरधरः"** यही कहा गया। मत्वर्थीय तो नहीं पर अतिरिक्त पद की कल्पना कर रहे हैं बहुव्रीहि करके। **"पीतं अम्बरं यस्य"** कह करके भी अभिप्सित अर्थ की प्रतीति की जा सकती थी। यहाँ 'पीताम्बरं धरति' का एक मधुर तात्पर्य है। वस्तुतः भगवान् पीताम्बर नहीं धारण कर रहे हैं। पीताम्बर तो धारण कर रहे थे, परन्तु एक अर्थ और था **"पीता पीतवर्णा राधा तस्याः अंलचलाम्बरं धरतीति पीताम्बरधरः"** चम्पक के समान पीले वर्णवाली भगवती राधारानी के आँचल को धारण करके भगवान प्रकट हुए। मानो राधारानी जी के आँचल की शपथ ली, अब मैं कभी तिरोहित नहीं होऊँगा। अब मैं कभी तुम लोगों से छिपूँगा नहीं, अन्तर्धान नहीं होऊँगा। 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' आज भगवान् मन्मथ

के भी मन्मथ हैं। कामदेव भी मोहित हो गया है उन पर। **'मनः मथ्नातीति मन्मथः'** **''पृषोदरादित्वात्''** मनस् शब्द के अस् का लोप हुआ। मन्मथ के भी भगवान् मन्मथ हैं। कामदेव को भी भगवान् ने मोहित किया है। इस प्रकार भगवान् गोपियों के समक्ष प्रकट हो रहे हैं। यह श्लोक भगवद् दर्शन का मन्त्र है, पूर्वाचार्यों एवं महात्माओं के मत में इससे संपुटित भागवत पाठ करने पर भगवान् के दर्शन हो ही जाते हैं। मेरा भी यही अनुभव और विश्वास है। गोपियाँ देखती हैं, **''तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं''** प्रभु को देखा आया हुआ। कहाँ से आए ये किसी ने नहीं देखा। अबलाओं के नेत्र प्रेम से उत्फुल्ल हो उठे। एक साथ सब लोग उठीं, सबने प्रभु को देखा, **''काचित् कराम्बुजं शौरेः''** किसी ने प्रभु का हाथ पकड़ लिया, किसी ने उनके चरण को अपने स्तन पर रख लिया, किसी ने उनका ताम्बूल 'चर्वित' अपने हाथ से स्वीकार कर लिया। कोई उन्हें **''एका भ्रुकुटिमारभ्य''** कोई उन्हें वक्र भ्रुकुटि करके, क्रुद्ध होकर और प्रणय कोप भरी प्रेमसंरम्भ से विह्वल होकर अपने कटाक्ष से मारती हुई और अपने होंठ को चबाती हुई निहारने लगी। कोई व्रजांगना निर्निमेष नयनों से भगवान् के मुखारविन्द को निहारने लगी।

तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्द सम्प्लुता।।

भा. १०/३२/८

कोई व्रजांगना भगवान् श्रीकृष्ण को अपने नेत्र के मार्ग से हृदय मे ले आकर और नेत्र को बन्द करके तथा उनका आलिंगन करके उसी प्रकार पुलकाङ्ग से पूर्ण हो गई मानो योगी ने अपने परमात्मा को प्राप्त कर लिया। यहाँ वह काचित् और कोई नहीं है राधारानी हैं **''कं भक्तिसुखं आदरेण चिनोति इति काचित् राधा''** और वही हैं श्रीरामचरितमानस जी की भगवती सीता। यह श्लोक भागवत् जी के ३२वें अध्याय का ८वाँ है और इसी संबन्ध मे श्रीरामचरितमानस के बालकाण्ड के दोहा क्रमांक २३२ की सातवीं पंक्ति मे भी कहा गया है।

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।।

मानस १/२३२/७

सभी गोपियाँ गद्गद् हो गईं भगवान् श्रीकृष्ण को देखकर। संपूर्ण गोपियों को आनन्द आया। **''जहुर्विरहजं तापं''** वियोगजन्य ताप को उन्होंने समाप्त कर लिया और भगवान् श्रीकृष्ण को निहारकर उनके हृदय का रोग जाता रहा। मानो मनोरथ की सीमा को प्राप्त कर लिया श्रुतियों ने।

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुंकुमांकितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे।।

भागवत १०/३२/१३

गोपियों ने अपने वक्षोरूह पर लगे हुए आँसुओं से गीले, कुम्कुम् से अंकित अपने उत्तरीयों से, ओढ़नियों से अपने आत्मबन्धु भगवान् श्रीकृष्ण के लिए आसन बिछाए। गोपियों के दुपट्टों के विशालतम आसन पर भगवान् विराजमान हो रहे हैं। **''तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः''** यहाँ भी कहते हैं कि योगेश्वरों के हृदय मे जिनका

आसन होता है वह परमात्मा आज गोपियों के दुपट्टों पर बैठ रहे हैं। लगता यह है कि ये उत्तरीयों के आसन की व्यवस्था सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार ऋषियों ने की जो अभी–अभी गोपी बने हैं, क्योंकि श्रीरामावतार मे भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने भी सनकादियों के बैठने के लिए अपना पीताम्बर दिया था।

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह।।

मानस ७/३२

उसी की वे भी पुनरावृत्ति करते हैं। श्रीरामावतार में जब प्रभु ने हमे पीताम्बर आसन बैठने के लिए दिया था तो आज हम भी उत्तरीयासन प्रभु को बैठने के लिए देंगे। अन्तर यह होगा कि वह पीताम्बर था और यह अरुणाम्बर है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी अब विराज रहे हैं। गोपियाँ अब प्रश्न करती हैं कि, तीन प्रकार के लोग होते हैं। यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो भजन करनेवालों को भजते हैं, कुछ लोग ऐसे हैं जो न भजन करनेवालों को भजते हैं और कुछ लोग ऐसे हैं जो किसी को भजते ही नहीं चाहे भजन करें चाहे न करें, वे किसी को नहीं भजते। इनमे से कौन श्रेष्ठ है? भगवान् समझ जाते हैं और कहते हैं देखिए, जो भजन करनेवालों को भजते हैं वे तो स्वार्थी होते हैं। वहाँ कोई धर्म नहीं होता, वहाँ कोई सौहृद भी नहीं होता। वहाँ तो स्वार्थ ही स्वार्थ होता है। और जो बिना भजनेवालों को भजते हैं अर्थात् बिना किसी अपेक्षा की सेवा करते हैं, वे तो करोड़ों मित्र, पिता और गुरु के समान होते हैं। वहाँ अद्भुत सौहृद होता है और निन्दारहित धर्म भी होता है। किन्तु जो भजनेवालों को और न भजनेवालों को किसी को नहीं भजते, वे चार प्रकार के लोग होते हैं। या तो आत्माराम होते हैं, या पूर्णकाम होते हैं, या अकृतज्ञ होते हैं, कृतघ्न होते हैं, या तो अत्यन्त भयंकर गुरुजनों का द्रोह करनेवाले होते हैं। गोपियों को अन्तर्जिज्ञासा हुई, उनमे से आप कौन हैं? भगवान् ने कहा कि प्रायः मैं भजन करनेवालों को नहीं भजता जिससे उनकी अनुवृत्ति बनी रहे। यदि मैं उनको भजूँगा तो उनकी अनुवृत्ति टूट जाएगी, उनका भजन छूट जाएगा। ''**यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद**'' तो भक्तों की तन्मयता की रक्षा करने के लिए उनको मैं तरसाता हूँ। परन्तु सखियों! आपका मैं परोक्षरूप से भजन करता रहता हूँ।

एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः।।''

भागवत १०/३२/२१

परोक्षरूप से भजन करके मैं तिरोहित हुआ, आप चिन्ता न करें। आप मेरी निन्दा न करें। वस्तुतस्तु यदि मैं देवताओं के आयु भी प्राप्त कर लूँ तो भी आपका प्रत्युपकार नहीं कर सकूँगा, क्योंकि आपका समागम निरवद्य है, निर्दोष है। आपने दुर्जर गृहश्रृंखलाओं को तोड़कर मेरा भजन किया है। वो तो आप चाहें तो आपके साधुकृत्य से ही मैं ऋण से मुक्त हो सकूँगा। वस्तुतः मैं आपका निरन्तर ऋणी ही रहूँगा।

न पारयेऽहं निवरद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहश्रृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।।

भागवत १०/३२/२२

पूर्ण हो गई गोपियों की इच्छा और अब रासोत्सव प्रारम्भ हुआ।

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।।

भागवत १०/३३/३

आज भगवान् आनन्दकन्द प्रभु गोपियों के साथ रासोत्सव प्रारम्भ कर रहे हैं। ये नृत्य है और कुछ नहीं, वो भी आत्माओं का परमात्मा के साथ नृत्य है। भगवान् का भक्तों के साथ नृत्य है। शक्तिमान का शक्तियों के साथ नृत्य है, आराध्य का आराधकों के साथ नृत्य है। अद्भुत नृत्य है, जितनी गोपियाँ हैं उतने कृष्ण हैं। दूसरे दो–दो गोपियों के बीच मे एक–एक कृष्ण हैं, तीसरे दो–दो कृष्ण के बीच में एक–एक गोपियाँ हैं। एक अद्भुत आनन्द है जितनी गोपियाँ उतने कृष्ण। नृत्य हो रहा है, देवता पुष्प वर्षण कर रहे हैं **''ततो दुन्दुभयो नेदुः''** और आकाश से दुन्दुभियाँ बज रही हैं **''खात् पेतु पुष्पवृष्टयः''** और पुष्प वर्षा हो रही है। गन्धर्व पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के निर्मल यश को गा रहे हैं। गोपियाँ उच्च स्वर में गा रही हैं।

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम्।।

भागवत १०/३३/६

ऊँचे स्वर मे गान करती हुई गोपियाँ आज श्रीकृष्णचन्द्र के साथ महारास कर रही हैं। कृष्ण के अभिमर्श अर्थात् स्पर्श से वे मुदित हैं। अब श्रीमद्भागवत् के प्रथम स्कन्ध की वह भूमिका पूर्ण हो रही है।

न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदंग संसृतिम्।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्रयुपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः।।

भागवत १/५/१६

जो भगवान् के संस्पर्श के आनन्द को प्राप्त कर लेता है वह संसार के अन्य लोगों की भाँति संसार को नहीं प्राप्त कर पाता। लगता है कि गोपियों के अंगों का स्पर्श इसीलिए भगवान् ने किया था कि अब इसमे संसार के स्पर्श की कामना न रह जाए **''इच्छापिधानं निजपादपल्लवम्''** भगवान् का श्रीविग्रह समस्त इच्छाओं का 'पिधान' अर्थात् ढ़क्कन है। इसीलिए आज भगवान् व्रजांगनाओं के साथ रम रहे हैं। कितना मधुर दृश्य है। रासलीला का उपसंहार करते हुए श्रीशुकाचार्य कहते हैं–

एवं परिष्वंगकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।।

भागवत १०/३३/१७

इस प्रकार से परिष्वंग अर्थात् आलिंगन, कराभिमर्श, हाथों का स्पर्श, स्निग्ध स्नेह भरी चितवन, उद्दाम, उन्मुक्त विलास और हासों के द्वारा 'रमेशः' रमा अर्थात् राधाजी के ईश्वर होकर भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र व्रजसुन्दरियों के साथ उसी प्रकार खेल रहे हैं, जैसे छोटा सा बालक अपनी ही प्रतिबिम्बों के विलासों से खेलता रहता है। **''स्याद्विभ्रमः**

विलासेऽपि स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'' गोपियाँ वस्तुतः भगवान् की आत्मभूत राधा जी की प्रतिबिम्ब हैं। **''स्वः श्रीकृष्णस्य आत्मा राधा तस्य राधारव्यस्य आत्मनः प्रतिबिम्बाः गोप्यः तासां बिभ्रमाः विलासाः यस्मै स स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः''** जैसे छोटा सा बालक अपनी परछाइयों के विलासों के साथ रमता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गोपियों के साथ अर्भक की भाँति निर्दोष रम रहे हैं। किसी प्रकार का उनमे विकार नहीं है, किसी प्रकार की काम वासना नहीं है। छोटे से बालक मे कौन सी काम वासना, छोटे से बालक का कौन सा स्खलन? यदि श्रीकृष्णचन्द्र अच्युत हैं तो अच्युत मे कौन सी च्युति, किस आनन्द की उन्हें अपेक्षा? परिणाम वही हुआ जो हम पहले कह रहे थे। गोपियों का सांसारिक स्पर्श समाप्त हो गया। गोपियों की रक्षा हो गई काम, क्रोध, लोभादि खलों से। कामासुर का विनाश हो गया।

तदंगसंगप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नांजः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह।।

भागवत १०/३३/१८

भगवान् के अंग–संग से गोपियों के इन्द्रियों मे इतनी प्रसन्नता आ गई कि वे अपने केशों को, अपनी उत्तरीय को, अपने हृदय के वस्त्र को भी धारण करने मे समर्थ नहीं हो पाईं, अर्थात् उनके संपूर्ण अंग परमानन्दमय हो गए श्यामरस से परिपूर्ण हो गए। उनकी माला, उनके आभरण विश्रस्त हो गए। इस प्रकार जल, स्थल और वन सर्वत्र रासलीला संपन्न हो रही है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीयमुना मे स्नान कर रहे हैं, गोपियों के साथ खेल रहे हैं। सर्वत्र खेल रहे हैं। क्योंकि जहाँ–जहाँ जीवात्मा है वहाँ–वहाँ परमात्मा हैं। और जीवात्माओं का वह रास अर्थात् रस का अनुभव **''रसस्य अयं आ रासः''** 'रास' का अर्थ है रस का अनुभव, वह परमात्मा के साथ हो रहा है, परमात्मा उन्हें रसदान कर रहे हैं। **''रसो वै सः''** स्वयं उन्हें ब्रह्मानन्द परमानन्द दे रहें हैं और जीवात्मभूत गोपियों का भजनानन्द स्वयं प्रभु ले रहे हैं। महर्षि वेदव्यास जी इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहते हैं–

एवं शशांकांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरूद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः।।

भागवत १०/३३/२६

इस प्रकार से 'सत्यकामः' जिनकी कामनायें सन्तों के हित के लिए है 'अनुरता बलागणः' और अबलाओं का गण जिनमे अनुरक्त है, ऐसे परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र **''आत्मन्यवरूद्धसौरतः''** सौरत अर्थात् भोग–व्यापार को अपने मे ही रोककर, भोग–व्यापार को, वासनाओं को और 'सौरत' चर्म–धातु को स्वयं मे रोककर, अच्युत रहते हुए, अखण्ड ब्रह्मचारी रहते हुए, उन गोपियों के साथ संपूर्ण शरद्कालीन काव्य, संपूर्ण वर्षपर्यन्त काव्यकथाओं के रस का आश्रय करनेवाली श्रृंगारात्मिका निशाओं का सेवन कर रहे हैं। उन्मुक्त रूप से, निर्दोषरूप से, निर्भय होकर, काम के विजेता के रूप मे वासना से रहित होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इस रासलीला को संपन्न करते हैं। तुरन्त परीक्षित जी ने प्रश्न कर दिया कि प्रभो! यह कौन सी लीला है? **''आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।''** ये जुगुप्सित कैसे हुआ? क्यों **''प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्।''** परदाराओं का अभिमर्शन हुआ? ये दूसरों की नारियों का अभिमर्शन हुआ भगवान् ने स्पर्श किया। शुकाचार्य जी ने कहा, नहीं पहली बात तो तेजस्वियों मे धर्म का व्यतिक्रम देखा जाता है और उनका साहस भी देखा जाता है, पर वह दोष के लिए नहीं होता, क्योंकि वे इतने पुण्य किए रहते हैं कि वो क्षणिक धर्म का

व्यतिक्रम उनके लिए कोई पापावह नहीं होता। दूसरी बात जिसका मन अहंकारशून्य होता है जो अहंभाव से रहित हो जाते हैं उनमे कुशल–अकुशल का अन्वय नहीं होता। उनमे पुण्य का भी समावेश नहीं होता, पाप का भी समावेश नहीं होता। क्योंकि उनका जगत् से कोई संबन्ध नहीं रहता, शुभाशुभ से कोई संबन्ध नहीं रहता। तो यदि यह नियम सामान्य जीवों के साथ, सामान्य महात्माओं के साथ लगता है तो यहाँ तो संपूर्ण जीवों के भी नियन्ता परमात्मा हैं, उनमे कुशलाकुशल का अन्वय कैसे होगा?

किमुताखिलसत्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः।।

भागवत १०/३३/३४

अरे! आश्चर्य है, जिन प्रभु के चरणारविन्द के पराग की सेवा मात्र से संपूर्ण कर्मबन्धनों से रहित होकर मुनिजन स्वच्छन्द विचरण करते हैं, उनको कर्म के बन्धन नहीं बाँधते। उन्हीं स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाले परमात्मा को ये बन्धन कैसा? यह तो केवल इस प्रश्न की निःशारता के संबन्ध मे कहा। वस्तुतस्तु यदि वैसे भी देखा जाए तो गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की ही पत्नियाँ हैं, वे परदारायें नहीं हैं। हम कह चुके हैं कि गोपालों के लिए तो भगवान् ने मायामय स्त्रियों की रचना कर दी है।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्।।

भागवत १०/३३/३६

और यह भी कहा जा चुका है कि यहाँ कोई परदारा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक गोपाल को भगवान् ने मायामय पत्नी की व्यवस्था कर दी है, इसी बात को अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।।

भागवत १०/३३/३८

प्रत्येक व्रजवासी को अपनी–अपनी पत्नी उसके निकट दिख रही है। अर्थात् छाया के रूप मे उनके पास पत्नियाँ हैं और भगवान् श्रीकृष्ण की जो मूल पत्नियाँ हैं, वह उनके साथ है। इसलिए वो तो परकियाभिमान केवल रसवृद्धि के लिए है। इसलिए कहा भी उज्जवल नीलमणिकार ने कि **''नेष्टा यदंगिनिरसे कविभिपरोढ़ा तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।''** कवियों के द्वारा अंगिरस मे (श्रृंगार रस) में जो परोढ़ा इष्ट नहीं है, परकिया को वहाँ नहीं माना गया। वह गोपियों के लिए नहीं गोपियों को छोड़कर है। गोपियाँ वस्तुतः परकिया नहीं हैं। सबकी सब वे 'कृष्णवध्वः' भगवान् श्रीकृष्ण की वधूयें हैं। **''स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो।''** (भागवत १०/३३/८) वे सब श्रीकृष्ण की वधूयें हैं। भगावन् श्रीकृष्ण की पाणिगृहीता हैं। वे सबके प्राणपति हैं, इसलिए यहाँ किसी प्रकार की शंका नहीं, निर्दोष रासलीला है। अपनी पत्नी के साथ कोई कुछ भी करे किसी को क्या लेना देना? ये सब भगवान् श्रीकृष्ण की पत्नियाँ हैं। वस्तुतस्तु यह दाम्पत्यलीला भी केवल लोगों को दिखाने के लिए है। वस्तुतः यहाँ कोई सुरत व्यापार है ही नहीं? नहीं, कोई काम–क्रीड़ा है ही नहीं? यह काम विजयलीला है। इसी माध्यम से भगवान् ने काम को जीता, जिसको कोई नहीं जीत पाया था। और इसका प्रायश्चित करने के लिए काम

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का पुत्र बनकर आएगा और जीवनपर्यन्त उसे प्रद्युम्न बनकर भगवान् की सेवा करनी है। अतएव,

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः।।

भागवत १०/३३/३६

इस प्रकार एक सहस्र युग तक अर्थात् ब्रह्मा की एक रात्रि जो "**रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्र विदो जनाः।**" (गीता ८/१७)। चारों युग एक सहस्र बार जब तक बिते तब तक यह महारास चला और उसके समाप्त हो जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण का अनुमोदन पाकर इच्छा न होते हुए भी श्रीव्रजांगनयें पधार गईं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि श्री वेदव्यास जी ने उपक्रम–अभ्यास और उपसंहार में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि श्रीव्रजांगनायें भगवान् श्रीकृष्ण की ही प्राणप्रिया हैं। यथा उपक्रम – "**किमुताधोक्षजाप्रियाः**" (भागवत १०/२६/१३) "**तत् प्रियं प्रियाः**" (भागवत १०/३२/२१) "**स्वगृहान् भगवत् प्रियाः**" (भागवत १०/३३/३६) यही रासलीला वर्णन भागवत का सार सर्वस्व है। दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में "**तत् प्रिर्याथं संभवन्तु सुरस्त्रियः**" कहकर श्रीशुकाचार्य जी उपक्रम करते हैं। और दशम स्कन्ध की लीला का विश्राम करते हुए रासलीला से ही उपसंहार करते हैं। द्रष्टव्य है इस ललितलीला का यह राससुधासारसर्वस्व विश्राम श्लोक–

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुबरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्।।

भागवत १०/६०/४८

भगवान् शुकाचार्य जी मानो इस विश्राम श्लोक के माध्यम से मालिनी वृत्त प्रस्तुत करके श्रीरासलीला और उनकी महानायिका श्री रासविहारिणी जू श्रीराधारानी एवं महानायक श्रीरासविहारी जू व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीरासलीला की मुख्य लीला परिकर श्रीव्रजांगनाओं को माल्यार्पण कर रहे हैं। अहो! मानो संपूर्ण कथा के विश्राम मंगलाचरण के रूप में रासलीला का स्मरण शुकाचार्य जी को इष्ट है। बोल पड़े भगवान् वादरायणि सबके अन्तर्यामी रूप, सर्व हृदयवासी, देवकी में जन्म जिनके लिए वादमात्र है, श्रेष्ठ यादव जिनके सभासद हैं, ऐसे अपनी भुजाओं से अधर्म का निरसन करते हुए, मन्द मुस्कान से युक्त अपने श्रीमुखारविन्द से व्रजसीमन्तिनीयों श्रीराधा आदि के तथा मथुरा और द्वारका के सीमन्तिनियों कुब्जा, रूक्मिणी आदि के कामात्मक प्रेम के पर्याय, भजनरस को सवंर्धित करते हुए, रसिकेन्द्र शिखामणि श्रीरासविहारी सरकार श्रीराधावर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो, जय हो, जय हो। किं बहुना अपनी लीला के संवरण काल में भी श्रीउद्धव गीता का उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अन्ततोगत्वा श्रीरासलीला स्मरण कर ही बैठे, "**तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावन गोचरेण।।**" (भागवत ११/१२/११) ऐसे व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के भी अन्तरंग स्मरणसारसर्वस्व श्रीरासपंचाध्यायीलीला को मुझ अकिंचन दासानुदास जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य का कोटि–कोटि प्रणाम।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।

भागवत १०/३३/४०

इस प्रकार से इस महारास रासपंचाध्यायी का उपसंहार करते हुए भगवान् शुकाचार्य इसकी फलश्रुति बहुत रोचक दृष्टि से कह रहे हैं कि जो भी व्यक्ति, जो भी प्राणी, जो भी बहन–भाई **''व्रजवधूभिः विष्णोः इदं विक्रीडितं''** व्रजवधूओं के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के **''इदं ई कामं द्यतीति इदं''** काम के नाशक **''विक्रीडितं विमलं क्रीडितं''** निर्मल क्रीडित को निर्मल विहार को जो आस्तिक बुद्धि से सुनेगा और जो आस्तिक बुद्धि से उसका वर्णन करेगा वे दोनों ही भगवान् आनन्दकन्द, व्रजेन्द्रनन्दन, यशोदानन्दवर्धन, वृन्दावनवीथीविहरणपरायण, गोवर्धनधर, कालीमदहरण, नटवरनन्दनागर, सकलगुणगणसागर, सच्चिदानन्दघन, श्रीराधाप्राणधन, गोपीजनजीवन, गोपीजनवल्लभ, सकल सुरमुनिदुर्लभ, रसिकशेखर, शिखिपीच्छमौलि, श्रीकृष्णचन्द्र जी की चरणों में मंगलमय भक्ति प्राप्त करके वह धीर बुद्धि व्यक्ति शीघ्र ही हृदय के रोगरूप इस काम को समाप्त कर लेगा, जीवन धन्य हो जाएगा। उसे भगवान् की भक्ति मिलेगी, वह भगवान् का हो जाएगा। इस प्रकार से भगवान् श्रीसीताराम जी की कृपा और श्रीराधाकृष्ण के अनुकम्पा से मुझ जैसे एक सामान्य जीव के द्वारा श्रीरासपंचाध्यायी पर संक्षिप्त सिंहावलोकन प्रस्तुत किया गया। और यह अब मैं भगवान् श्रीकृष्ण के ही चरणों में समर्पित कर दे रहा हूँ।

कन्दर्प दमयन् सखीश्च रमयन् सौन्दर्यमुद्वर्धयन्
क्रीडन् शारदशर्वरीशकिरणप्रोद्दामहासो हरिः।
चुम्बन् श्रीवृषभानुजाम्बुजमुखं राधाकुचाग्रे मुहुः
पाटीरं रचयन् पटुर्विजयते कृष्णो हि रासेश्वरः।।

टीका विलोक्य विविधा विवुधैः विवृत्ता –
स्तद्वर्णनार्थनिकरैरपि नातितुष्यन्।
तुष्ट्यै हरेर्गिरिधरो वुधो रामभद्रा –
चार्यश्च रासचरिते विवृतं वितेने।।

राधे गोविन्द गोविन्द राधे, राधे गोविन्द गोविन्द राधे,
राधे गोविन्द गोविन्द राधे, राधे गोविन्द गोविन्द राधे।

सियावर रामचन्द्र भगवान् की जय, राधावर कृष्ण भगवान् की जय, भागवत भगवान् की जय, जगद्गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य भगवान् की जय, गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज की जय, जय जय श्रीसीताराम, जय जय श्रीराधे।।

सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।
सीताराम जय सीताराम, सीताराम जय सीताराम।।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।
राधेश्याम जय राधेश्याम, राधेश्याम जय राधेश्याम।।

।। सप्तम पुष्प संपन्न।।

इति मंगलमाशास्ते
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीरामभद्राचार्य
जीवनपर्यन्त कुलाधिपति,
जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय
चित्रकूट, उ0प्र0।